वाङ्मय-विमर्श

लेखक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्राध्यापक, हिंदी-विभाग

काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय

प्रकाशक

हिंदी-साहित्य-कुटीर

द्वितीय संस्करण
श्रावण, २००५

मूल्य, सजिल्द ५

मुद्रक
सदाशिवराव चितले,
आदर्श प्रेस,
घासीटोला, बनारस

स्वर्गीय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल

को

समर्पित

'तेरा तुझको सौंपते क्या लागै है मोर'

उपक्रम

हिंदी-वाङ्मय के समस्त स्कंधों की गति-विधि का, शाखा-प्रशाखाओं के संकोच-विस्तार की निदर्शना के साथ, विमर्श करके सुबोध रीति से प्रत्येक विषय को इस प्रकार सामने लाने का उद्देश्य है जिज्ञासुओं को साध्य, साधन और साधक सभी का थोड़ा बहुत स्वरूप-बोध कराना। शास्त्र के आलोड़न, काव्य के अनुशीलन, इतिहास के अवलोकन, भाषा के विवेचन और लिपि के संवर्धन में लगनेवालों को हिंदी के परंपरागत स्वरूप का आभास मिल सके और भारतीय एवं अभारतीय प्रवृत्तियों की रूपरेखा उनके समक्ष खिंच सके, यही मेरा प्रयत्न रहा है। ऐसा करते हुए यथास्थान कुछ कड़ी टीका करने का दुस्साहस शुद्ध कर्तव्यबुद्धि की प्रेरणा से ही किया गया है। जैसे 'पुराने' को सर्वथा 'साधु' वैसे ही 'नवीन' को भी सर्वथा 'अनवद्य' कहने सुनने को कदाचित् कोई सच्चा सहृदय प्रस्तुत न होगा। इसी से सत्य का अपलाप कहीं भी जान-बूझकर नहीं होने दिया गया है, अनजाने की राम जाने। इसमें 'अकांड-प्रथन' से यथाशक्य बचने का ही मेरा प्रयास रहा है। फिर भी जैसी योजना को लक्ष्य करके इसका आरंभ किया गया था, देश-काल के कारण वैसा संभार हो नहीं सका। इसके लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि फिर सुकाल आ सकता है।

पुस्तक प्रस्तुत करने में जिन जिन ग्रंथकारों और ग्रंथों से प्रत्यक्ष या परोक्ष एवं अधिक या अल्प तथा जिन जिन सज्जनों से मानसिक या शारीरिक किसी भी प्रकार की सहायता मिली है उनके प्रति सच्चे मन से नम्रतापूर्वक कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूँ।

"इस कार्य में मुझसे जो भूलें हुई हैं उनके सुधार की, जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनकी पूर्ति की और जो अपराध बन पड़े हैं उनकी क्षमा की पूरी आशा करके ही मैं अपने श्रम से कुछ संतोषलाभ कर सकता हूँ।"

ब्रह्मनाल, काशी
प्रबोधिनी, १९९९ } विश्वनाथप्रसाद मिश्र

तालिका

के नियमानुसार वाक्योँ का विन्यास किया जाता है। संस्कृत मेँ तो दोनोँ प्रकार की शैलियोँ मेँ होनेवाली रचनाओँ मेँ शैली के अतिरिक्त और कोई विशेष भेद नहीँ है। किंतु हिंदी मेँ दोनोँ शैलियोँ मेँ वर्ण्य विषय का भी भेद हो गया है। अब कविता पद्य मेँ लिखी जाती है और उपन्यास, कहानी, निबंध आदि गद्य मेँ। नाटकोँ मेँ गद्य और पद्य दोनोँ शैलियाँ चलती हैँ। हिँदी मेँ जैसे गद्य का विकास हुआ वह शुद्ध साहित्य के अतिरिक्त अन्य वाङ्मयोँ की आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य को लिए हुए है। प्राचीन काल मेँ तो गद्य की रचना पद्य की रचना से भी कठिन समझी जाती थी। रचनाकार की परख के लिए गद्य कसौटी था।[1] मिश्र गद्य और पद्य दोनोँ शैलियोँ का मिला रूप है। इसका पुराना नाम चंपू है।[2] संस्कृत मेँ कई चंपू-काव्य लिखे गए, किंतु हिंदी मेँ संस्कृत की अनुकृति के विचार से आधुनिक काल के मध्य मेँ स्वर्गीय बाबू जयशंकरप्रसाद ने ही चंपू-काव्य लिखा।[3] पर अब इसका चलन उठ गया। चंपू मेँ अलंकार का चमत्कार, समास का गुंफन तथा कल्पना का विशेष प्रकार का उद्रेक रखा जाता था। अब यह बात नहीँ रही। ऐसी रचनाएँ अब पुरानी मानी जाती हैँ। फल यह हुआ कि गद्यशैली का चमत्कार, विशेष रूप से अलंकार का चमत्कार, दिखाने के लिए अब 'प्रबंध' कम उपयुक्त समझे जाते हैँ। नाटक मेँ गद्य और पद्य दोनोँ शैलियोँ का व्यवहार होता है। इसलिए उसकी गणना मिश्र काव्य के अंतर्गत हो सकती है।, पर चंपू और नाटक मेँ भेद है। नाटक मेँ दोनोँ प्रकार की शैलियोँ का उपयोग तो होता है, पर काव्य-तत्त्व की वैसी योजना जैसी चंपू मेँ होती है, एकाध ही नाटक मेँ और वह भी कहीँ-कहीँ मिलती है। नाटक मेँ संवाद-शैली का अलग महत्त्व है। इन सभी शैलियोँ को मिलाकर बाबू

---

१ गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।

२ गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।

३ इनका 'उर्वशी' चंपू सं० १९६६ मेँ प्रकाशित हुआ था।

मैथिलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' नामक प्रबंध प्रस्तुत किया है, जिसे काव्य-तत्त्व की योजना के विचार से और दोनों प्रकार की गद्य-पद्य की शैलियों के विधान की दृष्टि से 'चंपू' कह सकते हैं। नाटकों से तो पश्चिमी साहित्य की देखादेखी अब पद्य बहुत कुछ हट चुका है। केवल कुछ गीत ऊपर से चिपकाए हुए अवश्य मिलते हैं। जब तक गीत मूलकथा से संबद्ध न हो तब तक केवल उसके जोड़ देने से नाटक मिश्र शैली की रचना नहीं कहा जा सकता। हिंदी के पुराने कवियों ने यदि संस्कृत के नाटक केवल पद्य में ही लिख डाले थे, पद्य-युग की प्रवृत्ति उनमें पूरी-पूरी झलकाई थी, तो आधुनिक काल के इस गद्य-युग में हिंदी के नाटक वस्तुतः केवल गद्यशैली में ही लिखे जाते हैं।

अर्थ की दृष्टि से भी काव्य के तीन प्रकार हो सकते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम या सामान्य। इसे समझने के लिए थोड़ा सा अर्थ के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। प्रत्येक रचना का कोशव्याकरणादि-संमत जो अर्थ निकला करता है उसे 'मुख्यार्थ' कहते हैं। कभी-कभी मुख्यार्थ के अतिरिक्त उन्हीं शब्दों से दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है इसे 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं। कहीं मुख्यार्थ में ही विशेषता दिखाई देती है, कहीं दोनों की विशेषता समान होती है। और कहीं मुख्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक विशेषता होती है। व्यंग्यार्थ के इसी तारतम्य के अनुसार काव्य के उपर्युक्त भेद किए गए हैं। जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारी होती है उस रचना को उत्तम या ध्वनि-काव्य कहते हैं।[1] जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ के तुल्य या उससे दबता हुआ होता है उसे मध्यम या [illegible] कहते हैं। जहाँ केवल मुख्यार्थ में ही विशेषता होती है उसे अधम, अवर, सामान्य या अलंकार-काव्य कहते हैं।

बंध के विचार से दो प्रकार की रचनाएँ देखी जाती हैं—एक प्रबंध

---

१ इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिरिति बुधैः कथितः।

—काव्यप्रकाश।

के नियमानुसार वाक्यों का विन्यास किया जाता है। संस्कृत में तो दोनों प्रकार की शैलियों में होनेवाली रचनाओं में शैली के अतिरिक्त और कोई विशेष भेद नहीं है। किंतु हिंदी में दोनों शैलियों में वर्ण्य विषय का भी भेद हो गया है। अब कविता पद्य में लिखी जाती है और उपन्यास, कहानी, निबंध आदि गद्य में। नाटकों में गद्य और पद्य दोनों शैलियाँ चलती हैं। हिंदी में जैसे गद्य का विकास हुआ वह शुद्ध साहित्य के अतिरिक्त अन्य वाङ्मयों की आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य को लिए हुए है। प्राचीन काल में तो गद्य की रचना पद्य की रचना से भी कठिन समझी जाती थी। रचनाकार की परख के लिए गद्य कसौटी था।[1] मिश्र गद्य और पद्य दोनों शैलियों का मिला रूप है। इसका पुराना नाम चंपू है।[2] संस्कृत में कई चंपू-काव्य लिखे गए, किंतु हिंदी में संस्कृत की अनुकृति के विचार से आधुनिक काल के मध्य में स्वर्गीय बाबू जयशंकरप्रसाद ने ही चंपू-काव्य लिखा।[3] पर अब इसका चलन उठ गया। चंपू में अलंकार का चमत्कार, समास का गुंफन तथा कल्पना का विशेष प्रकार का उद्रेक रखा जाता था। अब यह बात नहीं रही। ऐसी रचनाएँ अब पुरानी मानी जाती हैं। फल यह हुआ कि गद्यशैली का चमत्कार, विशेष रूप से अलंकार का चमत्कार, दिखाने के लिए अब 'प्रबंध' कम उपयुक्त समझे जाते हैं। नाटक में गद्य और पद्य दोनों शैलियों का व्यवहार होता है। इसलिए उसकी गणना मिश्र काव्य के अंतर्गत हो सकती है। पर चंपू और नाटक में भेद है। नाटक में दोनों प्रकार की शैलियों का उपयोग तो होता है, पर काव्य-तत्त्व की वैसी योजना जैसी चंपू में होती है, एकाध ही नाटक में और वह भी कहीं-कहीं मिलती है। नाटक में संवाद-शैली का अलग महत्त्व है। इन सभी शैलियों को मिलाकर बाबू

---

१ गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।

२ गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।

३ इनका 'उर्वशी' चंपू सं० १९६६ में प्रकाशित हुआ था।

मैथिलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' नामक प्रबंध प्रस्तुत किया है, जिसे काव्य-तत्त्व की योजना के विचार से और दोनों प्रकार की गद्य-पद्य की शैलियों के विधान की दृष्टि से 'चंपू' कह सकते हैं। नाटकों से तो पश्चिमी साहित्य की देखादेखी अब पद्य बहुत कुछ हट चुका है। केवल कुछ गीत ऊपर से चिपकाए हुए अवश्य मिलते हैं। जब तक गीत मूलकथा से संबद्ध न हो तब तक केवल उसके जोड़ देने से नाटक मिश्र शैली की रचना नहीं कहा जा सकता। हिंदी के पुराने कवियों ने यदि संस्कृत के नाटक केवल पद्य में ही लिख डाले थे, पद्य-युग की प्रवृत्ति उनमें पूरी-पूरी झलकाई थी, तो आधुनिक काल के इस गद्य-युग में हिंदी के नाटक वस्तुतः केवल गद्यशैली में ही लिखे जाते हैं।

अर्थ की दृष्टि से भी काव्य के तीन प्रकार हो सकते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम या सामान्य। इसे समझने के लिए थोड़ा सा अर्थ के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। प्रत्येक रचना का कोशव्याकरणादि-संमत जो अर्थ निकला करता है उसे 'मुख्यार्थ' कहते हैं। कभी-कभी मुख्यार्थ के अतिरिक्त उन्हीं शब्दों से दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है इसे 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं। कहीं मुख्यार्थ में ही विशेषता दिखाई देती है, कहीं दोनों की विशेषता समान होती है। और कहीं मुख्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक विशेषता होती है। व्यंग्यार्थ के इसी तारतम्य के अनुसार काव्य के उपर्युक्त भेद किए गए हैं। जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारी होती है उस रचना को उत्तम या ध्वनि-काव्य कहते हैं।[1] जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ के तुल्य या उससे दबता हुआ होता है उसे मध्यम या गुणीभूतव्यंग्य-काव्य कहते हैं। जहाँ केवल मुख्यार्थ में ही विशेषता होती है उसे अधम, अवर, सामान्य या अलंकार-काव्य कहते हैं।

बंध के विचार से दो प्रकार की रचनाएँ देखी जाती हैं—एक प्रबंध

---

१ इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिरिति बुधैः कथितः।

—काव्यप्रकाश।

के नियमानुसार वाक्यों का विन्यास किया जाता है। संस्कृत में तो दोनों प्रकार की शैलियों में होनेवाली रचनाओं में शैली के अतिरिक्त और कोई विशेष भेद नहीं है। किंतु हिंदी में दोनों शैलियों में वर्ण्य विषय का भी भेद हो गया है। अब कविता पद्य में लिखी जाती है और उपन्यास, कहानी, निबंध आदि गद्य में। नाटकों में गद्य और पद्य दोनों शैलियाँ चलती हैं। हिंदी में जैसे गद्य का विकास हुआ वह शुद्ध साहित्य के अतिरिक्त अन्य वाङ्मयों की आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य को लिए हुए है। प्राचीन काल में तो गद्य की रचना पद्य की रचना से भी कठिन समझी जाती थी। रचनाकार की परख के लिए गद्य कसौटी था।[1] मिश्र गद्य और पद्य दोनों शैलियों का मिला रूप है। इसका पुराना नाम चंपू है।[2] संस्कृत में कई चंपू-काव्य लिखे गए, किंतु हिंदी में संस्कृत की अनुकृति के विचार से आधुनिक काल के मध्य में स्वर्गीय बाबू जयशंकरप्रसाद ने ही चंपू-काव्य लिखा।[3] पर अब इसका चलन उठ गया। चंपू में अलंकार का चमत्कार, समास का गुंफन तथा कल्पना का विशेष प्रकार का उद्रेक रखा जाता था। अब यह बात नहीं रही। ऐसी रचनाएँ अब पुरानी मानी जाती हैं। फल यह हुआ कि गद्यशैली का चमत्कार, विशेष रूप से अलंकार का चमत्कार, दिखाने के लिए अब 'प्रबंध' कम उपयुक्त समझे जाते हैं। नाटक में गद्य और पद्य दोनों शैलियों का व्यवहार होता है। इसलिए इसकी गणना मिश्र काव्य के अंतर्गत हो सकती है, पर चंपू और नाटक में भेद है। नाटक में दोनों प्रकार की शैलियों का उपयोग तो होता है, पर काव्य-तत्त्व की वैसी योजना जैसी चंपू में होती है, एकाध ही नाटक में और वह भी कहीं-कहीं मिलती है। नाटक में संवाद-शैली का अलग महत्त्व है। इन सभी शैलियों को मिलाकर बाबू

---

१ गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।

२ गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।

३ इनका 'उर्वशी' चंपू सं० १९६६ में प्रकाशित हुआ था।

मैथिलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' नामक प्रबंध प्रस्तुत किया है, जिसे काव्य-तत्त्व की योजना के विचार से और दोनों प्रकार की गद्य-पद्य की शैलियों के विधान की दृष्टि से 'चंपू' कह सकते हैं। नाटकों से तो पश्चिमी साहित्य की देखादेखी अब पद्य बहुत कुछ हट चुका है। केवल कुछ गीत ऊपर से चिपकाए हुए अवश्य मिलते हैं। जब तक गीत मूलकथा से संबद्ध न हो तब तक केवल उसके जोड़ देने से नाटक मिश्र शैली की रचना नहीं कहा जा सकता। हिंदी के पुराने कवियों ने यदि संस्कृत के नाटक केवल पद्य में ही लिख डाले थे, पद्य-युग की प्रवृत्ति उनमें पूरी-पूरी झलकाई थी, तो आधुनिक काल के इस गद्य-युग में हिंदी के नाटक वस्तुतः केवल गद्यशैली में ही लिखे जाते हैं।

अर्थ की दृष्टि से भी काव्य के तीन प्रकार हो सकते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम या सामान्य। इसे समझने के लिए थोड़ा सा अर्थ के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। प्रत्येक रचना का कोशव्याकरणादि-संमत जो अर्थ निकला करता है उसे 'मुख्यार्थ' कहते हैं। कभी-कभी मुख्यार्थ के अतिरिक्त उन्हीं शब्दों से दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है इसे 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं। कहीं मुख्यार्थ में ही विशेषता दिखाई देती है, कहीं दोनों की विशेषता समान होती है। और कहीं मुख्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक विशेषता होती है। व्यंग्यार्थ के इसी तारतम्य के अनुसार काव्य के उपर्युक्त भेद किए गए हैं। जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारी होती है उस रचना को उत्तम या ध्वनि-काव्य कहते हैं।[1] जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ के तुल्य या उससे दबता हुआ होता है उसे मध्यम या गुणीभूतव्यंग्य-काव्य कहते हैं। जहाँ केवल मुख्यार्थ में ही विशेषता होती है उसे अधम, अवर, सामान्य या अलंकार-काव्य कहते हैं।

बंध के विचार से दो प्रकार की रचनाएँ देखी जाती हैं—एक प्रबंध

---

१ इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिरिति बुधैः कथितः।

और दूसरी निबंध। जिस रचना में कोई कथा क्रमबद्ध कही जाती है वह 'प्रबंधकाव्य' कहलाती है। जिसमें कोई विशेष कथा नहीं होती और जो स्वच्छंद रूप से किसी पद्य या गद्यखंड के द्वारा कोई रस, भाव या तथ्य को व्यक्त करती है उस बंधहीन रचना को 'निबंध' या 'मुक्तक' कहते हैं। प्रबंधकाव्य के तीन प्रकार देखे जाते हैं। एक तो ऐसी रचना होती है जिसमें पूर्ण जीवनवृत्त विस्तार के साथ वर्णित होता है। ऐसी रचना को 'महाकाव्य' कहते हैं। जिस रचना में खंड-जीवन महाकाव्य की ही शैली पर वर्णित होता है ऐसी रचना को खंड-काव्य कहते हैं। हिंदी में कुछ ऐसी रचनाएँ भी देखी जाती हैं जिनमें जीवनवृत्त तो पूर्ण लिया गया है किंतु महाकाव्य की भाँति वस्तु का विस्तार नहीं दिखाई देता। ऐसी रचनाओं में जीवन का कोई एक पक्ष विस्तार के साथ प्रदर्शित करने का प्रयत्न देखा जाता है। 'एकार्थ' की ही अभिव्यक्ति के कारण ऐसी रचनाएँ महाकाव्य और खंडकाव्य के बीच की रचनाएँ होती हैं। इन्हें 'एकार्थकाव्य' या केवल 'काव्य' कहना चाहिए।[1] प्रियप्रवास, साकेत, वैदेही-वनवास, कामायनी आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इस प्रकार काव्य के भेदों का वृत्त यों हुआ—
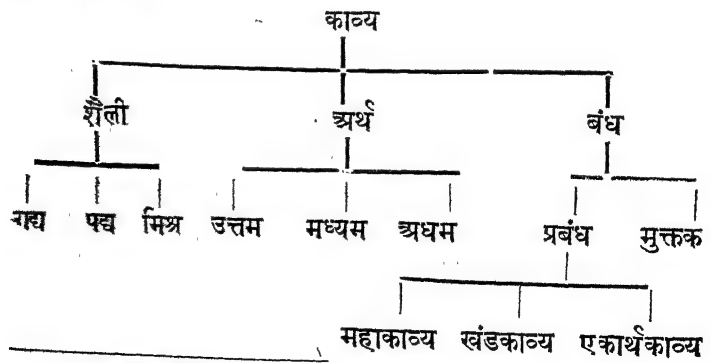
[1] भाषाविभाषानियमात् काव्यं सर्गसमुत्थितम्।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जिम्॥ —साहित्यदर्पण।

काव्य के हेतु

काव्य-निर्माण के कारणों पर भी विचार किया जाता है। कवि लोक का अनुशीलन करते हुए उसकी विभूतियों से प्रभावित होता है और उसमें छिपी हुई शक्ति प्रस्फुटित होती है। इस शक्ति का ठीक-ठीक उपयोग वह उसी अवस्था में कर सकता है जब वह व्यवस्थित रूप में मनोगत रूपों एवं स्थितियों को कहने की भी शक्ति रखता हो। इस प्रकार काव्य-निर्माण के तीन हेतु प्रतीत होते हैं। एक तो कवि की शक्ति, दूसरा उसका लोक-निरीक्षण और तीसरा अभ्यास।[1] काव्य की शक्ति इन सबमें महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसका कारण यही है कि वह ऐसा बीज है जो काव्य-वृक्ष के रूप में फलता-फूलता दिखाई देता है। इसी को ध्यान में रखकर पश्चिमी देशों में कहा जाता है कि कवि का उद्भव होता है, निर्माण नहीं।[2] इस उक्ति में 'उद्भव' का अर्थ कवित्वशक्ति का उद्भव ही है। यहाँ के पुराने ग्रंथों में भी यह बात स्वीकृत की गई है। उनके अनुसार संसार में मनुष्यत्व दुर्लभ है, मनुष्य होने पर विद्या की प्राप्ति दुर्लभ है, विद्या की प्राप्ति होने पर भी कवित्व दुर्लभ है और कवित्व प्राप्त होने पर भी शक्ति दुर्लभ है।[3] यह शक्ति दो प्रकार की होती है—एक सहजा और दूसरी उत्पाद्या। कवि में उसके जन्म के साथ ही ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जिसके कारण वह कविता करने में अभिरुचि रखता है और बहुत छोटी अवस्था से ही कुछ न कुछ कर्तृत्व दिखाने लगता है। जितने बड़े-बड़े कवि हो गए हैं उनके बालकाल के चरित्र बतलाते हैं कि वे बहुत छोटी

---

१ शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ —काव्यप्रकाश।

२ पोयटस आर बार्न नाट मेड।

३ नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्रापि दुर्लभा॥

अवस्था से ही कुछ जोड़-तोड़ करने लगे थे।[1] शैशव काल का यह चमत्कृति सहजा शक्ति ही के कारण होती है। उत्पाद्या वह शक्ति है जो उपार्जित की जाती है। स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने बहुत से व्यक्तियों को संस्कार के द्वारा कवि बना दिया था। वह संस्कार जिसके द्वारा सहजा शक्ति के न होने पर या अल्प मात्रा में होने पर भी कोई व्यक्ति कुछ रसपूर्ण रचनाएँ करने में समर्थ होता है, उत्पाद्या शक्ति ही है। इसी उत्पाद्या शक्ति के अंतर्गत निपुणता और अभ्यास दोनों का समावेश है।

निपुणता तीन प्रकार से आती है—लोक का निरीक्षण, शास्त्रों का अनुशीलन और काव्य-परंपरा का अध्ययन करने से। लोक का निरीक्षण इसलिए आवश्यक होता है कि काव्य-पीठिका लोक ही है। जिस प्रकार बिना दृढ़ नींव के बृहत् प्रासाद का निर्माण नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना लोक-निरीक्षण के काव्य का रूप खड़ा नहीं किया जा सकता। निरीक्षण के संबंध में ध्यान देने की दो बातें हैं—पहली है निरीक्षित वस्तु के स्वरूप को हृदयंगम करने की शक्ति और दूसरी है प्रत्येक परिस्थिति में अपने को डालकर उसकी अनुभूति कर सकने की क्षमता। पहली के अनुसार आलंबन या वर्ण्य विषय के सूक्ष्म से सूक्ष्म ब्यौरों का ज्ञान अपेक्षित है और दूसरी के अनुकूल भावग्राहकता। पहली में बुद्धितत्त्व का योग है और दूसरी में हृदयतत्त्व का। पहली ज्ञान-प्रधान है और दूसरी भाव-प्रधान। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि निरीक्षण के लिए बोधवृत्ति और रागवृत्ति दोनों का योग आवश्यक है। काव्य के लिए भी इन दोनों वृत्तियों का सम्यक् योग आवश्यक है, किसी एक ही से काम नहीं चल सकता।

लोक का निरीक्षण करने पर भी शास्त्र का अनुशीलन आवश्यक हुआ करता है, क्योंकि शास्त्र का अनुशीलन किए बिना व्यक्त करने की

[1] भारतेंदु हरिश्चंद्र ने सात वर्ष की ही अवस्था में एक दोहा बना डाला था, जिस पर गद्गद् होकर उनके भगवद्भक्त पिता जी ने उनके सुकवि होने की भविष्यवाणी की थी।

प्रणालियाँ, प्रवृत्तियाँ या शैलियों का सम्यक् ज्ञान नहीं होता, आँखें नहीं खुलतीं। इसी से जो शास्त्र का अध्ययन किए बिना ही कवि-कर्म करता है वह 'अंध' कहा जाता है। नेत्रों के रहने पर विषय का ग्रहण जैसी सरलता और सूक्ष्मता से हो सकता है, अंधा होने पर नहीं। अतः शास्त्र का अध्ययन सरलता-पूर्वक विषय की सूक्ष्मता और शुद्धता की उपलब्धि के लिए है, पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं। कुछ कवियों के पांडित्य-प्रदर्शन को लक्ष्य कर जो लोग शास्त्र से भड़कने लगे हैं या शास्त्र को गूढ़ कहकर उससे विरत होना चाहते हैं वे बुध नहीं कहे जा सकते। शास्त्र से विमुख होने का दुष्परिणाम यह हुआ है कि समर्थ कवियों में भी कहीं कहीं भद्दी अशुद्धियाँ दिखाई देती हैं।

शास्त्रानुशीलन के ही अंतर्गत काव्य-परंपरा का अध्ययन भी आता है। काव्य-परंपरा का अध्ययन भी अपनी पहचान और निर्माण की सुगमता के लिए है। परंपरा को छोड़कर चलने से रचना बेमेल होने लगती है। आज दिन हिंदी के कई नवीन कवियों की रचना में यही लक्षित हो रहा है। काव्य-रचना करना बढ़ी हुई नदी का पार करना है। परंपरा द्वारा वैसी ही सुगमता होती है जैसी सेतुबंध द्वारा नदी पार करने में। तुलसीदास जी कहते हैं—

अति अपार जे सरितबर, जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु, बिनु स्रम पारहि जाहिं॥

जो पुल से नहीं जाना चाहता वह पार जाने की इच्छा होते हुए भी या तो नदी में उतरने का साहस ही न करेगा और यदि कहीं साहस किया भी तो बहते बहते न जाने कहाँ जा लगेगा। साध्य तक पहुँचना उसके लिए कठिन होगा, लुटिया डूबने की आशंका भी साथ लगी रहेगी। हिंदी की कुछ नवीन रचनाएँ परंपरा से पराङ्मुख होकर इसी से लक्ष्यहीन दिखाई देती हैं।

अब अभ्यास पर आइए। अभ्यास के बिना कविता हो तो सकती है किंतु व्यवस्थित नहीं हो सकती। यही कारण है कि संस्कृत और हिंदी के पुराने कवि गुरुओं के यहाँ अभ्यास किया करते थे। उर्दू के

शायर भी 'उस्तादों' से 'इस्लाह' लिए बिना मजलिस में अपनी शायरी नहीं सुनाते। किंतु हिंदी के कुछ आधुनिक कवि इसे 'गुरुडम' कहकर तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, निगुरा रहना ही अच्छा समझते हैं।

काव्य के जो तीन गुण लिखे गए हैं उनका एक साथ होना आवश्यक है। इन्हें काव्य-रथ के रूपक द्वारा भिखारीदास ने बड़े अच्छे ढंग से निम्नलिखित सवैये में प्रकट किया है—

सक्ति कबित्त बनाइबे की जिहिं जन्म-नछत्र में दीनी बिधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकबीन सों देखी सुनी बहु लोक की बातैं।
'दासजू' जामैं इकत्र ये तीनि बनै कबिता मनरोचक तातैं।
एक बिना न चलै रथ जैसे धुरंधर सूत कि चक्र निपातैं॥

—काव्यनिर्णय।

काव्य का व्यतिरेक

काव्य की स्वकीय विशेषता है मन को रमाना। यही कारण है कि उसका संबंध बुद्धि से न होकर हृदय से है। आरंभ में ही कहा जा चुका है कि वाङ्मय को दो प्रकार से विभाजित कर सकते हैं। एक प्रकार का वाङ्मय वह है जो अध्ययन करने से ज्ञान की वृद्धि करता है और दूसरे प्रकार का वाङ्मय वह है जो अध्ययन करने से ज्ञान की चाहे वृद्धि न करे पर हमारे भावों को अवश्य उद्दीप्त करता है, मन को रमाता है। सुभीते के विचार से पहले को 'ज्ञान का वाङ्मय' और दूसरे को 'भाव का वाङ्मय' कह सकते हैं। ज्ञान का वाङ्मय ज्यों ज्यों ज्ञान की वृद्धि होती जाती है पुराना पड़ता जाता है। एक ऐसी स्थिति भी आ सकती है जब वह केवल नामशेष ही रह जाय। उदाहरण के लिए 'रेलवे-टाइम-टेबुल' उठा लीजिए। इसके देखने से तत्कालीन गाड़ियों के यातायात का समय ज्ञात होता है। यदि कुछ समय के अनंतर गाड़ियों के समय में एकदम परिवर्तन हो जाय तो पहले का 'टाइम-टेबुल' केवल नामशेष रहेगा। ठीक इसी प्रकार की स्थिति

पाकशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, विज्ञान आदि के वाङ्मयों की भी है। यदि पूर्व काल की रचना से उत्तर काल की रचना महत्त्वपूर्ण प्रस्तुत हो जाय तो पूर्व की रचना का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। विज्ञान में जो अन्वेषण न्यूटन ने 'प्रिंसिपिया' में किया वह लालेस की रचना के अनंतर पुराना पड़ गया। वैद्यक में रसौषधों के निकल जाने से काष्ठौषध का प्रयोग दब गया। स्वयं काव्यशास्त्र में ही रस-सिद्धांत का प्रचार हो जाने से अलंकार-सिद्धांत दब गया। किंतु भाव के वाङ्मय में यह बात नहीं है। यदि हिंदी-साहित्य को ही लें तो तुलसी के 'रामचरित-मानस' के अनंतर रामचरित के आधार पर कितने ही ग्रंथों का निर्माण हुआ किंतु पूर्व-पूर्व रचना का उत्तर-उत्तर रचना से किसी प्रकार का महत्त्व कम नहीं हुआ। 'मानस' के अनंतर 'रामचंद्रचंद्रिका' (केशव कृत) बनी, किंतु वह 'मानस' के प्रभाव को कम न कर सकी। 'रामस्वयंबर' (रघुराजसिंह, रीवाँ-नरेश कृत), 'रामचरितचिंतामणि' (रामचरित उपाध्याय कृत), 'साकेत' (मैथिलीशरण गुप्त कृत) आदि ग्रंथ रामचरित को ही लेकर लिखे गए, पर 'मानस' का न प्रचार कम हुआ और न उसका महत्त्व ही क्षीण। कथक्कड़ पं० राधेश्याम के 'संगीत रामायण' से, जिसका जनसमाज में बहुत अधिक प्रचार हुआ, 'मानस' का प्रभाव कम न हो सका, यद्यपि 'मानस' के ही मसाले से उसका ढाँचा खड़ा किया गया है।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि ज्ञान-वाङ्मय से हमारे ज्ञान की चाहे जितनी वृद्धि हो हम उस मुक्तावस्था में नहीं पहुँच सकते जिसमें पहुँचकर व्यक्ति अपनी परिस्थिति भूलकर मन की उस स्वच्छंद अनुभूति में मग्न हो जाता है जिसे आचार्यों ने 'अलौकिक आनंद' कहा है। ठीक इसके विपरीत भाव-वाङ्मय चाहे हमारे ज्ञान की कुछ भी वृद्धि न करे किंतु वह शीघ्र ही हमें उस मुक्तावस्था में पहुँचा देता है जिसे 'लोकोत्तर आनंद' की संज्ञा प्राप्त हुई है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भाव-वाङ्मय से ज्ञान की वृद्धि होती ही नहीं। होती है, पर

उसका लक्ष्य ज्ञान-वृद्धि नहीं। उसका लक्ष्य हमारे मनोवेगों को ही उत्ते-
जित करना है। यही काव्य का अन्य वाङ्मयों से व्यतिरेक है।

काव्य का संबंध

संसार में प्रत्येक व्यक्ति का दूसरों से दो प्रकार का संबंध देखा जाता है—एक को प्रज्ञात्मक संबंध कह सकते हैं और दूसरे को भावात्मक। जब दो व्यक्तियों के बीच तर्क-वितर्क या बुद्धि के पूर्ण योग द्वारा कार्य-व्यापार चलता है तो उसे प्रज्ञात्मक संबंध कह सकते हैं। इसी प्रकार जहाँ बुद्धि की प्रेरणा न होकर हृदय की शुद्ध प्रेरणा रहती है वहाँ भावात्मक संबंध समझना चाहिए। उदाहरण के लिए पिता-पुत्र का दृष्टांत लीजिए। जिस समय कोई पिता अपने पुत्र को पढ़ाते हुए यह सोचता है कि 'इसे पढ़ा-लिखा दूँ तो वृद्धावस्था में अशक्त होने पर यह मुझे कमाकर खिलाएगा' उस समय उसका ऐसा सोचना अपने पुत्र के साथ प्रज्ञात्मक संबंध स्थापित करना है। किंतु यदि उसी पिता का वही पुत्र अपनी दुष्टता के कारण कारागार में बंद हो जाय तो वही पिता उसके भावी जीवन का बिना कोई विचार किए ही सबसे पहले उसे छुड़ाने के प्रयत्न में संलग्न दिखाई देता है। पुत्र के साथ पिता का यह संबंध भावात्मक है क्योंकि यह बुद्धि द्वारा प्रेरित न होकर हृदय द्वारा प्रेरित है। बुद्धि यही कहेगी कि 'उसने जैसा किया उसका वैसा ही फल भोगे।' इसी प्रकार मार्ग में जाते हुए किसी को बेतरह पिटते देखकर सबसे पहले प्रायः किसी के मुख से जो बात निकल पड़ती है वह यही कि 'बेचारे को इस तरह मत पीटो।' परंतु यह जानने पर कि पिटनेवाले व्यक्ति ने सोने के लोभ में किसी छोटे बच्चे के गले पर छुरा फेरकर उसके गहने उतार लिए हैं वही व्यक्ति यह कहता हुआ सुना जाता है कि 'चांडाल को और पीटो।' इन दोनों अवस्थाओं में पहली हृदय द्वारा प्रेरित है और दूसरी बुद्धि द्वारा। ध्यान देने की बात है कि बुद्धि भी अपना काम बहुधा भावों की सहायता से ही निकालती है। जैसे ऊपर के उदाहरण में क्रोध या रोष ही प्रवर्तक है। इससे यह भी स्पष्ट हो

जाता है कि संसार में किसी कार्य में प्रवृत्त करनेवाले या उससे निवृत्त करनेवाले वस्तुतः भाव ही होते हैं।

काव्य दूसरों के साथ हमारा भावात्मक संबंध स्थापित करता है। काव्य-ग्रंथ में जिन पात्रों का चरित्र हम पढ़ते हैं उनके साथ हमारा भावात्मक संबंध ही स्थापित होता है, किंतु लोकनीति, धर्मनीति, राजनीति आदि की रचनाएँ लोक के साथ हमारा जो संबंध स्थापित करती हैं वह प्रज्ञात्मक होता है, यद्यपि अपना काम निकालने के लिए इनको भी हृद्गत भावों को उत्तेजित करना पड़ता है। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिए कि काव्य लोक के साथ हमारा जो भावात्मक संबंध स्थापित करता है उसका उद्देश्य क्या है। काव्यगत पात्रों के साथ अपना भावात्मक संबंध स्थापित करके हमारे मनोवेग परिष्कृत होते हैं और उन परिष्कृत मनोवेगों से हम सुगमतापूर्वक अपना जीवन वहन करने में समर्थ हो सकते हैं और अलक्ष्य रूप से विश्व के संचालित होने में सहायक होते रहते हैं। समाज में साहित्य की सृष्टि विश्वात्मा की वह देन है जिसके कारण विराट् वपु का साम्य भाव बना रहता है। वह विकारग्रस्त नहीं होने पाता और यदि कहीं विकारग्रस्त हुआ तो उसके विकार का क्रमशः परिहार भी हो जाता है। अतः काव्य-सृष्टि विधाता की सृष्टि से अद्भुत कही गई है। इसीसे कहा जाता है कि नियति के नियमों का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं।[१]

काव्य के कर्ता

प्रबंध और मुक्तक के भेद से काव्य के कर्ता भी दो प्रकार के होते हैं—एक प्रबंधकार और दूसरा मुक्तककार। प्रबंधकार का महत्त्व मुक्तककार की अपेक्षा विशेष होता है। किंतु कुछ ऐसे मुक्तककार भी देखे जाते हैं जो अपनी एक ही रचना द्वारा रस की अच्छी अनुभूति उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने में वे समर्थ होते हैं

१ नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ —काव्यप्रकाश ॥

जीवन का मार्मिक खंडदृश्य काव्यबद्ध करके। जिस कवि मेँ मार्मिक खंडदृश्योँ की कल्पना करने की पूर्ण शक्ति होती है वह प्रबंध की तरह रस की धारा चाहे न बहा सके किंतु सरोवर की गंभीरता का आनंद अवश्य दे सकता है। संस्कृत मेँ ऐसी ही विशेषता के कारण किसी समीक्षक ने 'अमरुक' के संबंध मेँ कहा है कि उसका एक-एक श्लोक सौ-सौ प्रबंधकाव्योँ का सा रस उत्पन्न कर सकता है।[1] हिंदी मेँ इस प्रकार के कवि हुए हैँ बिहारी। बिहारी ने प्रसंगोँ की कल्पना अद्भुत की है। उनके दोहोँ के सामने औरोँ के दोहे जो नहीँ जंचते उसका मुख्य कारण प्रसंग-कल्पना का वैचित्र्य ही है। हृदय पर उनकी रचना का जो गहरा प्रभाव पड़ता है वह इसी वैचित्र्यपूर्ण कल्पना के कारण। अतः उनकी रचना के संबंध मेँ यह दोहा उचित ही जान पड़ता है—

सतसैया के दोहरे, ज्योँ नावक के तीर।
देखत को छोटे लगैँ, घाव करैँ गंभीर॥

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तककारोँ मेँ कुछ रचनाकार ऐसे हैँ जिनकी दृष्टि रस पर रहती है। ऐसे कवियोँ को 'रसकार' कवि कहा जा सकता है।

इन कवियोँ के अतिरिक्त कुछ कवि ऐसे भी देखे जाते हैँ जिनकी दृष्टि रस पर न रहकर चमत्कार पर रहती है। उक्तिवैचित्र्य को ही वे काव्य समझते हैँ। कोई सुंदर उक्ति ही कहना उनका उद्देश्य होता है, वे सूक्तिकार हैँ। तीसरे प्रकार के कवि ऐसे देखे जाते हैँ जो उक्ति-वैचित्र्य भी न दिखलाकर लोकनीति को केवल पद्यबद्ध कर देते हैँ। अतः उन्हेँ नीतिकार या सामान्य रूप मेँ पद्यकार कहना चाहिए। इन तीनोँ प्रकार के मुक्तककारोँ का भेद समझने के लिए कुछ उदाहरण देने की आवश्यकता है। बिहारी का एक दोहा लीजिए—

उन हरकी हँसिकै, इतै इन सौँपी मुसुकाइ।
नैन मिलैँ मन मिलि गए, दोऊ मिलवत गाइ॥

---

१ अमरुककवेरेकैकः श्लोकः प्रबन्धशतायते।

इस दोहे में नायक और नायिका के प्रेम का वर्णन है और शृंगार रस के जितने अवयवों की आवश्यकता है वे सब इसमें नियोजित हैं। अतः यह रसपूर्ण रचना हुई। किंतु स्वयं बिहारी ही ने कुछ ऐसे दोहे भी लिखे हैं जिनमें उक्ति का वैचित्र्य मात्र है; जैसे—

कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाइ।
वा खाएं बौराइ, या पाएँई बौराइ॥

इस दोहे में स्वर्ण की मादकता युक्ति द्वारा प्रतिपादित की गई है। हिंदी में इस प्रकार के सबसे प्रसिद्ध सूक्तिकार वृंद हुए हैं। नीतिकार या पद्यकारों की श्रेणी में बैताल, गिरिधर कविराय आदि आते हैं क्योंकि इनकी रचनाओं में युक्ति का विधान या अलंकार की योजना भी बहुत कम दिखाई देती है; जैसे—

लाठी में गुन बहुत हैं सदा राखिए संग।
गहिरो नद नारी जहाँ तहाँ बचावै अंग॥
तहाँ बचावै अंग झपटि कुत्ता कहँ मारै।
दुस्मन दावागीर तिनहुँ को मस्तक झारै।
'कह गिरिधर कबिराय' सुनो हो बेद के पाठी।
सब हथियारन छाँड़ि हाथ महँ लीजै लाठी॥

शास्त्र और काव्य के भेद से शास्त्रकार और काव्यकार के रूप में दो प्रकार के रचनाकार प्रत्येक साहित्य में हो सकते हैं, किंतु हिंदी-साहित्य में शास्त्रकार का पृथक् स्वरूप बहुत कम दिखाई देता है। अधिकतर आचार्य के नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति काव्यकार ही रहे हैं। उन्हों ने संस्कृत के रीति-ग्रंथों का सहारा लेकर अपना काव्य-कौशल ही दिखलाया है, आचार्यत्व नहीं। इसलिए रीतिकाल के भीतर जितने भी रीति-ग्रंथकार हुए हैं उन्हें काव्यकार ही माना गया है। औरों से उनका भेद करने के लिए इतना ही कहा जा सकता है कि कुछ काव्यकार शुद्ध शास्त्रानुयायी होते हैं और कुछ स्वच्छंद वृत्तिवाले कवि हो गए हैं जिन्हें औरों से एकदम पृथक किया जा सकता है; जैसे—ठाकुर, घनआनंद, बोधा आदि।

काव्य के कर्ताओं के भेद-प्रभेद का प्रपंच संस्कृत में राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में बड़े विस्तार के साथ किया है। सुझाव के लिए वहाँ से कुछ बातें उद्धृत की जाती हैं। कवियों के तीन भेद होते हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक। सारस्वत उस कवि को कहते हैं जिसे सरस्वती सिद्ध हो अर्थात् जन्मांतर-संस्कार से ही जिसमें कविता करने की प्रवृत्ति हो। ऐसा कवि जन्मजात बुद्धिमान् होता है। आभ्यासिक कवि वह है जो इस जन्म में अभ्यास करते करते कविता करने में निपुण हो जाय। यह जन्मसिद्ध बुद्धिमान् नहीं होता। इसकी बुद्धि का अभ्यास से संस्कार होता है अतः यह आहार्य-बुद्धि होता है। औपदेशिक कवि वह है जो एक-एक बात का उपदेश पाने पर कविता करे। ऐसे कवि की बुद्धि परिष्कृत नहीं होती, अतः ऐसे कवि को दुर्बुद्धि कहा गया है। सारस्वत कवि स्वच्छंद और धारा-प्रवाह रचना करता है। आभ्यासिक परिमित परिमाण में रचना करता है और औपदेशिक कभी-कभी कुछ रचनाएँ कर लिया करता है। पहले ढंग के कवि की वाणी परिष्कार की अपेक्षा नहीं रखती। दूसरे की वाणी अल्प परिष्कार से ठीक हो जाती है और तीसरे की रचना अंड-बंड होती है, उसमें विशेष परिष्कार की आवश्यकता होती है।

इन कवियों के काव्य की विस्तार-सीमा का निर्देश भी बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। पहले की रचना लोक में जिस-तिसकी जिह्वा पर चढ़ी रहती है और जो जो सुनता है उसे मुखाग्र करने की चेष्टा करता है। दूसरे की रचना मित्रों के घर तक पहुँचती है और तीसरे की रचना उसके घर से आगे नहीं बढ़ती। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी के पुराने कवियों में से बहुतों का नाम पहले वर्ग में आता है पर हिंदी की नई रंगत के अधिकतर आधुनिक कवि दूसरी या तीसरी श्रेणी में ही रखे जायँगे।

शब्द, अर्थ, अलंकार, रस, शास्त्र आदि के विचार से भी कवियों के कई भेद किए गए हैं—(१) रचना-कवि, (२) शब्द-कवि, (३) अर्थ-कवि, (४) अलंकार-कवि, (५) उक्ति-कवि, (६) रस-कवि,

(७) मार्ग-कवि और (८) शास्त्रार्थ-कवि। इनका लक्षण इनके नाम ही से प्रकट है। इन आठ प्रकार के कवियों में से दो-तीन प्रकार के कवियों के गुण जिसमें हों वह सामान्य, पाँच-छह प्रकार के कवियों के गुण जिसमें हों वह मध्यम श्रेणी का और जिसमें सब प्रकार के कवियों के गुण हों वह 'महाकवि' कहलाता है। राजशेखर के मानदंड से तो हिंदी के महाकवि गिने-गिनाए ही हो सकते हैं। पर हिंदी में किसी के भी नाम के पहले महाकवि लिखने का ज्वर चढ़ता ही जाता है—'वैद्यो नारायणो हरिः'।

इसी प्रसंग में कवियों की दस अवस्थाओं के अनुसार उनके अन्य दस भेद भी किए गए हैं—(१) काव्यविद्यास्नातक, (२) हृदय-कवि, (३) अन्यापदेशी, (४) सेविता, (५) घटमान, (६) महाकवि, (७) कविराज, (८) आवेशिक, (९) अविच्छेदी और (१०) संक्रामयिता। जो कविता करने के विचार से गुरुकुल में विद्या और उपविद्या का अध्ययन करता है वह 'काव्य विद्यास्नातक' कहलाता है। ऐसे कवि हिंदी में पहले बहुत थे, अब खोजने से भी न मिलेंगे। जो अपने हृदय में ही कविता करता है या अपनी कविता को छिपाए रहता है प्रकट नहीं करता वह हृदय-कवि है। यदि छिपाए रहने की शर्त न होती तो ऐसे कवि अनेकानेक मिल जाते। जो दोष के भय से अपनी कविता को दूसरे की कविता कहकर पढ़ता है वह अन्यापदेशी है। हिंदी में अन्यापदेशी के स्थान पर 'स्वापदेशी' बढ़ने लगे हैं। यह कैसी विपरीत बुद्धि है। जो पुराने कवियों की उत्कृष्ट रचना की छाया पर रचना करता है वह सेविता है। ऐसे बहुत से मिल सकते हैं। जो प्रबंध न लिखकर मुक्तक रचना करता है वह घटमान है। हिंदी में ऐसे कवि भरे पड़े हैं। जो मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार की रचना कर सकता है वह महाकवि है। हिंदी में प्रबंध-काव्य ही कम हैं, फिर महाकवियों की क्या कथा। जो सब प्रकार की भाषाओं में, सब प्रकार के प्रबंधों में और सब प्रकार के रसों में रचना करने में समर्थ हो वह कविराज है। ऐसे लोग संसार में इने-गिने होते हैं।

जो मंत्र-बल से सिद्धि-लाभ करके आवेश की स्थिति रहने तक रचना करते रहते हैं वे आवेशिक हैं। जब इच्छा हो तभी जो धारा-प्रवाह रचना करने में समर्थ हो वह अविच्छेदी है अर्थात् जिसे आजकल 'आशुकवि' कहते हैं। अंतर यही है कि आजकल के आशुकवि तुकबंदी मात्र करते हैं, पर अविच्छेदी तुक्कड़ को नहीं कहते। जो अपने मंत्र के बल से किसी कुमार या कुमारी के सिर पर सरस्वती का संक्रमण करा सके वह संक्रामयिता है।[1] आवेशिक और संक्रामयिता प्राचीन काल की ही शोभा बढ़ाते रहे।

---

१ निरंतर अभ्यास करते रहने से कवियों के वाक्य विशेष प्रकार से परिपुष्ट हो जाया करते हैं। इस पुष्टि का नाम है पाक। पाक के विचार से भी कवियों की रचना के कई भेदों का उल्लेख काव्यमीमांसा में है—पिचुमर्द या नीम-पाक, बदर या बेर-पाक, मृद्वीका या मुनक्का-पाक, वार्ताक या बैंगन-पाक, तिंतिडीक या इमली-पाक, सहकार या आम-पाक, क्रमुक या सुपारी-पाक, त्रपुस या ककड़ी-पाक, नारिकेल या नारियल-पाक। यह सूझ किसी वैद्यराजी की न हो!

पद्य

पद्य की विशेषता

'पद्य' शब्द 'पद' से बना है जिसका अर्थ है 'चरण'। वह रचना जो नियमबद्ध और सुव्यवस्थित 'पदों' के आधार पर खड़ी हो 'पद्य' कहलाती है। पद्य का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है। चाहे पद्य का उद्भव गद्य के अनंतर ही क्यों न हुआ हो, किंतु यह निर्विवाद है कि साहित्य-क्षेत्र में पद्य का प्रचलन गद्य से पहले हुआ। संसार का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद पद्यबद्ध है और तब से आज तक पद्य की धारा कहीं नहीं रुकी। वर्तमान युग में, जो गद्य का युग समझा जाता है, पद्य की धारा अखंड गति से प्रवाहित हो रही है, यद्यपि उसने अपना मार्ग कुछ परिवर्तित कर दिया है। अब प्रायः ऐसी ही रचना लिखने का प्रयत्न किया जाता है जो पहले की भाँति बने बनाए साँचों में न ढलकर लय के बिना आकारवाले साँचे में ढलती है। इस प्रकार की रचनाएँ इधर अँगरेजी-साहित्य में बहुत अधिक दिखाई पड़ीं। उनका प्रवाह बंगाल की खाड़ी तक पहुँचा और बंगाल की खाड़ी से यह निराली लहर हिंदी-क्षेत्र में भी हिलोरें लेने लगी। इस प्रकार की रचना के प्रेमियों का कहना है कि ये रचनाएँ संगीत की स्वच्छंद लय के आधार पर प्रस्तुत होती हैं। हिंदी ही नहीं समस्त भारतीय साहित्य काव्य में संगीत-तत्त्व का विशिष्ट रूप लेकर चलनेवाला है, पश्चिम में संगीत का वह व्यापक स्वरूप कभी नहीं दिखलाई पड़ा, इसलिए संगीत के साथ खेल करने का जैसा स्वाँग वहाँ हुआ, यहाँ अब भी नहीं हो सका। यह अतिरेक यहाँ तक बढ़ा कि कविताओं से जंतुओं की ध्वनियाँ निकाली जाने लगीं।[1] किसी विशेष परिस्थिति, ऋतु, पक्षी,

---

१ देखिए कमिंग्ज की रचनाएँ।

जंतु आदि की ध्वनि निकालने के फेर मैँ कविताओँ मैँ कितनी कृत्रिमता समाने लगी है या वे किस प्रकार अपना प्रकृत रूप त्याग कर खेल की वस्तुएँ बनती जा रही हैँ इनका विवरण वहाँ के सच्चे समालोचकोँ ने भी देना आरंभ कर दिया है।[1] नई रंगत के कवियोँ और इन ध्वनियोँ पर सिर मटकानेवालोँ का कहना है कि छंदोबद्ध रचना करना कलाकार के लिए बंधन है। जिस समय कवि भावावेश मैँ रचना करने लगता है उस समय उसके अंतरतम मैँ बैठा हुआ भावुक उन्मुक्त विचरता है। अतः स्वाधीनता के इस युग मैँ छंदोँ की पराधीनता उसके लिए असह्य है। वह तो संगीत का प्रेमी है। उसका गानप्रवाह बँधी हुई प्रणाली मैँ वहकर आविल क्योँ हो। किंतु सोचने की बात है कि कविता और संगीत का जब घनिष्ठ संबंध है तब संगीत का उत्कर्ष कविता मैँ उत्तरोत्तर साधक होगा या बाधक। संगीत की सीमा का निर्धारण नहीँ किया जा सकता। क्या लय या ध्वनि का अनुगमन पराधीनता नहीँ है? पराधीनता तो पराधीनता ही है, चाहे थोड़ी हो या बहुत। वस्तुतः नवीनता और स्वच्छंदता की झोँक मैँ जिस प्रकार तुकांतोँ से विराग हुआ उसी प्रकार आगे चलकर छंदोँ से भी। जब तक संगीत-तत्त्व कविता के लिए उपयोगी समझा जायगा तब तक यह नहीँ कहा जा सकता कि उसके लिए छंद व्यर्थ हैँ और तुकांत अनावश्यक। क्योँकि इनके द्वारा संगीत-तत्त्व का उत्तरोत्तर उत्कर्ष ही देखा जाता है, अपकर्ष नहीँ। आरंभ मैँ छंद के जो साँचे बनाए गए थे उनमैँ संगीत की कमी का अनुभव करके अपभ्रंशकाल मैँ तुकांत का विधान किया गया। तुकांत देशी भाषाओँ की विशेषता है, उस विशेषता का त्याग कर देना और उससे भी आगे बढ़कर छंदोँ के बंध से किनारा कस लेना, भारती के स्वीकृत मानदंड से नीचे उतरने का प्रयास करना है। संगीतकला का यह त्याग लय के पोषक की ही बेतुकी रुचि का परिचय देता है, जन-समाज के हृदय की अभिरुचि का पता नहीँ। केवल लय को ही लेकर चलनेवालोँ का नहीँ, कविसंमेलनोँ मैँ देखिए तो संगीत के मधुर

१ देखिए 'दि प्रिंसिपुल्स् आव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म'।

स्वर में ही काव्य-पाठ करनेवालों का रंग जमता है। कितने ही नए कवि कुलंजन फाँककर अपना गला सुरीला बनाते हैं और उस्तादों से राग-रागिनी का अभ्यास करते हैं। हिंदी के कवित्त, सवैया आदि छंदों को पढ़ने की स्वाभाविक अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं। देश-भेद से इनके एक से एक सुरीले एवं मधुर ढंग प्रचलित थे, जिनके लिए विशेष अभ्यास की आवश्यकता भी नहीं थी। स्वर्गीय पं० सत्यनारायण कविरत्न जैसे सुरीले ढंग से कविता पढ़ते थे वह बहुतों को अभी भूला न होगा। कानपुर, बैसवाड़ा, बुंदेलखंड आदि में सवैयों के पढ़ने के पृथक् पृथक् ढंग अब भी प्रचलित हैं और लोग उनके प्रकृत संगीत से अब भी प्रभावित होते हैं। कदाचित् ही कोई इनके लिए संगीत के आरोह-अवरोह का निरंतर अभ्यास करता हो। पुराने कवि-समाजों या 'पढ़ंत-संमेलनों' में गले की मधुरता के लिए किसी को सभा-समाजों में अपनी रचना सुनाने से विरत नहीं होना पड़ा। पर आज बहुत से बेसुरा अलापनेवाले यदि स्वयं नहीं बैठते तो संमेलनों में बैठा दिए जाते हैं। आकाश-पाताल का अंतर यही है। एक ओर संगीत कलामय होकर लय मात्र रह गया, कविता की टाँग भले ही टूट गई हो, दूसरी ओर कानों के परदे इतने संगीतमय हो गए कि बिना संगीत के उन पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। सारांश यह कि जहाँ कविता में आवश्यक संगीत-तत्त्व का पर्याप्त परिमाण में विधान हुआ ही नहीं वहाँ की रचना का अनुधावन करके अपनी वह परंपरा निष्प्रयोजन तोड़ने का दुस्साहस करना, जिसमें बहुत प्राचीन काल से संगीत का उचित और सच्चा विधान होता चला आ रहा हो, समझदारी की बात नहीं।

पद्य में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह अन्य पद्धतियों से विशेष मान्य समझा जाता रहा है। सबसे स्थूल कारण यह है कि उसे कंठस्थ कर लेना सरल है। वेद और शास्त्र सुनकर और स्मरण करके ही इतने दिनों तक सुरक्षित रखे जा सके। इसी लिए वे 'श्रुति' और 'स्मृति' कहलाते हैं। पद्य का यह गुण इतना बड़ा है कि वह केवल साहित्य-क्षेत्र तक ही परिमित न रह सका, दूसरे क्षेत्रों में भी उसने

हाथ-पैर फैलाए। संस्कृत में आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित आदि के ग्रंथ भी इसी लिए पद्यबद्ध किए गए कि वे सुगमतापूर्वक कंठाग्र हो सकें। पद्य की दूसरी विशेषता है माधुर्य, जिसका संगीततत्त्व के नाम से ऊपर उल्लेख हो चुका है।

पद्य-शैली की रचनाएँ

अब देखना चाहिए कि शुद्ध साहित्य में पद्य का व्यवहार कितने प्रकार की रचनाओं में किया जाता है। पद्य में ध्यान से देखने पर तीन प्रकार की रचनाएँ दिखाई पड़ती हैं—प्रबंध, निबंध और निर्बंध। प्रबंध के भी कई भेद हो सकते हैं। महाकाव्य, एकार्थकाव्य और खंडकाव्य का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आधुनिक युग में कथाबद्ध कुछ ऐसी रचनाएँ होने लगी हैं जिन्हें काव्य-निबंध कहना उपयुक्त होगा। ऐसी रचनाएं कहीं तो कुछ कथा का सहारा लेकर चलती हैं और कहीं केवल वर्ण्य विषय का वर्णन करती हैं। 'प्रबंध' विस्तार का द्योतक है और 'निबंध' संकोच का। निर्बंध शैली के अंतर्गत तीन प्रकार की रचनाएँ देखी जाती हैं—मुक्तक, गीत और प्रगीत। छंदोबद्ध मुक्तक और गीतों का प्रचलन तो बहुत प्राचीन काल से रहा है किंतु प्रगीतों की रचना अँगरेजी-साहित्य के 'लिरिक्स' के ढंग पर बहुत थोड़े दिनों से हिंदी में होने लगी है। अतः पद्यशैली के अंतर्गत जिन रचनाओं का परिगणन हुआ उनका वृक्ष इस प्रकार होगा—
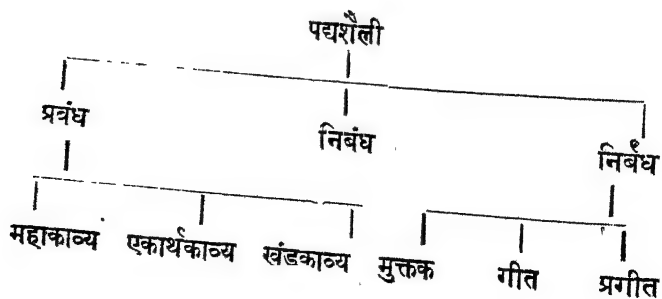
महाकाव्य

लक्षण-ग्रंथों में महाकाव्य की दो बातों का विस्तार के साथ विचार किया गया है—एक है उसका संघटन और दूसरी उसका वर्ण्य। महाकाव्य की रचना सर्गबद्ध होती है।[1] सर्ग का अर्थ अध्याय है। कुछ सर्गों में कथा को विभाजित करके उसका वर्णन किया जाता था। कथा का खंड कर लेने से उसका वर्णन करने में विशेष सुगमता होती थी। फारसी की मसनवी शैली में सर्गों का विधान नहीं होता उसमें कथा क्रमशः चलती रहती है। बीच बीच के प्रसंगों के अनुसार शीर्षक बाँध दिए जाते हैं। सर्गों के न होने से यदि कवि एक स्थान से दूसरे स्थान के वर्णन में प्रवृत्त होना चाहता है तो कोई मध्यस्थ का कार्य करनेवाला पात्र अवश्य होता है। कवि उसी का अनुधावन करता है; जैसे 'पद्मावत' में हीरामन सुग्गा'। सर्गबद्ध प्रणाली में यह कठिनाई नहीं। पुराने महाकाव्यों के आदर्श पर यह भी नियम बाँधा गया कि महाकाव्यों में आठ से अधिक सर्ग हों। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यदि किसी रचना में मोटे मोटे आठ से कम ही खंड रखे जायँ तो वह रचना अन्य सब सामग्रियों से पूर्ण होने पर भी सदोष हो जायगी; जैसे हिंदी में 'रामचरितमानस' में सात ही 'सोपान' (कांड) हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि सर्ग की दृष्टि से 'मानस' सदोष है। वाल्मीकीय रामायण में बड़े बड़े सात ही कांड हैं। पर वह सदोष नहीं, क्योंकि प्रत्येक कांड में सैकड़ों सर्ग हैं। 'मानस' के प्रत्येक 'सोपान' में अनेक 'प्रकरण' हैं, जिनका उल्लेख उत्तरकांड के अंत में काकभुशुंडि और गरुड़ के संवाद के बीच किया गया है।[2] 'सर्ग' का लक्ष्य यही जान पड़ता है कि कथा का सुभीते के अनुसार विभाजन करके उसका विधान करना। संख्या उसके लिए मुख्य नहीं। सर्ग की छंद के विचार

---

१ सर्गबन्धो महाकाव्यम्—साहित्यदर्पण।

२ 'प्रथमहि अति अनुराग भवानी' से आरंभ होकर यह सूची 'कथा समस्त भुसुंडि बखानी' तक चली गई है।

से दूसरी विशेषता यह बतलाई गई है कि उसमें एक ही छंद का व्यवहार किया जाय, पर अंत में छंद बदल दिए जायँ। एक ही छंद का प्रयोग इसीलिए स्वीकृत किया गया था कि कथा की धारा व्यवस्थित होकर चले। प्रवाह जमाने ही के लिए ऐसा विधान था इसमें संदेह नहीं। अंत में छंदों का परिवर्तन मोड़ बतलाने के लिए होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रत्येक सर्ग में भिन्न-भिन्न छंद रखे ही जायँ। वाल्मीकीय रामायण में विभिन्न छंद हैं अवश्य पर उसमें अनुष्टुप् छंद का ही अधिक व्यवहार हुआ है। तुलसी के 'रामचरित-मानस' में मुख्य छंद दोहा-चौपाई हैं। प्रत्येक सोपान में छंद बदले नहीं गए हैं, बीच बीच में प्रसंग के बदलने पर, रस के परिवर्तन पर पात्र की विशेषता के कारण और परिस्थिति के अनुकूल छंदों की भी परिवृत्ति की गई है। यद्यपि तुलसीदासजी ने दोहे-चौपाई का क्रम उन सूफी कवियों के अनुकरण पर ही रखा है जिन्होंने फारसी की मसनवियों का विदेशी ढर्रा पकड़ा था तथापि यह कह देना असंगत न होगा कि सूफियों ने मसनवी के अनुकूल जन-समाज में प्रचलित दोहा-चौपाईवाला क्रम देखा और उसे अपनाया, वह यहीं का लौकिक क्रम था, जिसे उन्होंने अपने उपयोग के लिए चुना। 'दूहा' और 'पद्धरि' का प्रयोग बहुत पहले से होता आ रहा है। अपभ्रंश-भाषा का वाङ्मय एकदम नष्ट हो गया, अन्यथा देशी परंपरा का बहुत ही स्पष्ट और निखरा रूप दिखाई पड़ता। 'रासो' नाम के ग्रंथों में उसी लुप्त परंपरा का यत्किंचित् अनुगमन छप्पय, कवित्त आदि के बीच दिखाई पड़ता है। दोनों वहाँ मिल जाते हैं। सूफियों के प्रेमकाव्यों में दोहे-चौपाई के अतिरिक्त और किसी छंद के न आने से उनका मसनवी का ढंग बना रहा। पर भारतीय सर्गबद्ध शैली से परिचित तुलसीदासजी ने बीच-बीच में अन्य छंदों की योजना करके उसका परिष्कार कर डाला है। उसमें अपनापन भली भाँति झलकाया है। जिन्हें इसकी ठीक-ठीक पहचान नहीं थी उन्होंने छंदों को बात की बात में बदलकर प्रवाह नष्ट कर दिया है। केशव की 'रामचंद्रचंद्रिका' इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। महाकाव्य के किसी सर्ग में यदि विविध छंद रख दिए जायँ तो कोई

बात नहीं[1] पर प्रत्येक सर्ग में ऐसा करने से प्रवाह खंडित हो जाता है।

कथा के विचार से सर्ग में चरित-नायक की कथा अवश्य आनी चाहिए और अंत में आगे की कथा का आभास भी मिलना चाहिए। इसका वास्तविक कारण यह है कि महाकाव्य में कथा की घटनाएँ वैचित्र्यपूर्ण रखने का वैसा प्रयत्न नहीं होता जैसा उसकी क्रमबद्धता बनाए रखने का। प्रबंध के विचार से काव्य-पाठक को कथा के क्रम से परिचित होना चाहिए। श्रव्य या पाठ्यकाव्य, जिसके अंतर्गत महा-काव्य आता है, इसी बात में दृश्यकाव्य या नाटक से भिन्न है। नाटक में कुतूहल जगाए रखने की आवश्यकता होती है। उसमें छँटी-छँटाई घटनाएँ अपना वैचित्र्य दिखलाती हैं। पर महाकाव्य में रमणीयता का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसी रमणीयता के विचार से महा-काव्य में अनेक वर्णन भी रखे जाते हैं। इस प्रकार महाकाव्य घट-नात्मक और वर्णनात्मक दोनों ही होता है। घटनाएँ कथा को आगे बढ़ाने के लिए होती हैं और वर्णन रमणीयता लाने के लिए। वर्णनों की रमणीयता पर ही दृष्टि रखने का दुष्परिणाम भी काव्य-परंपरा के बीच दिखलाई पड़ा है। संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों में घटना और वर्णन का सम्यक् योग दिखाई देता है। घटना का भी विस्तार है और वर्णनों का भी। किंतु पिछले काँटे यह बात नहीं रह गई। वर्णनों की अधिकाधिक योजना होने लगी। परिणाम यह हुआ की वर्णनों का लदाव लादकर बहुत छोटी कथा पर ही महाकाव्य लिखे जाने लगे। श्रीहर्ष का 'नैषधचरित' ऐसा ही महाकाव्य है, उसमें केवल नल-दमयंती का परिणय वर्णित है। हिंदी के काव्यों के लिए ऐसे ही ग्रंथ आदर्श हुए। फल यह हुआ कि यहाँ भी बहुत छोटी कथा वर्णनों से भरकर महाकाव्य के नाम पर प्रस्तुत की गई। 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-वनवास' ऐसे ही ग्रंथ हैं। जहाँ बड़ी कथा ली भी गई वहाँ कवियों की दृष्टि घटनाओं पर रही ही नहीं। किसी ने वर्णनों का

---

१ नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते—साहित्यदर्पण।

अतिरेक किया तो किसी ने भाव-व्यंजना या वस्तु-व्यंजना पर ही दृष्टि जमाई। केशवदास की 'रामचंद्रचंद्रिका' मैं वर्णनौं पर कवि की दृष्टि इतनी अधिक है कि वह स्फुट वर्णनौं का संग्रह जान पड़ती है। कथा की क्रमबद्धता का उसमैं बहुत कम ध्यान रखा गया है। प्रायः घटनाएँ छोड़ दी गई हैँ या उन्हैँ थोड़े मैँ निबटाया गया है। 'साकेत' और 'कामायनी' मैँ व्यंजना का प्राधान्य है। पहली मैँ वस्तु-व्यंजना का और दूसरी मैँ भाव-व्यंजना का। कथा का महाकाव्य के अनुरूप विस्तार करने की ओर कवियोँ ने उतना प्रयत्न ही नहीँ किया। इसीसे ऐसी रचनाओँ को महाकाव्य तथा खंड-काव्य के बीच की एकार्थकाव्य के ढंग की रचना मानना विशेष उपयुक्त जान पड़ता है।

प्रत्येक सर्ग मैँ चरित-नायक की कथा का ओतप्रोत होना आवश्यक कहा गया था। वह इसी लिए कि मुख्य विषय से कथा का संबंध छूटने न पाए। पर धीरे-धीरे कवियोँ ने इधर से भी मुँह मोड़ लिया। तुलसीदास के 'मानस' मैँ कुछ लोगोँ को यह बात बहुत खटकती है कि कि वे बारंबार राम की ईश्वरता का स्मरण दिलाते चलते हैँ। कवि ने ऐसा इसी लिए किया है कि प्रतिपाद्य विषय सदा संमुख रहे। उसे पाठक या श्रोता भूले न। केवल चरित-नायक की कथा का ही नहीँ, उसके स्वरूप का भी निर्णय कर दिया गया था। कहा गया है कि महाकाव्य की कथा प्रख्यात ही होनी चाहिए, कल्पित नहीँ। प्रख्यात वृत्त की योजना का कारण यही है कि रस-संचार या साधारणीकरण होने मैँ सहायता प्राप्त हो। जिस चरित-नायक की कथा ली जाय उसके साथ तादात्म्य स्थापित होने मैँ कोई बाधा न उपस्थित हो। पहले यह बात कही जा चुकी है कि महाकाव्य मैँ कथा-वैचित्र्य अपेक्षित नहीँ होता। उसमैं कथा रस की अभिव्यक्ति के लिए ही हुआ करती है। कल्पित कथा द्वारा रसोद्रेक उस कोटि का नहीँ हो पाता जिस कोटि का प्रख्यात वृत्त द्वारा। ऐतिहासिक या पौराणिक कथा के पात्र पहले से ही सुपरिचित होते हैँ और उनके प्रति एक प्रकार की स्थूल भावना पहले से ही विद्यमान रहती है। उनके उस स्वरूप को [illegible]

झलकाना भर कवि-कर्म रहता है। राम और रावण के प्रति जो श्रद्धा और घृणा की वासना पहले से ही स्थूल रूप में जमी हुई है उसका सच्चा उद्रेक कवि द्वारा सुगमतापूर्वक हो सकता है। जो अपना इतिहास ही भूल चले हों उनकी बात दूसरी है। इसी बात को यदि आजकल के ढंग से कहें तो यों कहना चाहिए कि महाकाव्य या कविता मात्र में आदर्शवाद की ही प्रतिष्ठा रहती है, यथातथ्यवाद की नहीं। पश्चिमी देशों में भी, जहाँ से इस प्रकार के वादों का प्रचलन हुआ है, कम से कम कविता में आदर्शवाद अब भी सुरक्षित है। यह दूसरी बात है कि नमूने के लिए कुछ मनचले लोगों ने यथातथ्यवाद का अनुगमन करते हुए एकाध प्रबंधकाव्य कल्पित कथा को लेकर भी प्रस्तुत किया हो। नायक के धीरोदात्त होने का कारण भी यही है। कल्पित कथा में भी आदर्शवाद के लिए स्थान है, पर कल्पित कथाओं का ग्रहण महाकाव्यों में पहले नहीं हुआ। कथाकाव्यों या उपन्यासों में यह बात अवश्य दिखाई पड़ी। 'कादंबरी' में कल्पित कथा ही ग्रहण की गई है, पर आदर्शवाद की ही पद्धति पर। आज जैसे उपन्यासों में यथातथ्यवाद की प्रधानता है वैसे ही कुछ लोग प्रबंधकाव्यों में भी करना चाहते हैं, यद्यपि उनका प्रयत्न पश्चिमी देशों में भी सफल नहीं हुआ। बात यह है कि कोई धुन कलाकारों के सिर पर सवार होती है और वे उसी आवेश में एक ही ढर्रा साहित्य की प्रत्येक शाखा में देखना चाहते हैं। यदि ऐसा ही हो तो कविता और कथा-कहानी में पद्य एवं गद्य की शैलियों के अतिरिक्त कोई स्वकीय भेद न रह जायगा।

काव्य के संघटन का विचार करते हुए यह भी कहा गया कि ग्रंथारंभ में मंगलाचरण होना चाहिए। इसके तीन भेद बतलाए गए— नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक। जहाँ नमस्कार-बोधक शब्दों का प्रयोग मंगलाचरण में हो वहाँ नमस्कारात्मक मंगल होता है। नमस्कार को व्यक्त करनेवाले शब्द नमः, प्रणाम आदि हैं। ब्रज में 'प्रनवौं, बिनवौं, नवौं' आदि समझिए। जहाँ जय, जयति आदि शब्दों का व्यवहार हो वहाँ आशीर्वादात्मक मंगल है। कथावस्तु का

संकेत देनेवाला मंगल वस्तुनिर्देशात्मक होता है। यह बात साहित्य की प्रत्येक शाखा के लिए है। 'सत्यहरिश्चंद्र नाटक' में वस्तुनिर्देशात्मक मंगल है।[1] अब मंगलाचरण की प्रथा हिंदीवाले छोड़ रहे हैं। 'प्रिय-प्रवास' में कोई मंगलाचरण नहीं। कुछ लोग अपने प्रतिभा-बल से उसमें वस्तुनिर्देशात्मक मंगल प्रतिपादित करना चाहते हैं। ऐसे लोगों को पहले मंगलाचरण की परिभाषा जान लेनी चाहिए। वे बुद्धि का अनावश्यक व्यायाम करने से बच जाते। किसी देवता या ईश्वर की प्रार्थना आदि के रूप में जब तक पदावली नहीं रखी जाती तब तक केवल शब्दों को लेकर व्यर्थ ही विवाद करना शोभा की बात नहीं। 'प्रियप्रवास' के प्रथम छंद से ही कथा का आरंभ हो जाता है—

> दिवस का अवसान समीप था।
> गगन था कुछ लोहित हो चला॥
> तरुशिखा पर थी अब राजती।
> कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

'दिवस का अवसान' रखकर कवि ने आगे की कथा का अर्थात् प्रवास का संकेत दिया हो, यह तो ठीक है। पर यह 'मंगल' है, यह बात कैसे मानी जा सकती है।

यही दशा 'कामायनी' की भी है। उसमें भी कथा का आरंभ पहले ही छंद से हो जाता है—

> हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
> बैठ शिला की शीतल छाँह।
> एक पुरुष भीगे नयनों से,
> देख रहा था प्रलय-प्रवाह॥

---

1 वह मंगलाचरण यह है—

> सत्यासक्त दयाल द्विज, प्रिय अघहर सुखकंद।
> जनहित कमलातजन जय, सिव नृप कवि हरिचंद॥

इसमें 'जय' शब्द द्वारा आशीर्वादात्मक मंगल है ही, 'सत्यासक्त' आदि पदों द्वारा नाटक की भावी कथा की भी सूचना है।

इसमें 'हिम' या 'प्रलय' द्वारा चाहे भावी दुःखद कथा का संकेत दिया गया हो, पर यह मंगलाचरण है, इसे कोई कैसे स्वीकार कर सकता है। माना कि किसी महाकाव्य में मंगलाचरण न हो तो उसकी प्रकृत शोभा की क्षति नहीं होती, पर अपनी परंपरा भी कोई वस्तु है। और नहीं तो परंपरा के नाते इसका कम से कम महाकाव्यों में बना रहना अच्छा ही है। नाटकों से हटा दीजिए, पर कहीं तो उसे रहने दीजिए। भक्तवर बाबू मैथिलीशरणजी अपनी परंपरा का निर्वाह करते चल रहे हैं। ग्रंथारंभ क्या, उन्होंने तो तुलसीदास के अनुगमन पर नए ढर्रे से प्रत्येक सर्ग में कुछ न कुछ मंगल देने का प्रयत्न किया है। मंगल के ही अंतर्गत यह भी कहा गया है कि सज्जनों की प्रशंसा और असज्जनों की निंदा करनी चाहिए।[१] जहाँ मंगलाचरण ही हट गया वहाँ सज्जन-असज्जन का मंगलामंगलाचरण कौन करने जाय। 'आत्म-निवेदन' के रूप में यह गद्य में प्रस्तावना का रूप धरकर अवश्य दिखाई पड़ता है। जिन्हें शास्त्रकथित इस विधान का पता नहीं वे सूक्ष्म दृष्टि से तुलसी के मंगलाचरण को देखकर चौंकते हैं और यह अनुमित करते हैं कि उनके समय में उनकी कड़ी आलोचना होने लगी थी इसीसे उन्होंने 'मानस' में खलों की प्रशंसा की है। काव्य की अभिव्यंजन-प्रणाली से अनभिज्ञ लोग तुलसीदास की 'खल-वंदना' को भले ही 'प्रशंसा' नाम दें, साहित्यिक तो उसे 'व्याजनिंदा' ही कहते आए हैं।

शास्त्रों में ऐतिहासिक दृष्टि से पहले दृश्यकाव्य का ही विवेचन मिलता है। नाट्यशास्त्र बहुत प्राचीन ग्रंथ है। श्रव्य या पाठ्य काव्य के विवेचन में वे ही बातें पीछे से रख दी गई हैं। इसीसे नाटक की पंच-संधियों का भी विधान महाकाव्य में किया गया है। रसों की योजना का भी क्रम यही है। शृंगार या वीर में से कोई एक रस अंगी अर्थात् प्रधान रखना कहा गया है। नाटकों में शांत रस के लिए स्थान नहीं था, पर काव्य में उसके प्रधान रखने का भी उल्लेख है। करुण रस

---

१ क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम्।—साहित्यदर्पण।

पर अधिक ध्यान ही नहीँ दिया गया। भवभूति ने उसकी प्रधानता नाटक मैँ दिखाने का प्रयत्न किया है। फिर पाठ्य-काव्य की बात पृथक् ही है, उसमेँ तो करुण की प्रधानता रखने मैँ कोई बाधा ही नहीँ। यहाँ की रचनाओँ मैँ किसी रस की प्रधानता होते हुए भी पर्यवसान सुखात्मक ही होता था। भवभूति ने भी 'उत्तररामचरित' मैँ ऐसा ही किया है। इसीसे करुण रस से आद्यंत ओत-प्रोत ग्रंथ नहीँ मिलते। हिँदी मैँ इधर हरिऔधजी ने 'वैदेही-वनवास' लिखकर भवभूति की परंपरा की रक्षा का प्रयत्न किया है।

प्रबंध-काव्योँ मैँ नाटकोँ से एक तत्त्व और भी ग्रहण किया गया, पर उसका विवेचन शास्त्रोँ मैँ कहीँ भी नहीँ हुआ। यह तो मानी हुई बात है कि संवाद रूपकोँ का ही विधान है। प्रबंधकाव्योँ मैँ इसका ग्रहण बराबर होता आया है। हिंदी मैँ 'रामचंद्रचंद्रिका' की जो भी विशेषता दिखाई देती है वह संवादोँ मैँ। केशव के ढंग के संवाद तुलसीदास भी नहीँ रख सके हैँ। तुलसी और केशव के संवादोँ मैँ स्पष्ट अंतर है। तुलसी के संवाद कथापद्धति पर चले हैँ और उनमैँ वक्ता पात्रोँ का उल्लेख कथा मैँ ही है। केशव के संवाद नाटकीय ढंग पर हैँ जिनमैँ वक्ता के नाम की योजना पृथक् से होती है।

काव्योँ के नाम का भी विचार किया गया है। चरित-नायक या नायिका के नाम पर अथवा प्रमुख घटना के नाम पर उसका नामकरण होता था। रामचरित-मानस, पद्मावत, कामायनी आदि पहले प्रकार के नाम हैँ और प्रियप्रवास, वैदेही-वनवास, गंगावतरण आदि दूसरे प्रकार के। जनता द्वारा कभी कभी कवि के नाम पर भी काव्य का नामकरण होता है; जैसे संस्कृत मैँ 'शिशुपालवध' माघ-काव्य कहलाता है। 'माघ' कवि का नाम है। 'तुलसी, सूर, बिहारी का अध्ययन' कहने से इन कवियोँ के ग्रंथसमुदाय का ही बोध होता है।

महाकाव्य मैँ सबसे अधिक ध्यान जिस योजना का रखा जाता है वह वस्तुवर्णन है, जिसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

संध्या, सूर्य, चंद्र, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मंत्र, पुत्र, अभ्युदय आदि का सांगोपांग वर्णन महाकाव्य के लिए आवश्यक है। पर पहले ही कहा जा चुका है कि इन वर्णनों के उल्लेख का परिणाम यह हुआ कि कुछ लोग इन वर्णनों को ही महाकाव्य का लक्षण समझने लगे और इन्हीं की योजना में दत्तचित्त हुए। 'रामचंद्रचंद्रिका' में केशवदासजी ने इन वर्णनों को ही ध्यान में रखा। अपनी ओर से राज्यश्री-वर्णन की योजना भी करके वर्णनों का अधिक विस्तार भी किया। शास्त्रकथित प्रकृति-वर्णन से तो केशव का राज्यश्री-वर्णन ही अच्छा दिखाई देता है। वर्णनों पर ध्यान रखने का फल यह होता है कि कवि चमत्कार के लिए अनावश्यक वर्णन तो कर डालता है, पर आवश्यक वर्णन नहीं कर पाता। 'प्रिय-प्रवास' में व्रज के लता-वृक्षों का वर्णन जोड़ा गया है। लीची, फालसा आदि का वर्णन तो है, पर करील के कुंजों का वर्णन ही नहीं। इसीसे कहा गया था कि कवि को महाकाव्य लिखते हुए शास्त्र-सपादन की इच्छा नहीं करनी चाहिए प्रत्युत रस की अभिव्यक्ति पर ही ध्यान देना चाहिए।[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि महाकाव्य के मुख्य तत्त्व चार हैं—

(१) सानुबंध कथा,

(२) वस्तुवर्णन,

(३) भावव्यंजना,

(४) संवाद।

सानुबंध कथा प्रबंधकाव्य का बहुत ही आवश्यक तत्त्व है। यही वह तत्त्व है जो प्रबंध को स्फुट रचनाओं से अलग करता है। इसका उचित विधान न होने से प्रबंधकाव्यत्व को बहुत बड़ी हानि पहुँचती है।

---

१ सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया॥—ध्वन्यालोक।

हिंदी में केशव की 'रामचंद्रचंद्रिका' में कथाप्रवाह का ध्यान नहीं रखा गया है, परिणाम यह हुआ है कि कथा की धारा स्थान-स्थान पर विच्छिन्न हो गई है और उसका स्वारस्य नष्ट हो गया है। इसीसे उसे बहुत से लोग महाकाव्य मानने के लिए प्रस्तुत नहीं। वस्तुवर्णन का उल्लेख ऊपर विस्तार के साथ किया जा चुका है।

भावव्यंजना का यह तात्पर्य नहीं कि वैचित्र्यपूर्ण भावव्यंजनाओं में ही कवि प्रवृत्त रहे और उसके अन्य तत्त्वों पर ध्यान ही न दे या बहुत कम ध्यान दे। वैचित्र्यपूर्ण व्यंजनाओं के चक्कर में पड़ने से महाकाव्य स्फुट व्यंजनाओं का संग्रह मात्र रह जाता है। उसमें रस की अखंड रूप से निरंतर बहनेवाली धारा नहीं रह जाती। लक्षण-ग्रंथों में एक रस प्रधान और अन्य रस गौण रूप में रखने का जो संकेत किया गया है उसका कारण यही है। क्योंकि ऐसा न होने से रस-धारा बाधित रूप में चलती है। 'साकेत' ऐसे उत्कृष्ट ग्रंथ में व्यंजना के वैचित्र्य की ओर कवि की इतनी अधिक दृष्टि हो गई है कि उसमें व्यंजनाओं का पहाड़ लग गया है और इस मार्गाचल से प्रबंध की धारा टकराकर रुक गई है। संवाद पात्रों का स्वरूप और मनःस्थिति व्यक्त करने के लिए होते हैं। इस दृष्टि से केशव की 'रामचंद्रचंद्रिका' का महत्त्व बतलाया जा चुका है।

आज दिन प्रबंधकाव्यों में एक प्रवृत्ति और दिखाई देती है। वह है प्रगीतों का समावेश। महाकाव्य और प्रगीत एक दूसरे के विपरीत पड़ते हैं। क्योंकि महाकाव्य सर्वांगीण प्रभावान्विति से युक्त होता है और प्रगीत केवल विशिष्ट अंतःसाक्ष्य कराकर विरत हो जाते हैं। इसलिए इनकी योजना प्रबंधकाव्य के प्रतिकूल पड़ती है। किंतु पाश्चात्य देशों की भद्दी अनुकृति पर हमारे यहाँ के समर्थ कवि भी इस अनावश्यक विधान में संलग्न दिखाई देते हैं। 'साकेत' और 'कामायनी' दोनों में प्रगीतों के कारण चित्त जमने के स्थान पर उखड़ने लगता है।

एकार्थकाव्य

महाकाव्यों की ही पद्धति पर कुछ ऐसे प्रबंधकाव्य भी बनते रहे हैं जिनमें पंचसंधियों का विधान नहीं होता। तात्पर्य यह है कि इनमें पूर्ण जीवन-वृत्त ग्रहण तो किया जा सकता है, पर उसका उतना अधिक विस्तार नहीं होता जितना महाकाव्य में देखा जाता है। इसमें कथा का कोई उद्दिष्ट पक्ष प्रबल होता है। महाकाव्य में कर्ता का प्रयत्न वस्तुतः दो प्रधान तत्त्वों की योजना में दिखाई पड़ता है — एक तो वस्तुवर्णनों की संपूर्णता और दूसरे कथावस्तु का विस्तार। महाकाव्य में कथाप्रवाह विविध भंगिमाओं के साथ मोड़ लेता आगे बढ़ता है किंतु एकार्थकाव्य में कथाप्रवाह के मोड़ कम होते हैं। अधिकतर वर्णनों या व्यंजनाओं पर ही कवि की दृष्टि रहती है। हिंदी में इस प्रकार के कई काव्य प्रस्तुत हुए हैं। गंगावतरण, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी आदि वस्तुतः एकार्थकाव्य ही हैं।

खंडकाव्य

महाकाव्य के ही ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है पर जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खंडजीवन ही ग्रहण किया जाता है उसे खंडकाव्य कहते हैं।[1] यह खंडजीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है जिससे वह प्रस्तुत रचना के रूप में स्वतः पूर्ण प्रतीत हो। इसीलिए महाकाव्य के एक या एकाधिक सर्गों को खंडकाव्य नहीं कह सकते, चाहे उनमें जीवन के एक खंड की ही झलक क्यों न दिखाई गई हो। क्योंकि उन सर्गों के लिए पूर्वापर की अपेक्षा होती है। खंडकाव्य का विस्तार भी थोड़ा होता है। एकार्थकाव्य की भाँति पूर्ण जीवन का कोई उद्दिष्ट पक्ष उसमें नहीं होता। हिंदी में सुदामाचरित, जयद्रथवध, रंग में भंग आदि खंडकाव्य हैं।

* खण्डकाव्य भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।—साहित्यदर्पण।

काव्य-निबंध

हिंदी मैं कुछ कथात्मक लंबी कविताएँ भी लिखी जाने लगी हैं। इन्हें उपर्युक्त भेदों के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इनमें किसी कथा का कोई मार्मिक दृश्य मात्र अंकित कर दिया जाता है। प्रबंधकाव्य की भाँति इनमें वस्तुवर्णन एवं कथाविस्तार नहीं होता अर्थात् इनमें बंध तो होता है, पर प्रबंध नहीं। इस प्रकार की रचनाएँ आधुनिक काल के 'द्विवेदी-युग' में बहुत लिखी गईं। अब ऐसी रचनाओं का प्रचलन कम हो गया है। ऐसी रचनाएँ गृहीत विषय के किसी मार्मिक दृश्यखंड तक ही परिमित रहती हैं इसलिए इनका पर्यवसान विषय-वर्णन में ही हो जाता है। स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी के 'वीर-पंचरत्न' में ऐसे ही काव्य-निबंधों का संग्रह है। 'द्वापर' भी ऐसे ही निबंधों का संग्रह है।

मुक्तक

मुक्तक वह स्वच्छंद रचना है जिसमें रस का उद्रेक करने के लिए अनुबंध की आवश्यकता नहीं।[1] संस्कृत में छंदों की संख्या के अनुसार निर्बंध रचना के अलग-अलग नाम रखे गए हैं। पूर्व और पर से निरपेक्ष जो एक ही पद्य रसचर्वणा में पूर्ण सहायक हो 'मुक्तक' है। यदि दो छंदों में वाक्य की पूर्ति हो तो उसे 'युग्मक' कहते हैं। जहाँ तीन छंदों में वाक्यशेष हो वहाँ 'संदानितक' अथवा 'विशेषक' होता है। यदि चार छंदों में ऐसा हो तो उसे 'कपालक' कहते हैं। यदि पाँच या उससे अधिक छंदो में ऐसा हो तो उसे 'कुलक' कहेंगे।[2] यहाँ 'मुक्तक' शब्द इन सब प्रकार की निर्बंध रचनाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। जहाँ किसी कथा के सहारे भी स्फुट रचनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं वहाँ वे मुक्तक ही हैं। 'कवितावली' का प्रत्येक पद मुक्तक ही कहा जायगा।

---

१ मुक्तक श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्—अग्निपुराण।
२ देखिए 'साहित्यदर्पण'।

गीत

राग-रागिनी के अनुकूल जिन पदों की रचना होती है वे विशेषतः गेय होने के कारण 'गीत' कहलाते हैं। गीतों का प्रचलन बहुत प्राचीन समय से है। इनके दो प्रवाह स्पष्ट दिखाई देते हैं—एक लौकिक और दूसरा साहित्यिक। लौकिक गीत वे हैं जिनमें साहित्य के अंगों का विशेष ध्यान नहीं रखा गया है और जो स्वच्छंद रूप से किसी भाव या स्थिति को व्यक्त करने में प्रवृत्त दिखाई देते हैं। ये लौकिक गीत वे ही हैं जिन्हें नागर लोग 'ग्राम्य गीत' कहते हैं। जनसमाज में इस प्रकार के गीत आदिकाल से प्रचलित हैं और उनमें देश की संस्कृति, भावना, कथाओं आदि का अमूल्य भांडार सुरक्षित है। आश्चर्य की बात है कि विभिन्न प्रांतों में पाए जानेवाले इन गीतों में एक ही प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन गीतों का परिश्रमपूर्वक संग्रह किया जाय तो इनमें बहुत सी ज्ञातव्य बातें मिल सकती हैं। इधर ऐसे गीतों के कई संग्रह निकल चुके हैं। साहित्य की रूढ़ियों के अनुकूल जो कवियों द्वारा निर्मित हुए हैं वे साहित्यिक गीत हैं। लौकिक गीतों के कर्ता का पता नहीं, पर साहित्यिक गीत के रचयिता प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। भारत के साहित्यिक गीतों की परंपरा संस्कृत के पीयूषवर्षी कवि जयदेव से चली। इन्हों ने 'गीतगोविंद' की रचना करके यह परंपरा बाँधी। यह निश्चित है कि लौकिक गीतों के माधुर्य से ही आकृष्ट होकर जयदेव ने 'गीतगोविंद' का निर्माण किया है। संस्कृत के पंडित कवि तो वर्णवृत्तों में ही रचना करते आए हैं। लोक-माधुर्य की सच्ची पहचान जयदेव में थी। हिंदी में उन्हीं के अनुगमन पर कोकिलकंठ विद्यापति ने गीतों का निर्माण किया था। उन्हों ने स्पष्ट कहा है कि देशी रचना बड़ी ही मधुर होती है और सबको प्रिय लगती है।[1] विद्यापति ठाकुर के अनुकरण पर सूरदास ने 'सूरसागर' गीतों में ही गाया। उनके अनंतर गीत की रचना करनेवाले अनगिनत कृष्णभक्त कवि हुए। सूर के अनु-

१ देसिल बयना सबजनमिठा—कीर्तिलता।

करण पर तुलसी ने भी रामगीतावली, कृष्णगीतावली और विनय-पत्रिका की रचना की। खड़ी बोली मेँ इस समय गीत तो बहुत से लिखे जा रहे हैँ, पर कुछ को छोड़ बहुतोँ की पद्धति विदेशी दिखाई देती है। उन्हेँ गीत न कहकर प्रगीत कहना चाहिए।

प्रगीत

पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से इधर कुछ दिनोँ से हिंदी मेँ प्रगीत (लिरिक्स) भी लिखे जाने लगे हैँ। प्रगीत और गीत मेँ अंतर है। प्रगीत मेँ कवि का व्यक्तित्व विशेष रूप से व्यक्त होता है। प्रगीत का स्वरूप समझने के लिए पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र मेँ काव्य का किया जानेवाला विभाग संक्षेप मेँ समझ लेना चाहिए। वहाँ कविता के दो प्रकार माने गए हैँ—एक बाह्यार्थनिरूपक (आबजेक्टिव) और दूसरा स्वानुभूतिव्यंजक (सबजेक्टिव)। पहले प्रकार की रचना मेँ कवि निरपेक्ष भाव से इतर पदार्थोँ का निरूपण करता है। इस निरूपण मेँ उसका व्यक्तित्व व्यक्त नहीँ होता, पर स्वानुभूतिव्यंजक रचना मेँ वह अपना व्यक्तित्व ही प्रदर्शित करता है। व्यक्तित्व-प्रदर्शन का तात्पर्य यह है कि कवि ने स्वयं संसार मेँ जैसी अनुभूतियाँ प्राप्त की हैँ उनका वह सचाई के साथ वर्णन करता है। ऐसी स्थिति मेँ यह भी संभव है कि उसकी अनुभूति लोकानुभूति से पृथक् प्रतीत हो। प्रगीतोँ मेँ इसी स्वानुभूति का वैशिष्ट्य पाया जाता है। इन प्रगीतोँ का प्रचार इतना अधिक हुआ कि एक तो महाकाव्योँ की रचना कम होने लगी और यदि हुई भी तो उनमेँ प्रगीतोँ को विशेष रूप से स्थान प्राप्त हुआ। बाह्यार्थनिरूपक प्रबंधकाव्योँ मेँ स्थान-स्थान पर प्रगीतात्मक पदोँ का विधान होने लगा है। फलस्वरूप प्रबंध की धारा अवरुद्ध हो गई है। पाश्चात्य देशोँ मेँ इन प्रगीतोँ के विरुद्ध प्रबल आंदोलन उठ खड़ा हुआ है और परिणाम-स्वरूप प्रगीतोँ की रचना बहुत कम हो गई है। किंतु हिंदी मेँ रोक-छेक न होने से गायकोँ का अब तक ताँता बँधा हुआ है। इस प्रकार की रचनाओँ का भारतीय साहित्य मेँ रुकना इसलिए भी आवश्यक

है कि पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र में किया जानेवाला उपर्युक्त वर्गीकरण तात्त्विक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि बाह्यार्थनिरूपक रचनाओं में भी कवि का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रूप से ओत-प्रोत रहता है। यदि ऐसा न होता तो एक ही चरित को लेकर लिखे जानेवाले ग्रंथों में भिन्नता प्रतीत ही न होती और यदि होती भी तो किंचिन्मात्र। किंतु स्थिति ऐसी नहीं है। रामचरितमानस, रामचंद्रचंद्रिका और साकेत एक ही चरित को लेकर लिखे गए हैं। परंतु भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे जाने के कारण इनमें भिन्नता पाई जाती है। एक ही भाव को प्रत्येक ने अपने अपने ढंग से व्यक्त किया है। एक ही वस्तु का तीनों ने भिन्न भिन्न शैली से पृथक् पृथक् वर्णन किया है। यह पार्थक्य कवि के व्यक्तित्व की अंतःसत्ता के संनिवेश के कारण ही है। लोकगत विषय की जैसी अनुभूति एक को हुई ठीक वैसी ही दूसरे को नहीं हुई। इतना होने पर भी इन सबकी अनुभूतियाँ कुछ सर्वसामान्य तत्त्वों से समन्वित हैं। यही कारण है कि पाठक सबमें रसानुभव प्राप्त करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि बाह्यार्थनिरूपक रचनाओं में कवि की स्वानुभूति तो रहती है किंतु वह लोकानुभूति के मेल में चलती है। स्वानुभूति और लोकानुभूति का जैसा सामंजस्य उपर्युक्त रचनाओं में देखा जाता है वैसा ही स्वानुभूतिव्यंजक रचनाओं में भी होता है। यदि किसी कवि की अनुभूति ऐसी विलक्षण हो कि लोकानुभूति से एकदम पृथक् या विपरीत जान पड़े तो ऐसी रचना में जनता की अभिरुचि नहीं हो सकती। अतः इन रचनाओं में भी स्वानुभूति और लोकानुभूति दोनों का मेल रहता है। निष्कर्ष यह कि पूर्वोक्त वर्गीकरण तात्त्विक नहीं। ऐसे निस्तत्त्व भेद की अंधी अनुकृति कवियों के लिए अशोभन है। अपने गीतों से क्या काम नहीं चलता ?

इसी स्थान पर इसका भी विचार कर लेना चाहिए कि ऐसी रचनाओं का विशेष महत्त्व क्यों माना जाने लगा है। इसका मुख्य कारण है वही 'कला' शब्द जो और भी कितनी ही विलायती अनुकृतियों का मूल है। जब से 'कला' के अंतर्गत कविता गृहीत होने लगी

तभी से साधारण कोटि की कारीगरियों पर घटित होनेवाली स्थितियों का लगाव उससे भी जोड़ा जाने लगा। कला की कृति प्रस्तुत करनेवाले कलाकार या कारीगर में उसी की अनुभूति का विशेष योग देख पड़ता है। कला की ऐसी कृतियाँ पाश्चात्य देशों में ही विशेष निर्मित हुईं। भारतीय कारीगर तक लोकमानस के अनुरूप ही अपनी कृति का प्रदर्शन करता आया है। अतः पाश्चात्य देशों में कला अधिकतर स्वानुभूतिव्यंजक ही मानी जाने लगी। क्योंकि जहाँ कलाकार लोक-रुचि के अनुसार कृति का निर्माण करता था वहाँ वह सुंदरता नहीं दिखाई पड़ती थी जो सुंदरता आत्मरुचि की प्रेरणा से प्रस्तुत कृति में लक्षित होती थी। पर कला के साथ कविता या साहित्य का संबंध जोड़ना ही भ्रमात्मक है। कला की कृति केवल सौंदर्यानुभूति उत्पन्न करती है और कविता रसानुभूति। तात्पर्य यह कि कारीगर की कृति को देखकर हम उसकी कारीगरी की प्रशंसा कर सकते हैं, किंतु उस कृति में जो भाव व्यक्त किया गया हो उसमें मग्न नहीं हो सकते। युद्ध का चित्र या मूर्ति देखकर उत्साह की भावना नहीं जग सकती। किंतु काव्य में इसी प्रकार के वर्णन पढ़कर उत्साह की भावना जगती है। अतः कला कविता से हलकी वस्तु है। भारतीय वाङ्मय में 'कला' शब्द का व्यवहार संगीत और शिल्प के ही लिए होता है[1] और चौसठ कलाओं के अंतर्गत कविता की गणना नहीं होती, केवल निकृष्ट श्रेणी की समस्यापूर्ति इनमें से एक कला मानी जाती है। अतः भारतीय दृष्टि से कविता को 'कला' कहना उसका अमान करना है।

---

१ कला शिल्पे संगीतभेदे च।—अमरकोश।

कुछ लोग भर्तृहरि के 'साहित्यसंगीतकलाविहीनः' में 'कला' शब्द को 'साहित्य' के साथ भी अन्वित करना चाहते हैं। ऐसे लोगों के लिए संस्कृत व्याकरण और साहित्य का अनुशीलन अपेक्षित है। कुछ लोगों ने 'फाइन आर्टस्' के अर्थ में 'ललितकला' पद की खोज 'ललिते कलाविधौ' (रघुवंश, अजविलाप) में की है—'किमाश्चर्यमतः परम'।

ऊपर निबंध रचना के जो तीन भेद बताए गए हैं उनमें से 'मुक्तक' नाम पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। प्रबंध के विपरीत प्रकीर्ण या मुक्तक नाम से सब प्रकार की स्फुट रचनाओं का बोध होता है, पर गीत या प्रगीत से पृथक् करने के लिए शेष छंदोबद्ध रचनाओं को केवल मुक्तक कहना अधिक सरल प्रतीत हुआ। पुराने कवि ऐसी फुटकल रचनाओं को कदाचित् 'कवित्त' कहा करते थे। तुलसीदासजी की 'कवित्तावली' और 'गीतावली' से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'कवित्त' विशेष रूप से 'घनाक्षरी' को कहते हैं, पर 'कवित्तावली' में सवैया, छप्पय, झूलना आदि छंद भी रखे गए हैं। इससे 'कवित्त' शब्द और व्यापक अर्थ में प्रयुक्त जान पड़ता है। इसी प्रकार 'गीत' और 'प्रगीत' में भी बाहरी ढाँचा एक सा दिखाई देता है, दोनों की व्यंजना प्रणाली में ही स्वरूपभेद लक्षित होता है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

गद्य

गद्य-शैली की रचनाएँ

वाणी सबसे पहले गद्यरूप में ही प्रस्फुटित हुई। किंतु साहित्य में उसका विधान पद्य के अनंतर हुआ। वेदों में बहुत से अंश गद्य में पाए जाते हैं। वेद के अनंतर गद्य का विशेष प्रसार हुआ। लक्षण-ग्रंथों में आवश्यकतानुसार गद्य का व्यवहार देखा जाता है। किंतु संस्कृत-वाङ्मय में गद्य कवितामय ही माना जाता रहा। इसीलिए कहा गया कि कवियों की उत्कृष्टता की कसौटी है गद्य। पद्यबद्ध शैली में कवि को बँधकर चलना पड़ता है इसलिए उसकी वाणी उसमें उन्मुक्त होकर अपना विलास नहीं दिखा सकती। गद्य में स्वच्छंदता के कारण वह अपना विलास-वैभव भली भाँति प्रदर्शित कर सकती है। संस्कृत में बाण कवि की 'कादंबरी' गद्य की सर्वोत्कृष्ट रचना समझी जाती है। बाण के संबंध में पंडितों की उक्ति है कि उनकी समृद्ध रचना के समक्ष अन्य कवियों की कृति उच्छिष्ट (जूठन) जान पड़ती है।[1] यद्यपि संस्कृत में दूसरे प्रकार का गद्य भी लिखा गया तथापि वह राजनीतिक दृष्टि से प्रस्तुत हुआ। उसमें कवित्व भले ही न हो, पर संस्कृत वाग्धारा का प्रवाह थोड़ा बहुत अवश्य दिखाई देता है। ऐसी रचनाएँ हैं—पंचतंत्र, हितोपदेश आदि। कुछ कहानियाँ भी लिखी गईं जिनका उद्देश्य मनोरंजन था। गद्य की छटा इनमें भी मिलती है, जैसे शुकसप्तति सिंहासनद्वात्रिंशिका, वैतालपंचविंशति आदि। फिर भी यह मानना पड़ता है कि संस्कृत में सामान्य व्यवहारोपयोगी चलते गद्य का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया। प्राकृत और अपभ्रंश में भी सरल पद्य का निर्माण नहीं हो सका। देशी भाषाओं में ही आकर सरल गद्य विशेष चलते

---

1 बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।

रूप में दिखाई पड़ता है। इसका कारण साधारण कोटि के वाङ्मय का प्रचार और प्रसार जान पड़ता है। संप्रति शुद्ध साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों के वाङ्मय भी गद्य में ही प्रस्तुत होते हैं। इसलिए गद्य का प्रसार एवं व्यवहार बहुत बड़ी सीमा में हो रहा है। फलस्वरूप आधुनिक काल 'गद्ययुग' कहा जाता है। गद्य ने केवल साहित्येतर वाङ्मयों की आवश्यकता ही नहीं पूर्ण की, साहित्य-क्षेत्र में भी उसके कई स्वरूप दिखाई पड़े। उपन्यास, छोटी कहानियाँ, निबंध आदि गद्य की सरल शैली में विशेष परिष्कृत दिखाई देने लगे हैं। नाटक भी अधिकतर गद्यमय हो गया है। केवल रचना-शैली के विचार से यद्यपि उसकी गणना गद्य में की जा सकती है तथापि अभिनय की विशेषता के कारण उस पर पृथक् विचार किया जायगा। अतः गद्य में लिखी जानेवाली रचनाओं का वृत्त इस प्रकार होगा—
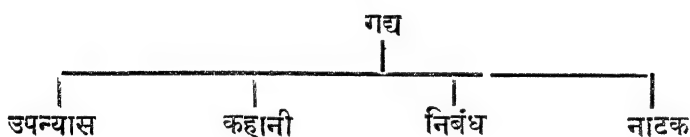
उपन्यास

कथाकाव्य और कविता

मनुष्य में दो प्रकार की वृत्तियाँ पाई जाती हैं—एक कुतूहलवृत्ति और दूसरी रमणवृत्ति। यदि किसी को मार्ग में कहीं भीड़ लगी दिखाई दे तो उसके हृदय में कुतूहल होगा और वह भीड़ एकत्र होने का कारण जानना चाहेगा। भीड़ में पहुँचकर यदि उसे पता चले कि कोई चोर पीटा जा रहा है तो बहुत संभव है कि वह भी धौल-धप्पड़ करने लगे अथवा और कुछ न करे तो दो चार खरी-खोटी अवश्य सुना देगा। उसकी यह क्रिया रमणवृत्ति के कारण है। उसका मन क्रोध भाव में रमने लगता है। इन्हीं दो वृत्तियों की तुष्टि के लिए साहित्य में भी दो

प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत हुईं। जिनमें कुतूहल की प्रधानता और रमण की गौणता रही वे अधिकतर घटना-चमत्कार लेकर चलीं। जिनमें रमण की प्रधानता और कुतूहल की गौणता रही वे भावभूमि के अभिव्यंजन में लगीं। ऐसी रचनाओं का भेद पाठकों की मनोदशा से लक्षित हो जाता है। उपन्यास के पाठक की यही जिज्ञासा रहती है कि 'आगे क्या हुआ' अर्थात् उसका मन अधिकतर घटनाचक्र में ही फँसा रहता है। किसी घटना को बारंबार पढ़कर वह उसमें रमना नहीं चाहता। प्रायः एक बार उपन्यास या कहानी पढ़ लेने पर कोई उसे दुबारा नहीं पढ़ता। कुतूहल या जिज्ञासा की परितुष्टि पर ही दृष्टि रखकर ऐयारी और जासूसी उपन्यासों का चलन हुआ। किंतु यह न समझना चाहिए कि साहित्यिक उपन्यासों में पाठक की जिज्ञासा दब जाती है और रमणवृत्ति प्रबल हो उठती है। उन्हें पढ़ते समय भी घटनावली पर ही वृत्ति जमती है। पर इसके विपरीत कविता पढ़ते या सुनते समय पाठक उसमें रमता है। कवि-संमेलनों में अच्छी कविता सुनकर श्रोता जो 'फिर से सुनाइए' की घोषणा करते हैं उसका कारण रमणवृत्ति ही है। पाठक या श्रोता कविता में कुछ देर तक रमा रहना चाहता है। कहा जाता है कि 'भूषण' ने शिवाजी को अपना एक ही छंद बावन बार सुनाया था। यह रमणवृत्ति की पराकाष्ठा है। इस विवरण से कथाकाव्य और कविता का अंतर स्पष्ट हो जाता है। अतः ये साहित्य की पृथक् पृथक् धाराएँ हैं।

कथाकाव्य की परंपरा

भारत में अत्यंत प्राचीन काल से गद्य में कथाकाव्य लिखने का प्रचलन है। उपन्यासों के ढंग की लंबी लंबी और कहानियों के ढंग की छोटी छोटी दोनों प्रकार की कथाएँ लिखी गईं। यद्यपि महर्षि पतंजलि के महाभाष्य में वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, भैमरथी आदि बड़ी बड़ी कथाओं का उल्लेख है पर वे अब प्राप्त नहीं। संस्कृत में सबसे पहले जो कथाकाव्य मिलता है वह दंडी का दशकुमारचरित है। इसके

अनंतर सुबंधुकृत वासवदत्ता का नाम आता है। तदनंतर बाण भट्ट के दो अद्भुत ग्रंथ मिलते हैं—हर्षचरित और कादंबरी। इनके देखने से पता चलता है कि कथाकाव्य दो प्रकार के होते थे—ऐतिहासिक इतिवृत्तवाले और कल्पित कथावस्तुवाले। पहले प्रकार की रचना 'आख्यायिका' और दूसरे प्रकार की 'कथा' कहलाती थी। संस्कृत की इन रचनाओं में जैसा पहले कहा जा चुका है काव्यतत्त्व का विशेष विधान होता था। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनमें घटनावली का संविधान कम होता था अथवा इनमें कथांशों की भंगिमाएँ नहीं होती थीं। कादंबरी और वासवदत्ता की कथाएँ आधुनिक उपन्यासों की वैचित्र्यपूर्ण घटनाओं से बहुत मिलती हैं और रोमांचक (रोमांटिक) उपन्यासों की कोटि में आती हैं। अतः यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारत में पहले उपन्यास थे ही नहीं, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि दोनों में निश्चय ही दृष्टिभेद है। संकृत के कथाकाव्यों का लक्ष्य रस था और आधुनिक उपन्यासों का साध्य है शीलवैचित्र्य। प्राचीन काव्यों में पात्रों की विशेषता पर वैसी दृष्टि नहीं रखी जाती थी। कृति में गृहीत सभी पात्रों के शील पर कर्ता की पृथक् पृथक् दृष्टि नहीं होती थी। उन्हें अंकित करने में पृथक् पृथक् पात्र की शीलगत विशेषता प्रस्फुटित करते हुए प्रयत्न का लक्ष्य उनकी अलग अलग रूपरेखा खींचना नहीं होता था, भले ही स्वतः उस प्रकार का अयत्नसाध्य विधान हो जाय। दृष्टि थोड़ी बहुत काव्य के नायक और नायिका पर ही रहती थी। उनके भी ढले ढलाए साँचे ही काम में लाए जाते थे। धीरोदात्त, धीरललित आदि के नपे तुले गुणों का ही न्यूनाधिक परिमाण में उद्घाटन किया जाता था। इसी से इन पात्रों की एकरूपता ही दिखाई देती है।

प्राकृत और अपभ्रंश में भी लंबी प्रेमकथाएँ लिखी गई होंगी, पर वे अब मिलती नहीं। अपभ्रंश में लिखी 'भविसयत्तकहा' (भविष्यद्दत्तकथा) नाम की पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। इस प्रकार उपन्यासों का प्रसार देशी भाषाओं में ही आकर हुआ और यह भी एक शतक से अधिक प्राचीन नहीं है। हिंदी के आरंभिक युग में उपन्यास के अनुरूप

प्रेमकथाएँ पद्य में ही लिखी जाती थीं क्योंकि तब तक गद्य का न स्वरूप ही निखरा था और न उसका साहित्य में प्रचलन ही हो पाया था। प्रेममार्गी सूफी कवियों द्वारा रचित प्रेमकथाएँ औपन्यासिक ही हैं। इन प्रेमगाथाओं की परंपरा संस्कृत के वासवदत्ता आदि गद्य-कथाकाव्यों से जुड़ी हुई प्रतीत होती है। सुबंधु की वासवदत्ता और सूफी कवियों के कल्पित प्रेमकाव्यों में अत्यधिक सादृश्य है। अंतर यही है कि प्राचीन कथाएँ शुद्ध साहित्यिक प्रेमकाव्य हैं और सूफियों के प्रेमकाव्य लौकिक एवं अलौकिक दोनों पक्षों की योजना के कारण सांप्रदायिकता का पुट लिए हुए हैं। सूफी कवियों ने या तो समाज में प्रचलित उन्हीं प्राचीन कहानियों को फिर से अपने ढंग से काव्यबद्ध किया अथवा उन्हीं के आदर्श पर कुछ कहानियाँ गढ़ीं भी। हिंदी में नए ढंग के उपन्यासों का श्रीगणेश श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' से समझना चाहिए। अतः हिंदी में नए उपन्यासों का चलन बहुत कुछ अँगरेजी और बँगला के उपन्यासों की प्रेरणा से ही हुआ।

आरंभ में हिंदीवालों का ध्यान घटना-वैचित्र्य पर ही गया। अतः उस समय साहित्यिक और असाहित्यिक या शुद्ध मनोरंजनवाले उपन्यासों दोनों में घटनाओं का ही घटाटोप दिखाई देता था। जिनकी दृष्टि संस्कृत की ओर थी उन्होंने काव्यत्व का भी पूर्ण विधान अपनी कथा में किया। ध्यान देने की बात है कि आरंभ में जितने उपन्यास लिखे गए उनमें पूर्वपीठिका के रूप में प्रकृतिवर्णन, स्थानवर्णन, काल-निर्देश आदि का विधान साधारण से साधारण, यहाँ तक कि शुद्ध मनो-रंजनवाले उपन्यासों में भी, अवश्य होता था। उस समय के उपन्यासों में शीलवैचित्र्य का वैसा विधान नहीं हुआ था जैसा आगे चलकर हुआ। इसलिए लेखकों की दृष्टि यदि घटनाओं से हटती तो थोड़ी बहुत वर्णनों पर ही जमती थी। अतः यह कह सकते हैं कि उन उपन्यासों का ढर्रा कुछ कुछ भारतीयता का प्राचीन रूप-रंग लिए हुए अवश्य था। उपन्यासों से जैसा काव्यतत्त्व इधर हटा वैसा कभी नहीं। यही दशा

बँगला के उपन्यासों की भी थी। पर वहाँ भी अब काव्यतत्त्व हट चला है।

ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों के प्रसार तथा बँगला के उपन्यासों के अनुवाद से हिंदी में उपन्यासों के लिए क्षेत्र प्रस्तुत करने में बहुत अधिक सहायता मिली। लेखक के लिए भी आकर्षण हुआ और पाठक की रुचि भी धीरे धीरे आपसे आप साहित्यिक उपन्यासों के अनुकूल होती रही। तत्कालीन लेखकों का प्रयत्न शुद्ध होता था, सांप्रदायिकता का समावेश उसमें नहीं हो पाया था। असाहित्यिक उपन्यास भी शुद्ध मनोरंजन की ही दृष्टि से लिखे जाते थे, वे भी वादग्रस्त नहीं थे। बीभत्स प्रेम-व्यापार यथातथ्यवाद के नाम पर उनमें कहीं भी नहीं दिखाया गया। राजनीतिक मसले सुलझाने या उनका प्रचार करने के लिए कृत्रिम रूपरेखा खींचने का प्रयास उनमें कहीं भी नहीं है, भले ही उनमें चमत्कार के नाम पर कृत्रिम विधान किया गया हो उनमें कथा भी उच्च वर्ग की ही गृहीत होती थी। केवल जासूसी उपन्यास, जो कथा के विचार से सबसे पृथक् दिखाई देते हैं, थोड़ा बहुत जन-समाज की कथा का छींटा मारते चलते थे। साहित्यिक उपन्यासों में से कुछ में प्रेम-व्यापार का विकृत रूप अवश्य दिखाई पड़ा। फिर भी वैसा नहीं जैसा इधर के यथातथ्यवादियों की रचनाओं में।

हिंदी-उपन्यासों की प्रवृत्ति

हिंदी का समस्त उपन्यास-वाङ्मय देखने से ज्ञात होता है कि वह समृद्ध हो चला है। उसमें बहुरंगी रचनाएँ निर्मित हो चुकी हैं। अलग अलग प्रवृत्तिवाले उपन्यास-लेखक दिखाई देने लगे हैं। फिर भी उनमें कुछ ध्यान देने योग्य बातों पर विचार करने की आवश्यकता है। इधर जितने उपन्यास धड़ल्ले के साथ निकल रहे हैं उनकी कथावस्तु पर दृष्टि डालिए तो उनमें स्कूल, कालिज, सभासमाज, कांग्रेस-आंदोलन, मोटर, क्रिकेट, प्रदर्शनी तक ही कथा परिमित रहती है। प्रेमचंद ने जैसी सर्वसामान्य और व्यापक कथाभूमि पर उपन्यासों का निर्माण किया

वैसा बहुत कम दिखाई देता है। जिनमें उपन्यास पढ़ने की रुचि है उन्हीं का जीवन-कथाबद्ध करने से बिक्री में कुछ सहायता मिलती तो है, किंतु इससे जीवन की संपूर्णता का आभास नहीं मिलता। हमारा जीवन इतना ही नहीं है, इसलिए हमारे जीवन का आभास इतने ही से नहीं दिया जा सकता। यह तो जीवन का एक कोना है और बहुत ही छोटा। जीवन का वास्तविक पक्ष दबाकर उसका छोटा और नकली पक्ष सामने रखना कम से कम समझदारी की बात तो नहीं।

दूसरी खटकनेवाली प्रवृत्ति है दिन पर दिन वर्णनों का संकोच होना। लेखक जिन घटनाओं और जिन पात्रों का ग्रंथ में संनिवेश करता है वे किसी विशेष स्थान और किसी विशेष आकार से संबद्ध होते हैं। धीरे धीरे उपन्यासों से स्थानों का वर्णन, जिसमें प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी संमिलित है, हट ही गए; अब पात्रों के चित्र भी हटाए जा रहे हैं। इसलिए उपन्यासों में एक प्रकार का सूनापन आ गया है। यह कहना कि पाठक अपनी ओर से चित्र की कल्पना कर लेगा, कोई समाधान नहीं। घटनाओं की पूर्णता इसी में है कि वे हमें किसी विशेष स्थल में घटित होती दिखाई दें। उनकी यदि सूक्ष्म नहीं तो स्थूल रूप-रेखा तो होनी ही चाहिए। जैसे प्रबंधकाव्य वर्णन का अपेक्षा रखता है वैसे ही उपन्यास भी। काव्य के वर्णन मन रमाने के लिए होते हैं और उपन्यास के वर्णन पहचान के लिए। पाठक प्रत्येक पात्र को अलग अलग पहचानना चाहता है। उनकी पहचान तभी हो सकती है जब उनके रूप और स्वभाव की विशेषताओं का पृथक् पृथक् उद्घाटन किया जाय।

तीसरी बात है सांप्रदायिक प्रचार की। यदि संकेत द्वारा किसी मत के प्रचार का प्रयास किया जाय तो उतना नहीं खटकता, पर मतवाद के फेर में यदि वास्तविकता का अपलाप किया जाय तो साहित्य के लक्ष्य को हानि पहुँचती है। हिंदी में इधर कुछ उपन्यास सांप्रदायिक प्रेरणा से प्रस्तुत होने लगे हैं और सांप्रदायिकता का आरोप अच्छे अच्छे उपन्यासकारों की रचना पर भी न्यूनाधिक परिमाण में होने लगा है। यहाँ

तक कि प्रेमचंद की रचनाएँ भी इससे अछूती नहीँ, यद्यपि उनके उपन्यासोँ मैँ संप्रदायवाद अधिकतर प्रच्छन्न रूप मैँ ही दिखाई देता है, जिसे साहित्य की दृष्टि से वैसा उद्वेगजनक नहीँ कह सकते। सांप्रदायिकता के चक्कर मैँ पड़ने से सब से बड़ा दोष यह आ जाता है कि लेखक के निरीक्षण मैँ सचाई नहीँ रह जाती। कभी कभी तो ऐसा जान पड़ने लगता है मानो उसने बिना निरीक्षण किए ही ऐसी बातँ लिख मारी हैँ। ठाकुर श्रीनाथसिंह का 'जागरण' उपन्यास सांप्रदायिक उपन्यास का अच्छा उदाहरण है।

उपन्यासकार के लिए चौथी घातक बात कुछ कर दिखाने का हौसला है। कभी कभी लेखक इस फेर मैँ पथ-भ्रष्ट हो जाते हैँ। वे उपन्यास द्वारा जो कुछ व्यक्त करना चाहते हैँ वह इतना अपरूप हो जाता है कि पाठक उसके साथ साथ नहीँ चल सकता। राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह का 'राम-रहीम' उपन्यास हिंदी के नए उपन्यासोँ मैँ बहुत बड़ा और रंगीन भाषा के कारण बहुत रोचक भी है। किंतु राम-रहीम की एकता लक्षित कराने के चक्कर मैँ भारतीय संस्कृति का महत्त्व सामाजिक दृष्टि से दब सा गया है। यद्यपि लेखक दिखलाना चाहता है कि हिंदू-जीवन नरत्व से देवत्व की ओर बढ़ता है और मुसलमानी जीवन असुरत्व से नरत्व की ओर, तथापि पाठक को 'बिजली' और 'बेला' के जीवन से इस बात की कल्पना करने मैँ अड़चल उपस्थित होती है।

उपन्यास के भेद

संस्कृत मैँ उपन्यासोँ के मुख्य दो भेद किए गए हैँ—कथा और आख्यायिका। उनका लक्षण करते हुए केवल बाह्य लक्षणोँ का ही उल्लेख किया गया है इसी से कुछ लोग दोनों मैं नाम का ही भेद मानते हैँ; विषय, कथा या साध्य का नहीँ।[1] ध्यान देने से पता चलता है कि

---

१ तत्कथाऽऽख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥ —काव्यादर्श

कल्पित वृत्त लेकर जिसकी रचना की जाय वह 'कथा' और जिसमें ऐतिहासिक वृत्त गृहीत हो वह 'आख्यायिका' है। यद्यपि कहीं कहीं गद्य-कथाकाव्य के पाँच भेद भी किए गए हैं [1] तथापि शेष तीन (खंडकथा, परिकथा और कथालिका) कहानी से संबंध रखनेवाले हैं। संप्रति उपन्यास की जितनी रचनाएँ मिलती हैं उन्हें दृष्टि में रखकर उनके भेद कई प्रकार से किए जा सकते हैं—(१) कथावस्तु के विचार से, (२) पात्र-चरित के विचार से, (३) कथन शैली के विचार से और (४) उद्दिष्ट विषय के विचार से।

कथावस्तु के विचार से तीन भेद किए जा सकते हैं—(१) ख्यात-वृत्त, (२) कल्पितवृत्त और (३) मिश्र। ख्यातवृत्त में ऐतिहासिक वृत्त ग्रहण किया जाता है। इनके भी दो प्रकार दिखाई देते हैं—एक तो वे जिनमें पुरातत्त्व के अनुसंधान पर शुद्ध ऐतिहासिक कथा का संविधान किया जाता है और दूसरे वे जिनमें स्थूल रूप से ऐतिहासिक कथा गृहीत होती है। पहले प्रकार के उपन्यास हिंदी में नहीं हैं। किंतु बँगला और मराठी से ऐसे शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हिंदी में अनूदित हुए हैं। 'शशांक' और 'करुणा' बँगला से तथा 'छत्रसाल' मराठी से। स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद' 'इरावती' नाम का ऐसा ही शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास लिख रहे थे पर वह अधूरा रह गया। दूसरे प्रकार के अंतर्गत बाबू वृंदावनलाल वर्मा के गढ़कुंडार, विराटा की पद्मिनी आदि उपन्यास आते हैं। क्योंकि इनमें ऐतिहासिक तथ्यों का वैसा विचार नहीं रखा गया है जैसा 'शशांक' आदि में। पहले प्रकार के उपन्यास वही प्रस्तुत कर सकता है जो अपने विशेष अध्ययन द्वारा प्राचीन काल की रीति-नीति तथा गति-विधि से परिचित हो और जिसमें अतीत का पटल चीरकर पुरातन वस्तुओं या व्यक्तियों की झाँकी कर सकनेवाली कल्पना तथा साथ ही दूसरों को उनके दर्शन करा सकनेवाली शक्ति भी हो। अतः पहले प्रकार के उपन्यास लिखना विशेष कठिन है।

---

१ आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथालिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यञ्च पञ्चधा॥

कल्पित वृत्त अधिकतर गद्य-कथाकाव्यों में ही गृहीत होता है। इसलिए उपन्यासों के अन्य सभी भेद कथावस्तु के विचार से इसी के अंतर्गत आएँगे। फिर भी घटनाओं के विचार से कुछ में घटनाओं की प्रधानता रहती है और कुछ में गौणता। घटना-प्रधान कथाकाव्यों के भी दो भेद दिखाई देते हैं - एक वे जिनमें असंबद्ध पर चमत्कारपूर्ण घटनाएँ हों. दूसरे वे जिनमें सुसंबद्ध रोचक घटनाए हों। पहले के अंतर्गत तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास आते हैं और दूसरे के अंतर्गत जासूसी। घटनाओं की गौणता का विशेष हेतु होता है। इसीलिए भाषा, व्यंजना या कवित्व का चमत्कार दिखलाना जिनका ध्येय होता है उनमें ही स्वभावतः ऐसा विधान देखा जाता है। इस प्रकार के कथाकाव्यों के अंतर्गत ठेठ हिंदी का ठाठ, सौंदर्योपासक तथा श्यामास्वप्न परिगणित होंगे। पहले में भाषा का ठेठ रूप, दूसरे में भावव्यंजना का चमत्कार और तीसरे में कवित्व की रमणीयता दिखलाई गई है। फलतः घटनाएँ गौण हैं। मिश्रवृत्त के अंतर्गत ऐसे उपन्यास आएँगे जिनमें नाममात्र के लिए ख्यात वृत्त ग्रहण किया गया हो पं० किशोरीलाल गोस्वामी के वे उपन्यास, जो मुगलों और नवाबों का इतिवृत्त लेकर लिखे गए हैं, इसी कोटि में आएँगे।

कुछ उपन्यासों में घटनाओं और पात्रों का तुल्यबल विधान होता है और कुछ में पात्रों का निरूपण घटनाओं से अपेक्षाकृत विशिष्ट होता है। काव्य की दृष्टि से पहले प्रकार के ही कथाकाव्य शुद्ध साहित्यिक कहे जा सकते हैं, यदि उनमें प्रत्यक्ष सांप्रदायिकता का प्रदर्शन न हो। प्रेमचंद और कौशिक के अधिकतर उपन्यास इसी कोटि में आते हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों में प्रच्छन्न सांप्रदायिकता भी लगी रहती है। विशेषतया उनके पिछले कोटि के उपन्यासों में ऐसा ही हुआ है। इसी से उनके उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ 'गबन' ही ठहरता है, जो इससे प्रायः मुक्त है और जिसमें सांप्रदायिकता के अभाव में रमानाथ की अत्यंत मनोवैज्ञानिक रूपरेखा खींची गई है। श्री जैनेंद्रकुमार के उपन्यासों में

पात्रों के चरित्र की ही प्रधानता है। अतः वे दूसरे भेद के अंतर्गत माने जायँगे।

उपन्यास लिखने की कई पद्धतियाँ चल पड़ी हैं। संस्कृत के पुराने कथाकाव्यों में स्वयं नायक या कोई दूसरा पात्र कथा कहता था।[१] दूसरे पात्र या स्वयं लेखक के कहने में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। अस्तु, दो पद्धतियाँ तो प्राचीन काल से ही चली आ रही हैं। पर इधर और भी कुछ शैलियाँ निकली हैं। इसलिए संप्रति उपन्यास चार शैलियों में लिखे जा रहे हैं—ऐतिहासिक या अन्यपुरुषवाचक शैली, आत्मचरित या उत्तमपुरुषवाचक शैली, पत्रात्मक शैली और डायरी शैली। अधिकतर उपन्यास प्रथम दो शैलियों में ही लिखे जाते हैं। अन्य पद्धतियाँ केवल चमत्कार-विधान की दृष्टि से प्रचलित हुई हैं, उनमें वह स्वाभाविकता नहीं जो उपन्यासों के लिए अपेक्षित होती है। कहानियों में तो इन चमत्कारिक शैलियों का प्रयोग उसके छोटे ढाँचे के कारण नहीं खटकता, किंतु उपन्यासों में ये अत्यंत कृत्रिम जान पड़ती हैं। शैली का कोई और मार्ग न पाकर कुछ लोग भाषा-चमत्कार दिखाने में ही लग रहे हैं। 'ठेठ हिंदी का ठाठ' दिखाने तक तो गनीमत थी, अब 'टवर्ग'-हीन उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं। नवीनता का नशा चाहे जो कराए। इस प्रकार के उपन्यासों से विलक्षणता का बोध चाहे जितना हो किंतु उपन्यासों के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती।

समाज में अनेक प्रकार की उलझनें होती हैं। कुछ केवल सामाजिक होती हैं, कुछ धार्मिक और कुछ राजनीतिक। हिंदी में इन उलझनों अर्थात् समस्याओं को लेकर भी कुछ उपन्यास लिखे गए। उनके सुलझाव का मार्ग भी किसी किसी में दिखलाया गया है। पर अब भी यह कहा जा सकता है कि हिंदी में अच्छे सामाजिक उपन्यासों का अभाव है। धार्मिक समस्याओं को लेकर एक आध ही उपन्यास लिखे

---

[१] नायकेनैव वाच्याऽन्या नायकेनेतरेण वा।

गए और राजनीतिक समस्याओं को लेकर जो लिखे भी गए वे प्रायः सांप्रदायिक हो गए। इसलिए समस्यामूलक उपन्यासों का हिंदी में एक प्रकार से अभाव ही है।

उपन्यास के तत्त्व

भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार उपन्यास में भी तीन तत्त्व माने जा सकते हैं—वस्तु, नेता और रस। किंतु उपन्यासों का विकास अधिकतर पाश्चात्य साहित्य की अनुकृति पर हो रहा है इसलिए उनमें 'रस' के लिए उतना अवकाश नहीं रह गया जितना पात्रों के चरित्र-विकास का। संस्कृत-साहित्य में मुख्य पात्र होता था 'नेता' और कथा-काव्यों में उसी के चरित्र का विशेष अवधानतापूर्वक निदर्शन होता था। किंतु आधुनिक उपन्यासों में नियोजित प्रमुख और गौण दोनों प्रकार के पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताएँ सूक्ष्म से सूक्ष्म विभेद के साथ प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसलिए भारतीय शास्त्रों का केवल एक ही तत्त्व ऐसा दिखलाई देता है जो उभयनिष्ठ है। कथावस्तु का जितना विस्तार भारतीय शास्त्र में किया गया उतना अन्यत्र नहीं।

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के अनुसार कथाकाव्यों के छह तत्त्व माने जाते हैं—वस्तु, चरित्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य। संघटन और विस्तार के विचार से कथावस्तु के दो वर्ग होते हैं और प्रत्येक वर्ग के पृथक् पृथक् दो और भेद भी किए जाते हैं। संघटन की दृष्टि से कथावस्तु दो प्रकार की देखी जाती है—शिथिल या निरवयव (लूज) और सावयव (आरगैनिक)। पहले प्रकार की वस्तु वह है जिसमें बहुत सी असंबद्ध या विच्छिन्न घटनाएँ इस प्रकार जुड़ी हों कि उनमें कोई तर्कसिद्ध या अपेक्षित संबंध प्रतीत न हो। इस प्रकार की कथाओं में कथाप्रवाह कार्यप्रवाह से संबद्ध नहीं होता, प्रत्युत उपन्यास के नायक या नायिका के कार्य-व्यापार पर आश्रित रहता है। नायक ही मध्यस्थित होता है और उसी के चारों ओर घटनाओं का आवरण घिरा होता है। ऐयारी और तिलस्मी कथाएँ बहुत कुछ इसी प्रकार की होती हैं। दूसरे

प्रकार की वस्तु वह है जिसमें प्रत्येक घटना एक दूसरी से अंगों के रूप में संबद्ध होती है और उनके घटित होने का तर्कपूर्ण और अपेक्षित हेतु होता है। ऐसी वस्तु केवल नायकाश्रित नहीं होती, अधिकतर कार्य-प्रवाह से संबद्ध रहती है।

विस्तार के विचार से कथाओं के दो प्रकार के भेद और किए जाते हैं—शुद्ध या एकार्थ (सिंपुल) और संकुल (कंपाउंड)। शुद्ध वस्तु में केवल एक ही कथा होती है। हिंदी में बाबू सियारामशरण गुप्त के उपन्यास 'नारी' में एकार्थ वस्तु का ही विधान है। दूसरे प्रकार की वस्तु वह है जिसमें दो या दो से अधिक कथाएँ जुड़ी चली गई हों और उनका पर्यवसान भी एक ही लक्ष्य में हो। 'राम-रहीम' में 'बेला' और 'बिजली' की कथाएँ इसी प्रकार संबद्ध हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पंचसंधियों और अर्थप्रकृतियों का जैसा गुंफन अपने यहाँ होता था और उसका जितना विस्तृत विवेचन यहाँ था, पश्चिमी देशों में नहीं। इनके भेद-प्रभेदों का अनुशीलन करके स्वच्छ दृष्टि द्वारा यदि कथाकाव्यों की छानबीन की जाय तो उनके उदाहरण भी मिल सकते हैं और सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कुछ नए स्वरूपों का भी आभास मिल सकता है। यहाँ अधिक विस्तार का अवकाश नहीं अतः इस पर कभी स्वतंत्र रूप में विचार किया जायगा।

पात्र (कैरेक्टर) दो प्रकार के माने जाते हैं गूढ़ कंप्लेक्स) चरित्र और अगूढ़ (सिंपुल या फ्लैट) चरित्र। गूढ़ चरित्रवाले पात्र वे होते हैं जिनके वास्तविक रूप का निर्णय कठिन हो अर्थात् जिनके कार्य-कलाप द्वारा भिन्न भिन्न लोग उन्हें भिन्न भिन्न वृत्ति का, कोई सत् या कोई असत्, माने। अगूढ़ या सरल चरित्र पात्र वे हैं जिनकी वृत्ति में कोई उलझन न हो, जिनका रूप स्पष्ट हो अर्थात् जिन्हें सब लोग एक ही प्रकार का समझें। शील या चरित्र का यह निरूपण प्रकृति के विचार से किया गया है। नायकों के जो उद्धत, उदात्त, ललित और शांत भेद किए गए थे वे भी प्रकृतिगत ही भेद थे। पर कथाबंध में पात्रों की स्वरूप स्थिति शील की उच्चता और जातिगत तारतम्य के आधार पर भी

हो सकती है। इसमेँ से पहले प्रकार के चरित्रोँ का विचार तो वहाँ हुआ है, पर जातिगत तारतम्य का वैसा नहीँ। शील की उच्चता या नीचता के विचार से एक कोटि आदर्श चरित्र की होती है और जातिगत तारतम्य के विचार से मनुष्यतागत, वर्गगत और व्यक्तिगत विशेषताएँ दिखाई जाती हैँ।[1]

सामान्य पात्रोँ मेँ मनुष्य-मात्र मेँ पाई जानेवाली विशेषताएँ भी लक्षित कराई जाती हैँ। वर्गगत चरित्र के विचार से किसी वर्ग—ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि—का या किसी संप्रदाय - हिंदुत्व, जैनत्व आदि का निदर्शन किया जाता है। व्यक्तिगत चरित्र मेँ किसी की स्वगत विशेषता – क्रोधी, गानप्रेमी आदि—दिखाई जाती है। आदर्श चरित्र साधुता का भी होता है और असाधुता का भी। राम साधुता के आदर्श थे तो रावण असाधुता का। किसी वर्ग की या विशेष प्रकार की वृत्ति का निरूपण जिसमेँ हो उसे पश्चिमी समीक्षक प्रतिरूपक (टिपिकल) चरित्र कहते हैं।

उपन्यासोँ मेँ पात्रोँ के चरित्र का उत्थान पतन भी दिखलाया जाता है और बलाबल भी। कुछ पात्र आरंभ मेँ सद्गुणसंपन्न होते हैँ और अंत मेँ परिस्थिति-वश पतित हो जाते हैँ। कुछ पात्रोँ का पतन से धीरे धीरे उत्थान होता है। कुछ पात्र दृढ़ चरित्रवाले (स्ट्रांग) होते हैँ और कुछ निर्बल चरित्रवाले (वीक)। कुछ न तो दृढ़ होते हैँ न निर्बल। ऐसोँ को 'मध्य श्रेणी' का पात्र मानना चाहिए। तारतम्य के विचार से इन्हेँ उत्तम, मध्यम और अधम कहेँगे। जो अनेक आपत्तियोँ के पड़ने पर भी स्थिरचित्त रहे वह उत्तम और जो कुछ समय तक स्थिर रहे और फिर उद्विग्न हो जाय वह मध्यम और जो साधारण आपत्तियोँ से ही घबरा उठेँ वे अधम हैँ।[2]

---

१ देखिए पं० रामचंद्र शुक्ल कृत 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका।

२ प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति॥

संवाद नाटक का तत्त्व है, पर इसकी योजना काव्य के अन्य भेदों में भी थोड़ी बहुत अवश्य होती है। प्रबंधकाव्यों और कथाकाव्यों दोनों में इसका विधान होता है। कथाकाव्यों में इसकी योजना पात्रों का स्वरूप हृदयंगम कराने और उनमें सजीवता लाने के लिए होती है। संवाद ऐसे होने चाहिए जो हमें पात्रों के समाज के बीच पहुँचा देने में समर्थ हों और साथ हो जो उनका चरित्र भी लक्षित करा सकें। उपन्यास में चरित्रों का अंकन करने के लिए दो प्रकार की पद्धतियाँ ग्रहण की जाती हैं—एक विश्लेषणात्मक (एनलिटिक) और दूसरी रूपकात्मक (ड्रामेटिक)। विश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा उपन्यासकार ही पात्रों का शील कहता है और रूपकात्मक पद्धति स्वयं पात्र की उक्तियों या संवाद का सहारा लेती है। संप्रति उपन्यासों में भी रूपकात्मक पद्धति ही शीलनिदर्शन की श्रेष्ठ पद्धति मानी जाती है। अतः उपन्यासों में संवादों का विशेष महत्त्व दिखाई देने लगा है। संवाद सामान्य रूप में छोटा होना चाहिए। वाक्य में शब्दों के क्रम का विधान व्याकरणानुमोदित न होकर बोलचाल के अनुरूप होना चाहिए ; जिससे पात्र का व्यक्तित्व और मनःस्थिति लक्षित करने में सहायता मिल सके। संवाद के संबंध में दूसरी बात है उसका स्वतंत्र अस्तित्व।[1] इस विचार से संलाप और संवाद को पृथक् पृथक् किया जा सकता है। संलाप किसी विषय, वस्तु या व्यक्ति को आधार बनाकर की जानेवाली वह बातचीत है जिसका प्रसंग से अतिरिक्त अपना कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं दिखाई देता; पर संवाद किसी विषय, वस्तु आदि के आधार पर तर्क-वितर्क के साथ किया जानेवाला वह वाग्विनिमय है जो प्रसंग के बाहर भी अपना स्वतंत्र महत्त्व दिखला सके। इस प्रकार के संवादों की योजना अच्छे अच्छे उपन्यासकारों में ही पाई जाती है। यदि कहीं नाटककार उपन्यास लिखने बैठा तो उसमें इस प्रकार के स्वच्छंद संवाद बहुत पाए जाते हैं, जैसे 'प्रसाद' जी के उपन्यासों में।

---

१ देखिए बर्कफाल्ड का 'दि प्रिंसिपुल्स आव्

देशकाल का तात्पर्य है उपन्यास में वर्णित स्थान और समय का औचित्यपूर्ण विधान। घटनाएँ जिस प्रकार विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा संघटित होती हैं उसी प्रकार विशिष्ट स्थान और समय में संघटित भी। देशकाल का यह संविधान दो प्रकार का होता है—समाजगत और वस्तुगत। किसी विशेष समाज से उपन्यासगत पात्रों का संबंध होता है। उस समाज की रीति-नीति, चालढाल का सम्यक् वर्णन देश, काल और पात्र के अनुसार करना आवश्यक है। ऐतिहासिक उपन्यासों को सामने रखने से इस तत्त्व के समाजगत वैशिष्ट्य का भली भाँति पता चल जाता है। क्योंकि यदि उन उपन्यासों में तत्कालीन समाज के आचार-व्यवहार का ठीक ठीक निरूपण न किया जाय तो उनका उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। वस्तुगत वर्णनों के अंतर्गत व्यक्तियों और वस्तुओं का भी वर्णन आता है और प्रकृति का भी। हिंदी के आधुनिक उपन्यासों में वस्तु और व्यक्तियों का वर्णन तो थोड़ा बहुत पाया जाता है किंतु प्रकृति-वर्णन का अभाव होता जा रहा है। 'हृदयेश' के 'मंगल-प्रभात' उपन्यास में प्रकृति-वर्णन की बहुत ही सुंदर योजना हुई है। किंतु हिंदीवाले उधर आकृष्ट नहीं हुए।

शैली का संबंध काव्य के सभी विभागों से है अतः उसका पृथक् विचार आगे चलकर किया जायगा। उपन्यास-रचना कोई उद्देश्य लेकर ही होती है। अपने यहाँ भी कहा गया है कि निष्प्रयोजन कोई कर्म नहीं होता, साधारण व्यक्ति तक प्रयोजन से ही प्रेरित होकर कार्य करते हैं।[१] यह उद्देश्य 'जीवन की व्याख्या' माना जाता है। किंतु विचार करने से प्रतीत होता है कि साहित्यकार अथवा उपन्यासकार का उद्देश्य मानव-हृदय के भावों एवं अनुभूतियों की व्यंजना करना ही है। जीवन तो साधन मात्र है। उस व्यंजना द्वारा वह पाठक के हृदय में आनंद की वह स्थिति ला देता है जिसे भारतीय आचार्यों ने अलौकिक कहा है। भावों एवं अनुभूतियों की सीमा 'जीवन की व्याप्ति' से बड़ी है।

---

१ प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते।

जीवन की व्याख्या को उद्देश्य मान लेने से साहित्यकार की दृष्टि क्रमशः संकुचित होती गई, यथार्थ का भद्दा आग्रह बढ़ा। अतः बहुत से लेखक ऐसे भी दिखाई देने लगे जो जीवन के एक कोने या अंग को ही पूर्ण जीवन मान बैठे। फलस्वरूप साहित्य-क्षेत्र में ऐसे उपन्यासों की भी बाढ़ आई जो यथार्थवाद की ओट में नरक के दृश्य प्रस्तुत करने लगे। भावों और अनुभूतिओं को उद्दिष्ट मानकर चलने से इस प्रकार के पतन की संभावना कम थी। साहित्य की यह वह अंतःसत्ता है जिसके कारण विभिन्न देशों के ग्रंथों का पारायण करके तदितर देशों के व्यक्ति भी रस-मग्न होते हैं। लोकजीवन की आत्मा अनुभूति की मार्मिक व्यंजना ही है।

कहानी

मनुष्य-समाज में कहानियों का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है। मानवजाति का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद है। उसमें कई कहानियाँ मिलती हैं—शुनःशेप, उर्वशी, यमयमी आदि की। ब्राह्मण-ग्रंथों, उपनिषदों आदि में भी यथास्थान कहानियाँ पाई जाती हैं। पुराण, महाभारत आदि तो कहानियों के भांडार हैं। 'पुराण' शब्द का अर्थ ही है 'प्राचीन कथा'। वैदिक काल की लुप्त और विस्मृत होती हुई कथाएँ पुराणों में पद्यबद्ध कर दी गई हैं। हिंदूवाङ्मय ही नहीं बौद्धों का वाङ्मय भी कथाओं से भरा है। जातक-कथाओं में महात्मा बुद्ध के पूर्वजीवन की कथाएँ हैं। उनमें ऐसी कथाएँ भी मिलती हैं जो आधुनिक कहानियों के साँचे में बहुत थोड़े परिवर्तन से ढाली जा सकती हैं। पैशाची भाषा में गुणाढ्य की 'बड्डकहा' (बृहत्कथा) अनेक कहानियों का अद्भुत संग्रह थी, जो लुप्त हो गई। उसी के आधार पर लिखी हुई दो संस्कृत पुस्तकें मिलती हैं – बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर. इन्हीं से उस अद्भुत रचना का कुछ आभास मिल जाता है।[1] जैनियों के अपभ्रंश भाषा के ग्रंथों

१ संस्कृत में पचतंत्र और हितोपदेश दूसरे ही प्रकार की कहानियाँ सुनाते हैं—'ईसप' की जिन कहानियों की पाश्चात्य देशों में बड़ी धूम है वे इन्हीं के अनुकरण पर निर्मित हुई हैं।

में भी बहुत सी कथाएँ पाई जाती हैं। अपभ्रंशों के बाद देशी भाषाओं में अधिकतर पद्य-रचना होती रही। इसलिए उनमें जो थोड़ी बहुत कहानियाँ आरंभ में दिखाई पड़ती हैं वे पद्यबद्ध ही हैं। अँगरेजों के आगमन के अनंतर गद्य का प्रवाह प्रबल वेग से बहने लगा। फलस्वरूप भारत की देशी भाषाओं में गद्य का विशेष उत्थान हुआ और आधुनिक ढंग की कहानियों को अवकाश मिला। यों तो कहने के लिए हिंदी में 'रानी केतकी की कहानी' से ही कहानी का आरंभ हो जाता है, किंतु 'कहानी' कही जाने योग्य रचनाओं का प्रचलन वस्तुतः 'सरस्वती' और 'इंदु' नाम की पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ आरंभ होता है।

यह तो स्पष्ट है कि छोटी छोटी कहानियों की बाढ़ जीवन की संकुलता बढ़ने से ही हुई। विज्ञान की भीषण उन्नति के साथ साथ, नागरिक ही नहीं ग्रामीण भी, विशेषतया पश्चिमी देशों में और सामान्यतया पूर्व में भी, इतने प्रकार के कर्मों में बँधता जा रहा है कि उसके लिए साँस लेने का भी अवकाश कम होता जा रहा है। इसीसे मानसिक बुभुक्षा की शांति के लिए साहित्य की बड़ी मात्रा ग्रहण करने में वह असमर्थ दिखाई देता है। क्योंकि वह है समय-सापेक्ष और यहाँ है समय की कमी। इसीलिए छोटी छोटी कहानियाँ,जो बहुत थोड़े समय में पढ़ी जा सकती हैं, बहुत प्रचलित हुईं। छोटी कहानियाँ अब इतनी छोटी होने लगी हैं कि दस पंद्रह पंक्तियों के अनुच्छेद तक में समाप्त हो जाती हैं। 'बौना' रूप तो अलग रहे, ये नामरूप-हीन निर्गुण भी बन रही हैं। कहानियों द्वारा जीवनगत कोई मार्मिक अनुभूति या तथ्य व्यंजित होता है। ऐसे रूप के प्रचारक इसे ही सत्य और साध्य कहकर और नामरूप को औपाधिक बतलाकर उन्हें फालतू कहते हैं। एक ओर तो कहानियों के लक्ष्य नानारूपात्मक जगत् के सभी श्रेणियों, वर्गों, स्थितियों के व्यक्ति होते जा रहे हैं और दूसरी ओर नानात्व अर्थात् विशेषता का आवरण हटाया जा रहा है। ध्यान देने की बात है कि जगत् जिस प्रकार नानारूपात्मक है उसी प्रकार नानाभावात्मक भी। भावों की अनुभूति का आश्रय है हृदय, और उसके लिए आलंबन हैं नाना रूप। बिना विशिष्ट

रूपों का सहारा लिए भाव उद्दीप्त नहीं हो सकते, यह केवल कहानीगत पात्रों के ही लिए सत्य नहीं है, प्रत्युत सहृदय पाठक के लिए भी सत्य है। वह भावानुभूति 'विशेष' के ही सहारे करता है, 'सामान्य' उसके लिए किसी काम का नहीं। 'न्याय' के लिए सामान्य या जाति भले ही महत्त्वपूर्ण हो, काव्य तो विशेष या व्यक्ति में ही कार्यकारिता मानेगा, उसका विभावन नामरूपवाले व्यक्ति से ही होगा। विशेष का ही साधारणीकरण होगा, साधारण या सामान्य का नहीं। प्रसन्नता की बात है कि हिंदी में अभी ऐसी कहानियाँ बहुत थोड़ी दिखाई पड़ी हैं।

हिंदी में कहानियों के अब इतने रूप दिखाई देने लगे हैं और उनमें ऐसी विविधता लक्षित होने लगी है कि उनका वर्गीकरण पाश्चात्य ढंग से न करके स्वच्छंद रूप से ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रेमचंदजी की 'बड़े भाई साहब' और चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की 'शांति-निकेतन' कहानियाँ उपस्थित की जा सकती हैं। कहानियों में शील-वैचित्र्य दिखाने का बहुत थोड़ा अवकाश रहता है। किंतु 'बड़े भाई साहब' में लेखक ने केवल शील-वैचित्र्य ही दिखलाया है। शील-निदर्शन की यह पद्धति भी रूपकात्मक (ड्रामेटिक) है, जो सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। 'हृदयेश' की कहानी काव्य-कहानी है। अब पश्चिम की देखादेखी कहानी, उपन्यास, नाटक सभी से काव्य का अवयव धीरे धीरे हटता चला जा रहा है, पर हिंदी में कुछ लेखक ऐसे हैं जो साहित्यगत काव्य-तत्त्व की रक्षा करते आ रहे हैं। 'हृदयेश', 'प्रसाद' आदि ऐसे ही लेखक हैं।

हिंदी में नए ढंग की कहानियों का चलन जिस समय से हुआ उस समय सामाजिक सुधार के आंदोलन चल रहे थे। अतः आरंभ में अधिकतर कहानियाँ सामाजिक सुधारों पर लिखी गईं। शुद्ध साहित्यिक कहानी-लेखक थोड़े दिखाई पड़े। पं० किशोरीलाल गोस्वामी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि प्रारंभिक और शुद्ध साहित्यिक कहानी-लेखक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। कुछ समय के अनंतर स्वर्गीय पं० चंद्रधर शर्मा ने 'उसने कहा था' कहानी लिखकर शुद्ध साहित्यिक कहानी का बहुत ही अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया। पहले कहा जा चुका है कि छोटी कहा-

नियों का अधिक चलन उत्तरोत्तर जीवन की संकुलता के बढ़ते जाने से हुआ है। इसी से समय समय पर जो कहानियाँ लिखी जाती हैं वे अपने समय की स्थिति का संकेत अथवा प्रदर्शन करती रहती हैं। तात्पर्य यह कि साहित्य की कोई और धारा चाहे लोकजीवन से विशेष संबद्ध होकर न भी चले, किंतु कहानी का प्रवाह उससे अधिकाधिक संपृक्त दिखाई देता है। इनका महत्त्व इतना अधिक बढ़ता जा रहा है कि मासिक पत्र ही नहीं, समाचार-पत्रों तक में कहानियाँ प्रकाशित होने लगी हैं। किसी पत्र की ग्राहक-संख्या बढ़ाने में इन कहानियों का बहुत बड़ा भाग रहता है। नैत्यिक जीवन से विशेष संलग्न रहने ही के कारण कहानियाँ साहित्य और जीवन के बीच में पड़नेवाले व्यवधान को बराबर दूर करती रहती हैं। कविता नई नई भावभंगी दिखाने के फेर में जीवन से जितनी दूर होती जा रही है, कवि जितना ही दूसरे लोक का विहार करने लगे हैं, उतना ही कहानी जीवन के निकट आती जा रही है और लेखक उतना ही जीवन से संबद्ध होते जा रहे हैं। हाँ, इधर काव्य-क्षेत्र की भाँति कुछ व्यंजनात्मक ऐसी कहानियाँ भी दिखाई देने लगी हैं जिनमें पदावली की बहार तो अत्यधिक रहती है, पर कहने को कुछ नहीं होता। यह खटके की बात है। संतोष इतना ही है कि दूसरे लोक के ये जीव बहुत कम हैं, अधिकतर कहानियाँ लोकबद्ध जीवन ही लेकर चल रही हैं। उनमें जो उद्विग्न करनेवाली प्रवृत्ति दिखाई दे रही है वह दूसरी है। बहुत सी कहानियाँ प्रेम-व्यापार को ही सब कुछ समझकर निर्मित हो रही हैं। माना कि प्रेम की व्याप्ति जीवन में अत्यधिक है, पर वही जीवन नहीं है इसे भी स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यों तो नई कहानियों का प्रचलन हिंदी में ईसवी सन् के बीसवें शतक के आरंभ से ही हो गया था अर्थात् 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के पश्चात् से ही, फिर भी इन कहानियों की विशेष धूमधाम उस समय से हुई जब प्रेमचंदजी इस क्षेत्र में आए। आरंभ में प्रेमचंदजी ने दो प्रकार की कहानियाँ लिखीं; एक तो ऐतिहासिक दूसरी शिक्षाप्रद। तब तक प्रेमचंद की कहानियों में सांप्रदायिकता का प्रवेश नहीं हुआ

था पर धीरे धीरे उनमें इसके बीज पड़ने लगे और आगे चलकर अंकुर भी निकल आए। पिछले काँटे उनकी कहानियों में स्पष्ट लक्षित होता है कि लेखक जिस जीवन का वर्णन कर रहा है उसका या तो उसने ठीक ठीक निरीक्षण नहीं किया है या जान बूझकर नकली रंग चढ़ाया है। ऐसी रंगत साहित्य के लिए बाधक ही नहीं घातक भी हुआ करती है। केवल प्रेमचंद ही नहीं, कुछ दूसरे राष्ट्रीय भावापन्न लेखक भी उसी ढाँचे की कहानियाँ प्रस्तुत करने में लगे। यद्यपि प्रेमचंद की कहानियों के संबंध में कहा जाता है कि वे उनके उपन्यासों की अपेक्षा विशेष रोचक होती हैं और यह धारणा परिमित रूप में ठीक भी मानी जा सकती है तथापि सचाई यह कहने को विवश करती है कि सांप्रदायिक अतिरंजना कहानियों में आ गई थी और उसके आगमन से वे विद्रूप भी अवश्य हुईं। जैसा निःसंग निरूपण 'सप्तसरोज', 'नवनिधि' आदि आरंभिक कहानी-संग्रहों में दिखाई पड़ता है वैसा पिछले संग्रहों में सर्वत्र नहीं।

हिंदी में यों तो अनेक कहानी-लेखक हैं और उनकी अलग अलग विशेषताएँ हैं किंतु यहाँ उन सबका उल्लेख करना संभव नहीं, फिर भी दो बातें 'प्रसाद' जी की कहानियों के संबंध में कह देने की आवश्यकता है। उनकी कहानियाँ अपने ढंग की विशिष्ट कहानियाँ हैं और हिंदी में कहानी के स्वच्छंद विकास का आभास देनेवाली हैं। इनकी प्रत्येक कहानी प्रकृति की अपेक्षित पीठिका पर खड़ी हुई है और प्रेम के किसी न किसी नूतन रूप की परिपूर्ण व्यंजना करनेवाली है। प्रेम के रूपों की विविधता और अन्य अंतर्वृत्तियों के साथ संवलित रूप के दर्शन जिस निपुणता के साथ लेखक करा सका है वह प्रशंसनीय तो है ही, गर्व करने योग्य भी है।

संस्कृत में सब प्रकार की कथाओं के पाँच भेद किए गए हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है—आख्यायिका, कथा, खंडकथा, परिकथा और कथालिका। इनमें से आख्यायिका और कथा उपन्यासों के भेद हैं अर्थात् बड़ी कथा को निरूपित करते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास 'आख्या-

यिका' के अंतर्गत आते हैं, इनमें क्रमबद्ध घटनाएँ विस्तार से आती
और 'कथा' में कल्पित कथा होती है, उसमें घटनाएँ थोड़ी ही
की जाती हैं ।[1] चाहें तो ऐतिहासिक और पौराणिक कहानियों के
आख्यायिका शब्द हिंदी में गृहीत हो सकता है । 'खंडकथा' छोटी कहा
के लिए आता था । पशु-पक्षियों की विलक्षण कहानियाँ (फेबुल)
कथा' कहलाती हैं । जहाँ एक में एक करके कई कथाएँ जुड़ती
जाती हैं वहाँ 'कथालिका' समझिए ; जैसे कथासरित्सागर । बै
पचीसी और सिंहासनबत्तीसी परिकथा और कथालिका का मिश्रण
इस प्रकार स्पष्ट है कि ये भेद घटना-वैचित्र्य, कथा-रूप आदि के
से किए गए हैं । अतः इनका साहित्यिक कहानियों में विशेष
नहीं हो सकता ।

यों तो वस्तु, पात्र आदि के विचार से उपन्यासों के जितने
गए हैं कहानियों के भी उतने ही किए जाते हैं, किंतु स्मरण रखन
कि कहानियों में 'चरित्र' के विकास या निरूपण का वैसा अवक
प्राप्त हो सकता जैसा उपन्यासों में । क्योंकि उपन्यासों में पूर्ण
जाता है और कहानियों में जीवन की केवल एक झलक रहती
इसी एक झलक में घटनाओं, कार्य-व्यापारों, संवाद, परिस्थि
कई बातों पर लेखक का दृष्टि जमानी पड़ती है । इसलिए 'च
विकास का इसमें अवकाश ही कहाँ मिलता है ! फिर भी हिंदी
कहानियाँ ऐसी दिखाई देती हैं जिनमें 'चरित्र' के निदर्शन का,
का नहीं, अवकाश निकल आया है ; जैसे प्रेमचंद की 'बड़े भा
कहानी । कहानी में वस्तुतः कोई एक ही पात्र मुख्य होता है ।
दो पात्र भी प्रमुख दिखाई देते हैं, पर अधिकतर कहानियों में
पात्र मध्यस्थ रहता है । एक ही मुख्य पात्र पर विशेष ध्यान देने
कभी शील का स्थूल आभास मात्र अच्छी साहित्यिक कहानिय

---

१ प्रबन्धकल्पनां स्तोकसत्यां प्राज्ञाः कथां विदुः ।
परंपराश्रया या स्यात् सा मताख्यायिका बुधैः ॥

दोनों की संधि होती है। जिस संधि में उपाय कहीं दब जाय और उसकी खोज करने को बीज का और भी विकास हो उसे 'गर्भ' संधि कहते हैं। इसका नाम गर्भ संधि इसलिए है कि इसमें फल छिपा पड़ा रहता है। इसमें प्राप्त्याशा और पताका का योग होना चाहिए। किंतु प्राप्त्याशा के साथ पताका का मिलान वैकल्पिक होता है। जहाँ पर फल का उपाय तो कुछ और विकसित हो जाता है पर विघ्नों के आ जाने से उसमें आघात पहुँचता है वहाँ 'विमर्श' संधि होती है, इसे 'विमर्श' इसलिए कहते हैं कि इसमें विशेष रूप से विचार करना पड़ता है। इसमें नियताप्ति और प्रकरी की संधि होती है। किंतु प्रकरी का विधान यहाँ वैकल्पिक होता है। जहाँ एक ही प्रधान प्रयोजन में काय और फलागम के साथ साथ सब प्रकार के अर्थों का पर्यवसान हो जाता है उसे 'निर्वहण' संधि कहते हैं। यहाँ पर प्रधान अर्थ की समाप्ति हो जाती है इसलिए इसका नाम निर्वहण संधि है। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इन तीनों के समन्वय का वृत्त इस प्रकार होगा—
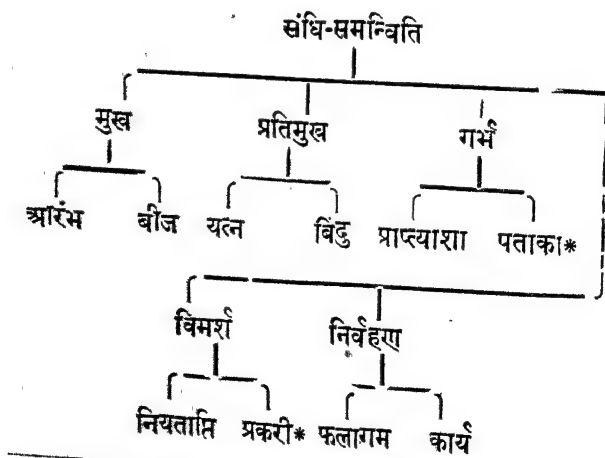
* ये वैकल्पिक हैं, यहाँ हो भी सकती हैं और नहीं भी।

अभिनय के विचार से कथाएँ दो प्रकार की होती हैं—वाच्य और सूच्य। ऊपर 'वाच्य' का ही विचार किया गया है। रही 'सूच्य' कथा। नाटक मैं कार्य की सिद्धि के लिए घटनाओं का परिष्कार भी करना पड़ता है। इस परिष्कार के कारण बहुत सी ऐसी घटनाएँ छूट जाती हैं जिनका नाटक के उद्देश्य से कोई सीधा संबंध नहीं रहता; किंतु कथा की अखंडता के विचार से इनकी सूचना अवश्य दी जाती है। ये ही 'सूच्य' कथाएँ हैं जिन्हें अर्थोपक्षेपक भी कहते हैं। अर्थोपक्षेपकों के भी पाँच भेद होते हैं—विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख। भूत और भविष्य की घटनाएँ 'विष्कंभक' के द्वारा सूचित की जाती हैं और इसमैं सूचक मध्यम श्रेणी का पात्र होता है। 'प्रवेशक' मैं भी विष्कंभक की ही तरह घटनाएँ सूचित होती हैं किंतु सूचक होते हैं नीच पात्र। परदे के पीछे से जब किसी घटना की सूचना दी जाती है तो उसे 'चूलिका' कहते हैं। किसी अंक के अंत मैं आगामी घटना की जो सूचना दी जाती है और उसी के अनुसार जब अगले अंक मैं घटनाएँ घटित होती हैं तो उसे 'अंकावतार' कहते हैं। पिछले अंक मैं सूचना देनेवाला पात्र जब अगले अंक मैं काम करता हुआ देखा जाता है तो उसे 'अंकमुख' कहते हैं।

रंगशाला मैं काम करनेवाले पात्रों के अर्थश्रवण अर्थात् संवाद के विचार से भी कथा के विभाग किए गए हैं। ये तीन हैं—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। किसी पात्र की उक्ति को रंगशाला मैं उपस्थित यदि सब पात्र सुनें तो वह 'सर्वश्राव्य' है और यदि उनमैं से कुछ ही सुनें तो उसे 'नियतश्राव्य' कहते हैं। जब केवल कहनेवाला ही पात्र अपनी उक्ति सुनता है तो उसे 'अश्राव्य' कहते हैं। इसी अश्राव्य को 'स्वगत कथन' या 'आप ही आप' कहते हैं। नियतश्राव्य के भी दो भेद किए गए हैं—जनांतिक और अपवारित। आधुनिक विचार के अनुसार नाटकों में स्वगत कथन कृत्रिम माना जाता है। क्योंकि पात्र रंगशाला मैं उपस्थित होते हुए भी सुनी अनसुनी करते हुए मान लिए जाते है; यद्यपि उनसे दूर बैठे हुए दर्शक उस कथन को सुन लेते हैं। यही बात नियत-

श्राव्य और उसके भेदों के संबंध में भी है। अतः आजकल सर्वश्राव्य उक्तियों का ही प्रयोग नाटकों में उचित समझा जाता है। यदि स्वगत कथन की आवश्यकता प्रतीत होती है तो कोई पात्र वैसी स्थिति में ही अपने मन की बात व्यक्त करता हुआ दिखाया जाता है जब रंगमंच पर उसके अतिरिक्त और कोई पात्र नहीं रहता। इसे 'एकांत-कथन' (साली-लाकी) कहते हैं। पुराने नाटकों में कहीं कहीं अनावश्यक पात्रों या अभिनेताओं की न्यूनता के लिए 'आकाशभाषित' की भी योजना की जाती है जिसमें पात्र स्वयं ही प्रश्न भी करता है और स्वयं ही उत्तर भी देता है। किंतु यह प्रश्न पात्र से भिन्न व्यक्ति के प्रश्न के रूप में रहा करता है। यह योजना भी कृत्रिम समझी जाती है इसलिए आधुनिक नाटककारों ने इसका त्याग कर दिया है। ऊपर कथावस्तु के जितने भेदोपभेद दिखाए गए हैं वे सभी नाटकों में थोड़े बहुत अवश्य होते हैं। नाटकों का निर्माण वस्तु के आधार पर होता है। इसलिए वस्तु और उसके प्रयोजनों की सिद्धि के लिए नाटककार को नाट्यप्रक्रिया पूर्ण करनी ही पड़ती है। जान बूझकर शास्त्रीय प्रक्रिया का विधान जिन नाटकों में किया जाता है उनमें शास्त्रसंपादन पर दृष्टि रहने के कारण कृत्रिमता लक्षित होने लगती है। किंतु कार्यावस्थाएँ सभी नाटकों में होती हैं। अर्थप्रकृतियों में से भी पताका और प्रकरी को छोड़कर अन्य तीन प्रकृतियाँ प्रायः दिखाई देती हैं। संधियाँ भी नाटकों में अवश्य आती हैं। जो शास्त्रीय ढंग से उनका विधान नहीं करते उनकी रचनाओं में ये सब अस्थानस्थ हो जाती हैं। पर भारतीय पद्धति पर जिनकी थोड़ी भी दृष्टि रही है उनकी रचनाओं में से कुछ में इनका बहुत ही उपयुक्त विधान हुआ है। जैसे प्रसादजी के 'स्कंदगुप्त' नाटक में। पाँच अंक के उस नाटक में बड़ी चतुराई के साथ क्रमशः एक एक संधि नियोजित हुई है। कथाओं के जो अन्य भेद किए गए हैं उनमें से सूच्य कथाएँ भी सभी नाटकों में थोड़ी बहुत होती ही हैं। किंतु प्रवेशक, विष्कंभक आदि की भाँति उनका संनिवेश अंक में नहीं देखा जाता। इसका कारण यह है कि रंगमंच में अंतःपटी का विधान हो जाने से पुराने नाटकों की तरह एक अंक की

कथा अखंड रूप में रखने की आवश्यकता अब नहीं रह गई। अंकों का विभाजन 'दृश्य' नाम से कर लिया गया है। देश-काल के विचार से प्रत्येक अंक में ध्यान रखने कीजितनी बातें थीं उनकी अब वैसी आवश्यकता नहीं रह गई। संस्कृत के नाटकों के देखने से पता चलता है कि एक अंक में जो घटना घटित होती है वह एक ही स्थान पर घटित होती है और उसका समय भी पृथक् पृथक् नहीं रहता। कुछ पात्र रंगमंच पर आते हैं और कुछ चले जाते हैं। उनके कार्य-साधन के देश एवं काल में अंतर नहीं हुआ करता। अंक की समाप्ति पर सभी पात्र रंगमंच से चले आते हैं और नाटककार 'निष्क्रान्ताः सर्वे' (सब गए) लिखकर इस बात को व्यक्त कर देता है। दूसरे अंक में नए सिरे से कार्य आरंभ होता है और स्थान तथा देश का परिवर्तन यदि आवश्यक होता है तो कर दिया जाता है। इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि अंतःपटी का प्रयोग प्राचीन काल में नहीं होता था। नाटक को विशेष स्वाभाविक बनाने के प्रयोजन से अब भारतीय नाटककार बहुत सी प्राचीन विधियों का त्याग कर रहे हैं।

अभिनय की रोचकता के विचार से पात्र-प्रवेश के ढंगों का उल्लेख भी शास्त्रों में मिलता है। यद्यपि इसका विवेचन नाटक की प्रस्तावना के अंतर्गत किया गया है तथापि ये नाटक के बीच में भी हो सकते हैं। पुराने नाटकों में सूत्रधार, नटी, स्थापक आदि अभिनेता नाटक के आरंभ में आते थे, नांदी के अनंतर उनका परस्पर वार्तालाप होता था और कौन सा नाटक खेला जाय इसका विचार होता था। यह कथा नाटक की मूल कथा से जोड़ी जाती थी।[1] जोड़ने के प्रकारों की ही दृष्टि से प्रस्तावना के पाँच भेद माने जाते हैं—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगा-

---

१ नटी विदूषको वापि पारिपार्श्वक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥—साहित्यदर्पण।

तिशय, प्रवर्तक और अवलगित। जहाँ अप्रतीतार्थ को व्यक्त करने के लिए और शब्द जोड़ दिए जाते हैं वहाँ 'उद्घातक' प्रकार होता है। जहाँ वाक्य या वाक्यार्थ को ग्रहण कर कोई पात्र प्रवेश करे वहाँ 'कथोद्घात' समझना चाहिए। यदि किसी प्रयोग के भीतर दूसरा प्रयोग आरंभ हो जाय और पात्र का प्रवेश हो तो उसे 'प्रयोगातिशय' कहते हैं। जहाँ समय के आधार पर पात्र का प्रवेश हो वहाँ 'प्रवर्तक' होता है। जहाँ सादृश्यादि के द्वारा किसी पात्र का प्रवेश सूचित हो वहाँ 'अवलगित' समझना चाहिए। इन प्रकारों में से कई का प्रयोग नाटकोंकी मूल कथा के बीच होता है, पर इस पर कम लोगों की दृष्टि जाती है।[1]

वर्जित दृश्य

कुछ ऐसे कार्य हैं जिनका नाटक में निषेध किया गया है। जैसे दूर से बोलना, वध. युद्ध, राजविप्लव, देशविप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मलत्याग मृत्यु, रमण, दाँत काटना, नखक्षत और इसी प्रकार की अन्य लज्जाकारी बातें, शयन, अधर चुंबन, नगर का घेर लेना, स्नान, चंदनादि का लेप और किसी बात का अति विस्तार। इन निषिद्धार्थों में से कुछ का प्रदर्शन अब होने लगा है। इनमें से कुछ तो ऐसी बातें हैं जो जुगुप्साकारिणी हैं। उनका प्रयोग न तो प्राचीन नाटकों में होता था और न आधुनिक नाटकों में है। किंतु कुछ ऐसी बातें हैं जिनका संबंध रंगशाला से है; जैसे—लंबी यात्रा, दूर से पुकारना आदि। रंगशाला में स्थान परिमित होता है इसलिए ये दृश्य नहीं दिखाए जा सकते। दूसरा कारण यह है कि नाटक में कार्य-व्यापार की मुख्यता होती है इसलिए ऐसे दृश्यों का दिखलाना कार्य-व्यापार में बाधा पहुँचाता है। इसीलिए लक्षण-ग्रंथकारों ने इन्हें सूच्य कथाओं के अंतर्गत रखा है। भोजन, स्नान, अनुलेपन, युद्ध, विप्लव इसी प्रकार की बातें हैं। किंतु जब से 'चलचित्र' (सिनेमा)

---

[1] देखिए स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (नवीन संस्करण), पृष्ठ ६६२।

की पद्धति निकली तब से इनका विधान भी किया जाने लगा है। इसका कारण यह है कि चलचित्रों में सरलतापूवक इनका प्रदर्शन भी हो सकता है और कार्य-व्यापार को जो क्षति पहुँचती थी वह क्षति भी बहुत कुछ प्रभावशून्य हो जाती है, यदि थोड़े में चलचित्रों में उनका प्रदर्शन किया जाय। वध इसलिए वर्जित है कि उससे क्षोभ उत्पन्न होता है। यह वध भी विशेष निषिद्ध है नायक का। आवश्यक वध को लक्षणकारों ने भी त्याज्य नहीं माना है। इसलिए आधुनिक नाटकों में इन दृश्यों के विधान से लोगों को जो विपर्यास दिखाई देता है वह लक्षण-ग्रंथों का पूर्णतया आलोड़न न करने के कारण। तात्पर्य इतना ही है कि नाटक की मूल कथा में जिन दृश्यों के कारण कथा रुकती हुई जान पड़ती हो या जिनसे सामाजिकों के हृदय में उद्वेग उत्पन्न हो वैसे दृश्यों का वर्जन किया गया है।

नेता

कथा का इतना विचार करने के अनंतर नेता पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। आधुनिक नाटकों में पश्चिमी नाटकों के अनुगमन पर शीलनिदर्शन मुख्य समझा जाता है; और यह शील-निदर्शन व्यक्तिगत वैचित्र्य को लेकर चलता है। प्राचीन नाटकों में केवल नायक और नायिका का ही विचार होता था और उनके भी बने-बनाए साँचे हुआ करते थे। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत बने-बनाए साँचे ही थे। इन सबमें 'धीर' शब्द का प्रयोग ही बतलाता है कि कथित गुणों की चरमावधि का विधान उन नायकों में नहीं हो सकता था। गांभीर्य को लिए हुए उदात्त, उद्धत, ललित और प्रशांत सबका व्यवहार किया जाता था। केवल नायक पर ही विचार होने से स्पष्ट है कि नाटक में संनिविष्ट सभी पात्रों का कुछ न कुछ वैशिष्ट्य दिखाना पुराने नाटककारों का लक्ष्य नहीं था। जिन नायक या नायिका के स्वरूप पर ध्यान रखा भी जाता था उनका भी रूप ऐसा बँधा हुआ था कि एक ही प्रकार का नायक यदि कई नाटकों में हो तो

स्थूल रूप में उनका भेद करना संभव नहीं था। यद्यपि नायक और नायिका-भेद पर अधिक रचनाएँ आगे चलकर श्रव्य-काव्य में दिखाई पड़ीं तथापि ये भेदोपभेद नाटकों में नियोजित करने के लिए दिखाए गए थे। वह भी इसलिए कि नाटक-रचना करनेवाले के लिए सरलता हो। तात्पर्य यह कि ये भेद वर्ण्य विषय का विस्तार करने के लिए नहीं थे; थे केवल अनुकार्यों का स्वरूप समझाने के लिए।

नाट्य वृत्तियाँ

इसी प्रसंग में वृत्तियों का भी विचार करना चाहिए। नाटक के नायक और नायिका के विशेष व्यापार को 'वृत्ति' कहते हैं।[1] ये वृत्तियाँ चार मानी गई हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। शृंगार रस में कैशिकी का, वीर, रौद्र एवं बीभत्स में सात्त्वती और आरभटी का तथा भारती वृत्ति का सर्वत्र व्यवहार होता है। इस कथन के अनुसार कोमल भावनाओं में कैशिकी और उग्र भावनाओं में सात्त्वती तथा आरभटी उपयुक्त हैं। भारती वृत्ति कोमल और उग्र दोनों स्थितियों में रह सकती है। जिसमें मनोरंजक वेशरचना, नृत्यगीत आदि का प्रयोग और सुख-भोग की उत्पादक सामग्री का संकलन हो उस विलास-युक्त वृत्ति को 'कैशिकी' कहते हैं। इस वृत्ति में शृंगार रस तो रहता ही है उसका सहायक हास्य भी दिखाई देता है। बल, शूरता, दान, दया, ऋजुता और हर्ष से युक्त सामग्री का संग्रह जहाँ हो वहाँ 'सात्त्वती' वृत्ति होती है। इसमें अद्भुत रस का भी व्यवहार किया जाता है। माया, संग्राम, क्रोध, वध, बंधन आदि से युक्त उद्धत वृत्ति को 'आरभटी' कहते हैं। इसमें वीर, रौद्र ऐसे उग्र रसों का व्यवहार होता है। इन वृत्तियों का प्रयोजन नायक-नायिका अथवा नाटकों के विशिष्ट पात्रों की प्राकृतिक अभिव्यक्ति है।

---

१ विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः—काव्यमीमांसा

रस

अब रस पर आइए। नाटक में प्रधान रस दो माने गए हैं—शृंगार अथवा वीर। अन्य रसों की व्यंजना गौण रूप में होती थी। इसका तात्पर्य यह था कि रस के विचार से कोई नाटक या तो कोमल भावों का व्यंजक हो या उग्र भावों का। घृणोत्पादक या भयकारी भावों के प्रदर्शन का निषेध था। संप्रति इन दो के अतिरिक्त अन्य भावों का प्रदर्शन भी मुख्य रूप में देखा जाता है किंतु करुण को छोड़कर अन्य कोई ऐसा रस नहीं है जिसकी व्याप्ति बहुत दूर तक हो। इसलिए मुख्य नाटकों में अन्य रसों का प्रधान रूप में व्यवहार नहीं किया जाता। किंतु छोटे छोटे नाटकों में अन्य रस भी अंगी होकर आते हैं। प्रहसन, भाण आदि में यही बात देखी जाती है। लक्षण-ग्रंथों में रस ही नहीं रस-विरोध का भी उल्लेख मिलता है अर्थात् एक दूसरे के विरुद्ध पड़नेवाले रसों का एक ही स्थान में संनिवेश उचित नहीं माना गया है। विरोधी रसों की व्यंजना तो की जा सकती है किंतु आलंबन का भेद करके। इसी स्थान पर शांत रस का विचार भी कर लेना चाहिए। शांत रस दृश्यकाव्य में त्याज्य माना गया है। इसका कारण है 'साधारणीकरण' का ठीक ठीक प्रयोग न हो सकना। श्रव्यकाव्य में चाहे उसका रसत्व मान भी लिया जाय किंतु नाटकों का जो प्रधान कार्य है दर्शक और अनुकार्य के हृदयों का तादात्म्य वह शांत रस से वैसा संभव नहीं। क्योंकि नाटकीय प्रदर्शन भावोद्रेक कराता हुआ प्रवृत्तिमूलक है। शांत रस में वैसे तादात्म्य की संभावना न होने से वह केवल निवृत्तिमूलक है। इसलिए उस रस का परित्याग कर दिया गया है।

वस्तु, नेता और रस इन्हीं तीनों के हेरफेर से दृश्यकाव्य के २८ भेद किए गए हैं। दस भेद रूपक के हैं और अट्ठारह उपरूपक के।

रूपकों की तालिका

सं०	नाम	वस्तु	संधि	नायक	प्रतिद्वंद्वी या सहायक	रस	अंक	वृत्ति	विशेष
१	नाटक	प्रख्यात	पंच	धीरोदात्त	सहा०-४,५	शृङ्गार या वीर	५ से १०तक	सब	गोपुच्छानुबंध
२	प्रकरण	कल्पित	,,	धीरप्रशांत नायिका कुल-वती या वेश्या	,,	शृंगार	,,	,,	अमात्य, विप्र, वणिक् में से कोई एक नायक
३	भाण	,,	मुख और निर्वहण	धूर्त (निपुण पंडित, विट)		वीर और शृंगार	१	भारती या कैशिकी, कैशिकी-रहित-भरत	आकाशभाषित का प्रयोग
४	प्रहसन	,,	,,	पाखंडी		हास्य	१	आरभटी-रहित कैशिकी-रहित-भरत	विष्कंभक और प्रवेशक से रहित
५	व्यायोग	प्रख्यात	मुख, प्रतिमुख, निर्वहण	धीरोद्धत	सहा. बहुत मनुष्य	हास्य, शृंगार, शांत रहित	१	कैशिकी वर्जित	स्त्री के कारण युद्ध नहीं, एक दिन का चरित्र ।

उपरूपकों की तालिका

सं०	नाम	वस्तु	संधि	नायक	प्रतिद्वंद्वी या सहायक	रस	क	वृत्ति	विशेष
१	नाटिका	कल्पित	विमर्शरहित या अल्प विमर्शयुक्त	धीरललित नायिका प्रगल्भा		शृंगार	४	कैशिकी	अधिकतर स्त्रियाँ होती हैं।
२	त्रोटक			देवता और मनुष्य		,,	५, ७, ८ या ९		प्रत्येक अंक में विदूषक।
३	गोष्ठ		मुख, प्रतिमुख और निर्वहण	प्रकृत पुरुष ९ या १०		,,	१	कैशिकी	५, ६ स्त्रियाँ होती हैं।
४	सट्टक	कल्पित	मुख, प्रतिमुख, गर्भ, और निर्वहण	धीरललित		अद्भुत	४	,,	प्राकृत भाषा में होता है और प्रवेशक एवं विष्कंभक से रहित।
५	नाट्य-रासक		मुख, निर्वहण या प्रतिमुख हीन चार	उदात्त, नायिका वासकसज्जा	प्रति०—पीठमर्द	शृंगार-सहित हास्य अंगी	१		

सं०	नाम	वस्तु	संधि	नायक	प्रतिद्वंद्वी या सहायक	रस	अंक	वृत्ति	विशेष
६	प्रस्थानक			दास, नायिका-दासी	प्रतिनायक से हीन	श्रृंगार	२	कैशिकी और भारती	
७	उल्लाप्य	दिव्य (प्रख्यात)		उदात्त, नायिका चार		हास्य, श्रृंगार और करुण	१		संग्राम बहुत होता है।
८	काव्य		मुख, प्रतिमुख और निर्वहण	उदात्त, नायिका उदात्त		हास्य	१	आरभटी-रहित	श्रृंगार-भाषित।
९	प्रेंखण	प्रख्यात	,,	हीन			१	सब	विष्कंभक, प्रवेशक-रहित
१०	रासक		मुख और निर्वहण	मूर्ख	सहा०—५ पात्र		१	भारती और कैशिकी	सूत्रधार-रहित।
११	संलापक			पाखंडी		श्रृंगार और करुण से अभिन्न	३,४	सात्वती और आरभटी	संग्राम, छल, उपद्रव

सं०	नाम	वस्तु	संधि	नायक	प्रतिद्वंद्वी या सहायक	रस	अंक	वृत्ति	विशेष
१२	श्रीगदित	प्रख्यात	मुख, प्रतिमुख और निर्वहण	उदात्त			१	भारती	'श्री शब्द का अधिक व्यवहार और गान भी अधिक
१३	शिल्पक			ब्राह्मण		शांत और हास्य से रहित	४		श्मशान का अधिक वर्णन।
१४	विलासिका	थोड़ी कथा प्रख्यात	,,	हीन		श्रृंगार अधिक	१		विदूषक, विट, पीठ-मर्द से युक्त।
१५	दुर्मल्लिका		गर्भ-रहित	नीच जाति	सहा०—चतुर नर		४	कैशिकी और भारती	
१६	प्रकरणिका	कल्पित		सेठ, नायिका सेठानी					शेष नाटिकावत्।
१७	हल्लीश		मुख और निवहण	उदात्त	सहा०—७,८,१० स्त्रियाँ		१	कैशिकी	गान अधिक।
१८	भाणिका		,,	मंद, नायिका उदात्त			१	कैशिकी और भारती	

नाटकोँ के भेद

नाटकोँ के तीन दृष्टियोँ से भेद किए जा सकते हैँ—विषय के विचार से, शैली के विचार से और रंगमंच के विचार से। विषय के विचार से नाटकोँ के दो भेद हो सकते हैँ—ऐतिहासिक और सामाजिक। भारतवर्ष मेँ पुराण भी इतिहास के ही अंतर्गत माने जाते हैँ और 'ऐतिह्य' कहलाते हैँ। स्वयं 'पुराण' शब्द भी बतलाता है वह पुरानी कथा मात्र है। किंतु पौराणिक नाटकोँ से भिन्न ऐसे नाटक भी लिखे गए जिनमेँ ज्ञात इतिहास की प्रख्यात कथा गृहीत हुई। ज्ञात इतिहास से हमारा तात्पर्य है उस इतिहास से जो आधुनिक अन्वेषण द्वारा मान लिया गया है। पुराण का अर्थ पाश्चात्य इतिहासज्ञ कल्पित इतिवृत्त मात्र लेते हैँ। केवल उनमेँ से उसी अंश को इतिहास मेँ सहायक मानते हैँ जो ज्ञात काल के राजाओँ के संबंध मेँ है। पौराणिक नाटक अधिकतर भारतेंदु-युग मेँ देखे जाते हैँ। उनकी विशेषता यह है कि उनके रचयिताओँ ने संस्कृत-पद्धति का अनुकरण किया है। किंतु अँगरेजी के प्रभाव से प्रभावित बँगला के अनुकरण पर कुछ नवीनता का समावेश भी आरंभ हो गया था; जैसे अंकोँ का गर्भांकोँ (दृश्योँ) मेँ विभाजन। 'द्विवेदी-युग' मेँ आकर नाटकोँ मेँ नवीनता का समावेश भी विशेष होने लगा, और धीरे धीरे अँगरेजी ढर्रे पर भी, प्राचीनता के प्रभाव से मुक्त, एकदम नवीन शैली मेँ भी नाटक लिखे जाने लगे। ऐतिहासिक नाटकोँ की रचना का सूत्रपात 'भारतेंदु-युग' मेँ ही हो गया था। स्वयं भारतेंदु ने 'नीलदेवी' और उनके फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास ने 'महाराणा प्रताप' लिखकर इसका प्रचलन कर दिया था। किंतु इधर स्वर्गीय बाबू जयशंकरप्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकोँ की लड़ी बाँध दी। इन नाटकोँ मेँ 'भारतेंदु-युग' के नाटकोँ से अभिव्यंजन-शैली और चरित्र-वैशिष्ट्य की ऐसी विशेषताएँ दिखाई देती हैँ जो इन्हेँ उन नाटकोँ से एकदम पृथक् कर देती हैँ। इस प्रकार ऐतिहासिक नाटक भी दो प्रकार के दिखाई देते हैँ—संस्कृतशैली पर लिखे गए रस-प्रधान और आधुनिक

शैली के मेल में लिखे गए शील-वैचित्र्य-प्रधान। तात्पर्य यह कि प्रथम प्रकार के नाटकों में लेखक रस को दृष्टि में रखकर चले हैं और दूसरे प्रकार के नाटकों में व्यक्तियों के पृथक् पृथक् चरित्र को।

अब सामाजिक नाटकों को लीजिए। सामाजिक नाटकों के अंतर्गत सभी प्रकार के नाटक आ जाते हैं। सभी प्रकार के नाटकों से तात्पर्य राजनीतिक, समाज-सुधार-संबंधी और जनसमस्या-संबंधी नाटकों से है। प्राचीन पद्धति पर चलनेवाले नाटकों में विभिन्न प्रकार के रसों का विधान भी देखा जाता है। इनमें भी शैली के विचार से ऐतिहासिक नाटकों की तरह प्राचीन-पद्धति-प्रधान और नवीन-पद्धति-प्रधान भेद किए जा सकते हैं। ऐतिहासिक नाटकों का भेद बतलाते समय प्राचीन और नवीन में जो अंतर माना गया है वह यहाँ भी समझना चाहिए। विषय के विचार से मोटे रूप में इसके तीन भेद किए जा सकते हैं—समाज-सुधार-संबंधी जनसमस्या-संबंधी और राजनीतिक। समाज-सुधार-संबंधी नाटकों के विषय प्रायः विधवा-विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और वेश्या-गमन-विरोध, मद्यपान-निषेध आदि होते हैं। जन-समस्या-संबंधी नाटकों के अंतर्गत रोमांचक प्रेम, अछूतोद्धार, हड़ताल, वर्गभेद आदि से संबंध रखनेवाले नाटक समझने चाहिए। राजनीतिक के अंतर्गत देश-प्रेम, जातिगत ऐक्य आदि से संबंध रखनेवाले नाटक आते हैं। ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के नाटकों की सीमा में न आ सकनेवाले कुछ नाटक और दिखाई देते हैं। इन्हें 'अध्यवसित रूपक' (अलेगॉरिकल ड्रामा) कह सकते हैं। 'अध्यवसान' का तात्पर्य है भावनाओं या प्राकृतिक दृश्यों को व्यक्ति बनाकर अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत को व्यक्त करना, जैसे—'प्रसाद' की 'कामना' और 'एक घूँट' तथा सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्स्ना'।

यद्यपि नाटक दृश्यकाव्य है तथापि रंगमंच के विचार से उसके दो भेद हो सकते हैं—एक तो पूर्ण रंगमंचानुरूप या अभिनय-दृष्टि-प्रधान नाटक और दूसरे किंचित् अभिनय-दृष्टि-संपन्न या पाठ्य नाटक। तात्पर्य यह है कि कुछ नाटक ऐसे होते हैं जो रंगशाला में अभिनीत होने

के लिए लिखे जाते हैं और कुछ नाटक ऐसे होते हैं जो अभिनीत होने के लिए नहीं लिखे जाते, केवल साहित्य के इतर भेदों की भाँति पढ़ने के लिए लिखे जाते हैं। ऐसे नाटकों में लेखक की दृष्टि रंगशाला के विधि-विधानों पर विशेष नहीं रहती। पर उसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे खेले ही नहीं जा सकते। लेखकों की लेखन-शक्ति के तारतम्य से न्यूनाधिक परिमाण में रंगानुरूप संशुद्ध होकर वे खेले भी जा सकते हैं। संस्कृत के अधिकतर नाटक पाठ्य नाटकों की श्रेणी में ही आते हैं। हिंदी के साहित्यिक नाटक भी इसी श्रेणी में रखे जायँगे। क्योंकि हिंदी-जगत् में अपनी रंगशाला न होने के कारण रंगानुरूप नाटक-निर्माण कर सकने की सुविधा लेखकों को प्राप्त नहीं है। जिन लोगों ने पूर्ण रंगदृष्टि-संपन्न नाटक लिखे उनमें साहित्यिकता की बहुधा कमी देखी जाती है। कुछ ही ऐसे नाटककार इस वर्ग में दिखाई देते हैं जो थोड़ा-बहुत इसका भी ध्यान रखते हैं।

नाटकों का उत्पत्ति

नाटकों की उत्पत्ति विद्वानों ने दो दृष्टियों से बतलाई है। एक दृष्टि तो शुद्ध भारतीय है और दूसरी पाश्चात्य नाटकों की उत्पत्ति से संबद्ध। सुभीते के विचार से पहले पाश्चात्य नाटकों की उत्पत्ति से संबद्ध मतों का उल्लेख किया जाता है। यवनानी नाटकों की उत्पत्ति के संबंध में विद्वान् यह मानते आए हैं कि वहाँ मई मास में 'मेपोल' उत्सव के साथ होनेवाले नृत्य से धीरे धीरे वहाँ के नाटकों की उत्पत्ति हुई। उसी से मिलता-जुलता उत्सव उन्होंने भारतवर्ष में भी खोज निकाला और बतलाया कि यहाँ भी प्राचीन समय में 'मेपोल' की भाँति 'इंद्रध्वज' महोत्सव मनाया जाता था और उसके साथ जो नृत्यादि हुआ करते थे, हो न हो, उसी से क्रमशः यहाँ भी नाटकों का विकास हुआ हो। इंद्रध्वज-महोत्सव नैपाल में अब तक होता है। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में भी 'इंद्रध्वज' का उल्लेख पाया जाता है[1]। इस संबंध में ध्यान देने की

---

१ अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते।
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्॥—नाट्यशास्त्र, १।५५

बात इतनी ही है कि नाटक में केवल नृत्य ही नहीं होता, भावाभिनय भी होता है; इसलिए 'मेपोल' के आधार पर इंद्रध्वज-महोत्सव को नाटकों की उत्पत्ति का मूल मानना संगत नहीं जान पड़ता। विशेषकर ऐसी स्थिति में जब 'इंद्रध्वज' की प्रथा अन्य उत्सवों की ही भाँति दिखलाई देती है।

यवनानी नाटकों की उत्पत्ति के संबंध में डाक्टर रिजवे यह मानते हैं कि यवनान देश में त्रासद (ट्रेजेडी) नाटकों की उत्पत्ति वीरपूजा से हुई। मृत वीरों के शव सुरक्षित रखे जाते थे और उनके वार्षिक श्राद्ध के दिन उनके जीवन की घटनाओं का प्रदर्शन किया जाता था। रिजवे ने वीरपूजा का वही सिद्धांत भारतीय नाटकों की उत्पत्ति के संबंध में भी लगाया और यहाँ पर होनेवाली रामलीला, कृष्णलीला आदि के चित्र देकर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि भारतवर्ष में ये लीलाएँ वीरपूजा का परंपरागत अपभ्रष्ट रूप मात्र हैं। इसलिए भारतीय नाटकों के संबंध में यह मान लेने में कोई बाधा नहीं कि इनकी उत्पत्ति भी वीरपूजा से हुई होगी।

इन दो मतों के अतिरिक्त अन्य मत शुद्ध भारतीय उत्पत्ति से ही संबंध रखनेवाले हैं। डाक्टर कीथ ने सबसे पहले इस मत का प्रतिपादन किया कि नाटकों की उत्पत्ति ऋतु-परिवर्तन के समय होनेवाले उत्सवों से संबंध रखती है। होलिकोत्सव में जो नृत्य गीतादि का प्रचार है उसका संबंध प्राचीन ऋतुकालिक नाचगान से है। अपने पक्ष के समर्थन में डाक्टर कीथ ने पतंजलि के महाभाष्य में उल्लिखित 'कंस-वध' नामक नाटक का प्रमाण उपस्थित किया और बतलाया कि उसमें कंस और उनके अनुयायी नीलवर्ण के वस्त्र पहने हुए बतलाए गए हैं और कृष्ण तथा उनके अनुयायी रक्तवर्ण के वस्त्र। इसका तात्पर्य शिशिर ऋतु पर ग्रीष्म ऋतु की विजय लक्षित कराना है। किंतु आगे चलकर स्वयं लेखक ने ही इस मत को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझा।

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् पिशेल ने नाटकों की उत्पत्ति कठपुतली के नाच से मानी और बतलाया कि आरंभ में नाटकों की उत्पत्ति भारत-

वर्ष में ही हुई और यहीं से नाटकों का प्रसार अन्य देशों में हुआ। इसके लिए उन्होंने संस्कृत-नाटकों की प्रस्तावना में प्रयुक्त होनेवाले दो शब्द पकड़े, सूत्रधार और स्थापक। उनका कहना है कि कठपुतली के नाच में कठपुतलियाँ डोरे के सहारे नचाई जाती हैं और वे यथास्थान स्थापित की जाती हैं। आरंभ में कठपुतली के नाच में सूत्र (डोरा) धारण करनेवाले को 'सूत्रधार' और कठपुतलियों को यथास्थान स्थापित करनेवाले को 'स्थापक' कहते रहे होंगे। जब धीरे धीरे उस नाच से नाटकों का विकास हो गया तो उनमें नाचवाले ये दोनों शब्द ज्यों के त्यों पड़े रह गए। इसलिए भारतीय नाटकों की उत्पत्ति 'पुत्तलिकानृत्य' से ही हुई है। इसके प्रमाण में प्राचीन ग्रंथों में जहाँ जहाँ इस नृत्य का उल्लेख हुआ है वहाँ से उन्होंने अनेक उद्धरण भी उद्धृत किए हैं। पर यह मत बहुत दिनों तक मान्य नहीं रह सका। डाक्टर पिशेल ने नाटकों की उत्पत्ति के संबंध में एक दूसरा मत भी माना है जिसे डाक्टर ल्यूडर्स ने विशेष रूप से प्रतिपादित किया है। इसके अनुसार 'छाया नाटकों' से नाटकों की उत्पत्ति मानी जाती है। इसके लिए उन्होंने छाया नाटकों के कई उदाहरण संस्कृत-नाटकों से उपस्थित किए, जिनमें एक प्रसिद्ध छाया नाटक 'दूतांगद' भी है।

उत्पत्ति के साथ ही साथ कुछ विद्वानों ने नाट्यविद्या का ग्रहण भी यवनानी नाट्यकला से माना है। इसके प्रमाण में वे नाटकों में प्रयुक्त होनेवाली 'यवनिका' उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार 'यवनिका' शब्द 'यवन' से निकला हुआ है। इस संबंध में इतना ही कहना है कि संस्कृत-नाटकों में 'जवनिका' शब्द का व्यवहार होता है जिसका अर्थ है ढकने-वाला परदा। इसलिए इस शब्द का संबंध 'यवन' से बिलकुल नहीं है। पिछले काँटे के नाटकों में 'जवनिका' के स्थान पर 'यवनिका' शब्द का व्यवहार देखा जाता है। किंतु उसके आधार पर यदि 'यवन' शब्द से उसका संबंध जोड़ा भी जाय तो अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वे परदे यवनानी ढंग पर बनते थे या यवनानी कपड़े पर बनाए जाते थे, इसलिए उनका नाम 'यवनिका' पड़ गया। पर इतने ही से भारतीय

नाट्यकला को यवनानी नाट्यविद्या से प्रभावित नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में जब पाणिनि ने विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व 'अष्टाध्यायी' में कृशाश्व और सिलाली नामक नटसूत्रकारों का नाम लिया है यह बात कैसे मानी जा सकती है। यवनानी नाटकों में त्रासद (ट्रेजेडी) और हासद (कामेडी) का भेद किया जाता है और मुख्यता त्रासद नाटकों की है। भारतीय आचार्यों ने त्रासद या दुःखांत नाटकों का निषेध किया है। अब उक्त मत अमान्य समझा जाता है। वेबर, विंडिश, लेवी और कुछ कुछ डाक्टर कीथ इस मत को समीचीन समझते हैं।

अब नाटकों की उत्पत्ति वेद के संवाद-सूक्तों से ही मानी जाती है। वेद से नाटकों का विकास होने के संबंध में कई विद्वानों के पृथक् पृथक् मत हैं। श्रोडर का मत है कि वैदिक काल के पूर्व नृत्य, गीत और वाद्य का जो संयोग था उसी के प्रभाव से वैदिक ऋषि प्रभावित हुए और उनके मंत्रों में संवाद-रूप से गायन और नर्तन का समावेश हुआ। ये संवाद-सूक्त नाच-गान के साथ अभिनीत भी होते थे। इनका लौकिक पक्ष बंगाल की यात्राओं में अब भी दिखाई देता है, धार्मिक पक्ष लुप्त हो गया। हरटेल् का मत है कि संवाद-सूक्त गेय मंत्र थे। यदि ये गेय नहीं थे तो संवादों में एक से अधिक जिन व्यक्तियों का संनिवेश है उनका पृथक् पृथक् स्वरूप लक्षित कराना संभव नहीं था। ऋग्वेद के सुपर्णाध्याय में इसका मूल पाया जाता है और यात्राओं में इसका स्वरूप परिवर्तित रूप में देखा जा सकता है। कीथ का कहना है कि संवाद-सूक्त गेय नहीं कहे जा सकते। क्योंकि गाने के लिए सामवेद नाम का पृथक् वेद ही था और उसके मंत्रों का गायक 'उद्गाता' कहा जाता था। ऋग्वेद के सूक्तों का शंसन मात्र होता था। हाँ, ऋग्वेद के पौराणिक प्रेतयात्रा-संबंधी और द्यूत-संबंधी सूक्तों से यह अवश्य व्यक्त होता है कि इनमें नाटकों का मूल रहा होगा। धार्मिक संवादों की परंपरा लुप्त हो गई यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आरण्यकों में महाव्रत और अश्वमेध नामक याग में उनकी अभिनय-क्रिया अवशिष्ट दिखाई देती है। जर्मन विद्वानों ने संवाद-सूक्तों को मूल रूप में गद्य-

पद्ययुक्त माना है। गद्यांश छंदोबद्ध न होने के कारण श्रुति में सुरक्षित न रह सका, किंतु पद्यांश रह गया। अतः इन संवादों में उन नाटकों का मूल निश्चित है। वेद के उत्तरकालीन वाङ्मय में शुनःशेप और उर्वशी की कथाएँ बतलाती हैं कि उनका मूल रूपकात्मक था।

वेद में सोमविक्रय का प्रसंग अभिनय के रूप में दिखाई देता है और यह अभिनय दर्शकों को प्रसन्न करने ही के लिए हो सकता है। अतः यज्ञ के समय नृत्य, गीत और वाद्य के संमिश्रण से अभिनय का प्रचलन रहा होगा। धीरे धीरे उसी से नाटकों का विकास हुआ। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक की उत्पत्ति के संबंध में जो कथा दी हुई है उसमें इसे 'पंचम वेद' माना गया है और कहा गया है कि जो वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं हैं उनके सहित सारे समाज को वेदों का सा आनंद प्रदान करने ही के लिए इसकी रचना की गई है।[1] चारों वेदों से पृथक् पृथक् उपादान लेकर इसका निर्माण किया गया है। ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर चार तत्त्वों से इसका निर्माण किया गया।[2] भरत मुनि के इस कथन से स्पष्ट है कि नाटकों की उत्पत्ति वेदमूलक है। जितने प्रकार के वाङ्मय का भारतवर्ष में विकास हुआ, यदि सच पूछा जाय तो, सबका मूल वेद ही है।

रंगशाला

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में प्रेक्षागृह या रंगशालाएँ तीन प्रकार की बताई हैं; वे हैं विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट रंगशाला उत्कृष्ट बतलाई गई है। उसकी लंबाई १०८ हाथ होती थी। चतुरस्र रंगशाला मध्यम कोटि की होती थी उसकी लंबाई ६४ हाथ और चौड़ाई

---

१ न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥—नाट्यशास्त्र, १।१२

२ जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥—नाट्यशास्त्र, १।१७

३२ हाथ होती थी। ये दोनों रंगशालाएँ चौकोर होती थीं। त्र्यस्र रंगशाला साधारण कोटि की मानी गई है। यह त्रिभुजाकार होती थी। चतुरस्र में सब प्रकार के लोग संनिविष्ट हो सकते थे। किंतु त्र्यस्र में केवल थोड़े और घनिष्ठ लोगों का ही संनिवेश हो सकता था। तात्पर्य यह कि त्र्यस्र का व्यवहार गोष्ठी के लिए हुआ करता था और चतुरस्र का जनता के लिए। रंगशाला का आधा स्थान प्रेक्षकों के लिए और आधा रंगमंच के लिए होता था। रंगमंच का सबसे पीछे का भाग 'रंगशीर्ष' कहलाता था। यह छः खंभों पर निर्मित होता था और इसी में नाट्य के अधिष्ठातृ देवता का पूजन किया जाता था। नेपथ्य-गृह में जाने के लिए इसमें दो द्वार भी होते थे। रंगमंच के दो खंड होते थे। ऊपर के खंड में स्वर्गादि के दृश्य प्रदर्शित किए जाते थे और नीचे के खंड में मृत्युलोक के। रंगशीर्ष के अनंतर रंगपीठ हुआ करता था और रंगपीठ से आधे हाथ की ऊँचाई पर मत्तवारणी (बरामदा) हुआ करती थी। संभवतः इस मत्तवारणी का प्रयोजन अभिनेताओं के विश्राम के लिए होता था। मत्तवारणी के ही धरातल पर रंगमंडल बनाया जाता था। रंगपीठ को ही संभवतः नेपथ्य-गृह (ग्रीन रूम) कहते थे। रंग-शाला का निर्माण छोटे छोटे झरोखों से युक्त होता था। यह भी बताया गया है कि रंगशाला में कोणयुक्त या द्वार के सामने द्वार बनाना निषिद्ध है। नाट्य-मंडप गुहाकार होना चाहिए, जिससे उसमें वायु का यातायात अधिक न हो सके और अभिनेताओं की ध्वनि गूँजे। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के अनुकूल बनी हुई एक रंगशाला सरगूजा (मध्यप्रांत) में मिली है जो किसी देवदासी की बनवाई हुई है। उससे यह प्रमाणित हो जाता है कि मध्यकाल में भी नाटकों का अभिनय हुआ करता था और उनके लिए रंगशालाएँ निर्मित हुआ करती थीं। यद्यपि संस्कृत के सब नाटक रंगशालाओं के अनुरूप नहीं प्रस्तुत हुए तथापि उनमें से बहुतों का अभिनय हुआ करता था। यह बात कुछ नाटकों की प्रस्ताव-नाओं से भी प्रमाणित होती है; जैसे, प्रबोधचंद्रोदय' की प्रस्तावना से। हिंदी-जगत् में अपनी कोई रंगशाला इस समय नहीं है। बँगला और

मराठीवालों ने अपनी रंगशालाएँ संघटित कर ली हैं। बँगला की नाट्यशाला प्राचीनता के साथ नवीनता कुछ अधिक लिए हुए है। मराठी की रंगशाला प्राचीनता अधिक लिए हुए है। इन्हें प्राचीन रंगशालाओं का युग के अनुकूल परिष्कृत रूप ही समझना चाहिए। हिंदी के पुराने नाटक जिन रंगशालाओं में खेले गए उनका संघटन नए प्रकार का था और वे पारसी कंपनियों के तत्त्वावधान में थीं। हिंदी के अभिनेय नाटक अब भी इसी प्रकार के रंगमंच पर खेले जा रहे हैं। भरत मुनि के दिखाए हुए मार्ग पर आधुनिक आवश्यकताओं का ग्रहण करते हुए यदि हिंदीवाले अपना रंगमंच निर्मित करें तो उससे बहुत कुछ सुविधा प्राप्त हो सकती है। ऐसी स्थिति में वे मुँह बंद हो जायँगे जो कहा करते हैं कि 'प्रसाद' के नाटक नहीं खेले जा सकते।

अभिनय

अवस्था के अनुकरण को 'अभिनय' नाट्य कहते हैं।[1] यह अभिनय तीन प्रकार का हुआ करता है; आंगिक, वाचिक और सात्त्विक। आंगिक अभिनय में भ्रू, सिर, दृष्टि, हस्त, कटि, पद आदि की क्या-क्या मुद्राएँ होनी चाहिए नाट्यशास्त्र में इसका विस्तार के साथ वर्णन पाया जाता है। वाचिक अभिनय में वाणी अर्थात् उक्तियों का अनुकरण किया जाता है। उक्तियों के संबंध में छंद, स्वर, शैली, भाषा आदि का विस्तार के साथ उल्लेख पाया जाता है। सात्त्विक से तात्पर्य वेश-भूषा और अनुकार्य की प्रकृतिगत चेष्टाओं के अभिनय से है। अभिनय के भेदों के अंतर्गत ही नायक-नायिका-भेद भी आ जाता है जिसका आगे चलकर अत्यधिक विस्तार, विशेषतः हिंदी में, श्रव्यकाव्य के अंतर्गत दिखाई पड़ा। अभिनेता या नट के पथप्रदर्शन के लिए शास्त्रकारों ने जिन विधियों, रीतियों एवं शैलियों का विस्तार के साथ वर्णन था श्रव्यकाव्य के क्षेत्र में पहुँचकर उन्होंने विशेष विशृंखला उत्पन्न अभिनय का जितने विस्तार के साथ विश्लेषण नाट्यशास्त्र में किया

---

१ अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—दशरूप।

उससे यह सिद्ध हो जाता है कि शास्त्र के रूप में इसका जमकर अध्ययन किया जाता था। संप्रति अभिनयकला अधिकतर प्रातिभ समझी जाती है। अभ्यास की आवश्यकता तो इसमें भी मानी गई है, किंतु अभ्यास की पद्धतियों का निरूपण न होने से न तो इसे कोई शास्त्र के रूप में सीख ही सकता है और न अभिनय में दिखाई देनेवाली त्रुटियों का किसी पुष्ट आधार पर विरोध करने का साहस ही कर सकता है। इस प्रकार अभिनय की समीक्षा में समालोचक प्रातिभ ज्ञान (इंट्यूशन) का ही सहारा लेते हैं, जिसमें विभिन्नता के लिए पूर्ण अवकाश रहता है।

हिंदी में नाट्य-वाङ्मय

हिंदी में श्रव्यकाव्य की रचना तो आरंभ से ही होने लगी थी किंतु दृश्यकाव्य की रचना बहुत समय बाद प्रचलित हुई। आरंभ में संस्कृत-नाटकों के अनुवाद ही दिखाई देते हैं और वे भी पद्यबद्ध। इसलिए उनकी गणना किसी प्रकार दृश्यकाव्य के अंतर्गत नहीं होती। शकुंतला नाटक का जो अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह ने किया वह गद्य-पद्यमय होने पर भी अनुवाद मात्र था। अतः हिंदी-नाटकों का आरंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से ही हुआ। स्वयं भारतेंदु ने भी अधिकतर नाटकों का अनुवाद ही किया। उनके मौलिक नाटकों में कुछ तो छोटे छोटे रूपक हैं और कुछ उपरूपक। नीलदेवी और भारतदुर्दशा नामक देशप्रेम-संबंधी नाटक इन्होंने अवश्य लिखे पर उनका वैसा प्रसार नहीं हुआ जैसा इनके अनुवादों का या छोटे छोटे रूपकों का। भारतेंदु के समय में उनकी मित्र-मंडली ने भी वही काम किया जो वे स्वयं कर रहे थे। सबने कुछ नाटकों के अनुवाद किए और कुछ स्वच्छंद नाटक लिखे। उस युग के नाटककारों में भारतेंदु के बाद विशेष प्रतिभा-संपन्न बाबू राधाकृष्णदास ही दिखाई देते हैं जिनका 'राजस्थान-केसरी' अत्यंत लोकप्रिय हुआ। द्विवेदी-युग में भी अनुवादों की ही धूम रही। बँगला, संस्कृत, अँगरेजी सभी भाषाओं से अनुवाद करके नाटक प्रकाशित कराए गए। इसी युग में हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार जयशंकरप्रसाद

भी कुछ नाटक प्रकाशित हुए। नाटक की विभिन्न शाखाओं की ओर भी नाटककार प्रवृत्त हुए। द्विवेदी-युग का अंत और तदनंतर नवीन युग का आरंभ होते होते हिंदी में कई प्रकार के नाटक प्रस्तुत हो चुके थे। नाटकों की कमी पर साहित्यिकों की दृष्टि ऐसी गई कि औपन्यासिक प्रेमचंद भी अपने कई नाटक लेकर मैदान में उतरे। कवि सुमित्रानंदन पंत ने भी नाटक-रचना की। अनुवादों का क्रम भी चलता रहा और चल रहा है। बँगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों का अनुवाद भी इसी समय हुआ।

यह कहा जा चुका है कि नाटकों का आरंभ हिंदी में भारतेंदुजी से ही समझना चाहिए। उस समय जो नाटक लिखे गए वे अधिकतर सामाजिक थे और उनमें समाज-सुधार की बातों का ही संनिवेश करने का प्रयत्न होता था। पुराने नाटकों की शैली का प्रधान रूप से ग्रहण होता था और रस एवं घटनाचक्र पर ही उनकी अधिक दृष्टि रहती थी। आगे चलकर नाटकों का जो विकास हुआ उसमें चरित्र-चित्रण का महत्त्व अधिक दिखाई देता है। प्रबंध-ध्वनि के रूप में रस की स्पष्ट व्यंजना पर नाटककारों की दृष्टि नहीं दिखाई देती। वर्गगत समस्याओं तथा प्रेम की उलझनों को लेकर भी नाटक लिखे जाने लगे और ऐसे नाटकों का भी निर्माण हुआ जो 'अध्यवसित रूपक' कहे जाते हैं। अध्यवसित रूपक की रचना नाटक-निर्माण-कौशल के विचार से चरम सीमा के रूप में समझी जाती है। संस्कृत में 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक उसके अंतिम काल की रचना है, जब नाटकों का रचना-कौशल पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। हिंदी में प्रसादजी की 'कामना' तथा 'एक घूँट', और सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्स्ना' का नाम लिया जा चुका है। इनको देखते हुए इस बात का आभास अवश्य मिलता है कि हिंदी में रूपक-रचना-कौशल चरम सीमा को पहुँच चुका है। किंतु रचना-कौशल ही सब कुछ नहीं है। नाटकों का विचार पाठकों और दर्शकों की दृष्टि से भी होना आवश्यक है। भावों और प्राकृतिक दृश्यों के नररूप धारण कर काव्य में व्यक्त होने से साधारणीकरण का वह वैशिष्ट्य बहुत कुछ नष्ट हो जाता

है जो नाटक का आवश्यक गुण है। इसको इस रूप में भी कह सकते हैं कि नाटक में नाटकत्व और काव्यत्व दो तत्त्व हुआ करते हैं उनमें से काव्यत्व प्रधान हो जाता है और नाटकत्व दब जाता है। इसलिए अन्य साहित्यिक नाटकों को पाठ्य कहना तो केवल अभिनेय नाटकों की भेद-कता की दृष्टि से ही समझना चाहिए, किंतु ये नाटक सचमुच पाठ्य ही नाटक हैं अर्थात् इनकी गणना दृश्यकाव्य में न होकर श्रव्यकाव्य में होनी चाहिए। ये संवाद में लिखे गए श्रव्यकाव्य मात्र हैं। जैसे गद्य और पद्य इन दो शैलियों में श्रव्यकाव्य की रचना होती है वैसे ही संवादशैली में की गई ये रचनाएँ समझनी चाहिए।

एकांकी नाटक

इधर हिंदी में 'एकांकी नाटकों' की विशेष धूम मची हुई है। इनके प्रचलन का कारण एक तो विदेशी अनुकृति है और दूसरे छोटे छोटे नाटकों द्वारा मनोरंजन का वह सरस और अल्पसमयसाध्य मार्ग निकालना जिसके कारण उपन्यास के स्थान पर छोटी छोटी कहानियों का अधिक चलन हुआ। नाटकों के जितने भेद पहले बतलाए गए हैं उनमें से कई रूपक और अधिकतर उपरूपक एकांकी नाटकों का ही प्रयोजन सिद्ध करनेवाले थे। पर इनकी ओर न बढ़कर केवल विदेशी अनुकृति ही होने का मुख्य कारण यह है कि अपने घर का बहुतों को पता ही नहीं है और जिन्हें पता है भी उनमें नवीन रुचि के अनुसार उनका परिष्कार कर सकने की क्षमता नहीं है। इन एकांकी नाटकों को देखने से पता चलता है कि छोटी कहानी का मसाला संवादों में रख दिया गया है। बीच बीच में 'रंगनिर्देश' (स्टेज-डाइरेक्शन) के नाम पर वह सामग्री भी जुड़ी रहती है जो संवाद में खप नहीं सकती। बढ़िया एकांकी लिखनेवाले बहुत थोड़े हैं। हिंदी में छोटे छोटे नाटक लिखने का क्रम भारतेंदुजी के समय से ही चल रहा है। उन्होंने कई छोटे छोटे नाटक लिखे थे। प्रसादजी ने भी कई छोटे नाटक लिखे। पर वे सब अपनी प्राचीन शैली पर ही लिखे गए हैं।

हास्यात्मक प्रसंग

दर्शकों का स्थूल रूप से मनोरंजन करने के लिए अभिनेय नाटकों में हास्यात्मक प्रसंगों की योजना आवश्यक समझी गई। यह योजना दो प्रकार की दिखाई देती है। कहीं कहीं तो नाटक के मुख्य पात्रों में से किसी की विकृत वाणी या वेशरचना द्वारा हास उत्पन्न किया जाता रहा और कहीं कहीं मूल कथा के साथ ही असंबद्ध रूप में छोटी सी हास्यात्मक कथा के विधान द्वारा इसकी पूर्ति की गई। मूल कथा के साथ हास्यरस के लघुवृत्त का असंबद्ध रूप उन नाटकों के असाहित्यिक रूप का प्रमाण समझना चाहिए। प्रासंगिक कथा के रूप में यदि वह योजना की जाय तो उतनी भद्दी नहीं प्रतीत हो सकती। प्रसन्नता की बात है हिंदी के साहित्यिक नाटकों में ऐसी गंगाजमुनी धारा किसी भी नाटक में कहीं नहीं दिखाई देती। संस्कृत के पुराने नाटकों में हास्यरस के नाटक पृथक् ही मिलते हैं। भारतेंदु बाबू ने भी 'अंधेरनगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि छोटे छोटे रूपक इसी प्रकार के लिखे थे। नाटकों में हास्य की योजना शृंगाररस के नाटकों में ही दिखाई देती है और वह संपन्न की जाती है विदूषक के कार्य-कलापों द्वारा। नाटकों का विदूषक अपनी कार्यावली से नाटक की घटनाओं के मोड़ने में सहायक का काम करता है। हिंदी के नाटकों में प्रसादजी ने विदूषकों की योजना की है। संस्कृत के नाटकों की तरह इनके विदूषक भी जात्या ब्राह्मण और प्रकृत्या पेटू होते हैं। अपनी उलटी सीधी बातों से अभिनेय नाटकों की भाँति ये मनोरंजन करते हैं और घटनाओं के प्रसार में सहायक भी होते हैं। इसके साथ ही साथ प्रसादजी के विदूषक कहीं कहीं अँगरेजी नाटक की भाँति जीवन की विचित्रता की समीक्षा करते हुए भी लक्षित होते हैं। तात्पर्य यह कि प्रसादजी ने हास्यरस के सामान्य एवं विशेष दोनों प्रकार के प्रयोगों पर अपनी दृष्टि रखी है। जो शुद्ध मनोरंजन ही करना चाहते हैं वे जीवन की व्याख्या में संलग्न नहीं होते; उदाहरण के लिए देखिए 'कृष्णार्जुन-युद्ध' का हास्यात्मक प्रसंग।

चलचित्र

इधर जब से चलचित्रों का प्रसार हुआ तब से जनता के मनोरंजन के साधन अधिकतर ये ही होने लगे। नाटकों की अपेक्षा चल चित्रपटों में अर्थ का व्यय भी दर्शकों की दृष्टि से कम होता है। इसलिए साधारण से साधारण व्यक्ति भी इनके द्वारा अपना मनोरंजन कर सकता है। जब तक मूक चलचित्रों का ही प्रचार रहा तब तक नाटकों की विशेष क्षति नहीं हुई। किंतु जब से सवाक् चलचित्रों का प्रचार हुआ तब से नाटकों का प्रदर्शन क्षतिग्रस्त हो रहा है। अभिनेय नाटक कुछ व्यापारिक या अव्यापारिक नाट्यसंस्थाओं द्वारा खेले जाते थे। अव्यापारिक संस्थाएँ कभी कभी साहित्यिक नाटकों का प्रदर्शन भी किया करती थीं। किंतु इधर सवाक् चलचित्रों के प्रसार से कई व्यापारिक नाट्य-संस्थाएँ टूट चुकी हैं और अव्यापारिक नाट्य-संस्थाएँ भी नाट्य प्रदर्शन बहुत कम कर रही हैं। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या सवाक् चलचित्रों के प्रसार से साक्षात् नाट्य-प्रदर्शन एकदम रुक जायगा। जीवन की संकुलता बढ़ जाने से मनोरंजन के सुलभ साधन की आवश्यकता संसार के समस्त देशों में उठ खड़ी हुई है। दर्शकों की दृष्टि से साक्षात् नाटकाभिनय सवाक् चलचित्रों की अपेक्षा अधिक द्रव्य-साध्य है। यही कारण है कि धीरे धीरे सभी देशों में प्रायः उसका ह्रास होने लगा है। इसीलिए साहित्य की गतिविधि परखनेवाले सशंक दिखाई देते हैं। विज्ञान की चरमोन्नति से सवाक् चलचित्रों में जो प्रेताकार मूर्तियाँ दिखाई देती हैं उनसे साधारण विद्याबुद्धि के लोगों का मनोरंजन चाहे हो जाय किंतु साहित्य की अभिरुचि रखनेवाले लोगों का पूर्ण संतोष उससे नहीं हो सकता। भारतीय नाट्यशास्त्रों में नाटकों का लक्ष्य रससंचार माना गया है। अभिनीत होने पर पूर्वी या पश्चिमी नाटक या सवाक् चलचित्र सभी में दर्शकों के विचार से रससंचार ही मुख्य दिखाई भी देता है। किंतु सवाक् चलचित्रों से शुद्ध मनोरंजन अधिक और रससंचार अपेक्षाकृत कम होता है। इसलिए नाटकाभिनय

के अवलोकन की लिप्सा काव्याभिरुचि-संपन्न लोगों में अवश्य बनी रहेगी। इसलिए यह विश्वास किया जा सकता है कि सवाक् चलचित्रों का चाहे जितना प्रसार या विकास हो, प्रत्यक्षाभिनय का एकदम लोप हो जाना एक प्रकार से असंभव सा प्रतीत होता है। रह गई साहित्यिक नाटकों के निर्माण की बात। यह पहले ही कहा जा चुका है कि साहित्यिक नाटक अधिकतर अभिनय-निरपेक्ष दृष्टि से निर्मित होते हैं। अतः अभिनय के उद्देश्य से न सही संवाद-शैली की विशेषता की दृष्टि से ही उनकी रचना निरंतर होती रहेगी। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षाभिनय चाहे कम हो जाय किंतु साहित्यिक रूपकों की रचना किसी प्रकार बंद नहीं हो सकती।

शास्त्र

शब्द और अर्थ

काव्य के स्वरूप और नियंत्रण का जिसमें विचार हो उसे 'शास्त्र' कहते हैं। रचना में शब्द और उसका अर्थ ये ही मुख्य हैं। काव्य में शब्द साधन और अर्थ साध्य हुआ करता है। रचना में जिन शब्दों का व्यवहार होता है उन शब्दों के अर्थ का निश्चय कोश, व्याकरण या अत्यन्त संकेत द्वारा प्राप्त होता है। रचना में प्रयुक्त शब्दों का जो ऐसा संकेत प्राप्त होता है उसे 'साक्षात् संकेत' कहते हैं। इस साक्षात् संकेत से शब्द का जो अर्थ ज्ञात होता है उसे उसका 'मुख्यार्थ' कहते हैं। जिस प्रक्रिया या शब्द की शक्ति से ऐसा अर्थ प्रतीत होता है उसे 'अभिधा' कहते हैं। किंतु कभी कभी रचना में प्रयुक्त शब्दों का वाच्यार्थ ग्रहण करने से काम नहीं चलता। ऐसी स्थिति में उन शब्दों का दूसरा संभाव्य अर्थ लेना पड़ता है। जैसे, यदि कहा जाय कि 'उन दो घरों में झगड़ा चल रहा है' तो यहाँ पर पत्थर, ईंट, मिट्टी, लकड़ी आदि से बने हुए निर्जीव घर लड़ने में असमर्थ दिखाई देते हैं। इसलिए वाच्यार्थ के ग्रहण करने से काम नहीं चलता। ऐसी स्थिति में 'घर' शब्द का अर्थ 'घर में रहनेवाले व्यक्ति' लेना होगा। प्रश्न हो सकता है कि घर में रहनेवाले व्यक्तियों के स्थान पर केवल 'घर' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया। उत्तर होगा कि एक घर के रहनेवाले सभी व्यक्तियों से दूसरे घर के रहनेवाले सभी व्यक्तियों से झगड़ा होने के प्रयोजन से घर के निवासियों के स्थान पर केवल 'घर' शब्द का व्यवहार किया गया है। ऐसी स्थिति में वाच्यार्थ के अतिरिक्त दो प्रकार के अर्थ दिखाई दे रहे हैं। एक तो 'घर' के स्थान पर घर के निवासियों का

संभाव्य अर्थ और दूसरे घर के सभी निवासियों का व्यंजक अर्थ। पहले अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं क्योंकि शब्द के द्वारा वह अर्थ लक्षित कराया जाता है और दूसरे अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं क्योंकि यह अर्थ उससे केवल व्यक्त होता है। पहले अर्थ का संबंध वाच्यार्थ से जुड़ा रहता है किंतु दूसरे अर्थ का सीधा संबंध वाच्यार्थ से नहीं होता। उसका विशेष रूप से विधान या योजना करनी पड़ती है। इसीलिए उस अर्थ को प्रयोजन (विशेष रूप से जोड़ना) कहते हैं। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ इन्हीं के तारतम्य से काव्य के तीन भेद किए जाते हैं— पहला वह जिसमें वाच्यार्थ प्रधान हो, दूसरा वह जिसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ तुल्यकोटिक हों और तीसरा वह जिसमें व्यंग्यार्थ प्रधान हो। पहले को 'अलंकार', दूसरे को 'गुणीभूत व्यंग्य' और तीसरे को 'ध्वनि' कहते हैं। इनका संक्षिप्त उल्लेख काव्य के भेद में अर्थ की दृष्टि से किए गए भेदों में पहले हो चुका है। यहाँ पर कुछ विस्तार के साथ इन पर विचार किया जाता है।

अलंकार

शब्दार्थ, वर्ण्य और आधार के विचार से अलंकारों के तीन प्रकार से भेद किए जा सकते हैं। शब्दार्थ के विचार से अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकार वे हैं जिनका चमत्कार शब्दों पर निर्भर रहता है अर्थात् रचना में प्रयुक्त शब्दों को पर्यायवाची शब्दों से बदल देने पर वह चमत्कार नष्ट हो जाता है। अर्थालंकार वे अलंकार कहलाते हैं जिनमें अर्थ का प्राधान्य रहता है अर्थात् चमत्काराधायक शब्दों का परिवर्तन करके उनके पर्यायवाची शब्द रख देने से भी वही चमत्कार बना रहता है। इनके अलग अलग बहुत से भेद किए गए हैं। मुख्यतः शब्दालंकारों के आठ और अर्थालंकारों के लगभग १०० भेद होते हैं। एक भेद उभयालंकार भी माना गया है। यहाँ 'उभय' का अर्थ केवल 'दो' है, अर्थात् दो शब्दालंकार, दो अर्थालंकार या एक शब्द और एक अर्थ का अलंकार

अथवा दो से अधिक अलंकार भी जहाँ मिले हुए हों वहाँ उभयालंकार होता है। अलंकारों की यह मिलावट भी दो प्रकार की मानी जाती है। जहाँ दो या दो से अधिक अलंकार नीरक्षीरवत् मिले हुए हों वहाँ अलंकारों की मिलावट 'संकर' कहलाती है। ये अलंकार ऐसे मिले हुए होते हैं कि इनको एक दूसरे से पृथक् करना कठिन होता है। जहाँ दो अलंकार तिलतंदुलवत् मिले होते हैं वहाँ अलंकारों का मिश्रण 'संसृष्टि' कहा जाता है। जिस प्रकार मिले हुए काले तिल और उज्ज्वल चावल को अलग कर लेना सहज होता है उसी प्रकार एक ही रचना में जहाँ अलग अलग अलंकार स्पष्ट दिखाई देते हों वहाँ संसृष्टि होती है।

अलंकारों का दूसरे प्रकार से भेद वर्ण्य विषय के विचार से किया जा सकता है। काव्य के वर्ण्य दो होते हैं; भाव और वस्तु। कभी कभी अलंकार किसी भाव की प्रतीति तीव्र करता हुआ दिखाई देगा और कभी कभी किसी वस्तु का सम्यक् बोध कराने में वह सहायक होगा। अलंकार वस्तुतः काव्य की शोभा बढ़ानेवाला धर्म माना जाता है;[१] और इस प्रकार उसका उचित उपयोग भाव की प्रतीति या वस्तु के बोध में होना ही ठीक प्रतीत होता है। वस्तु का बोध कई प्रकार का हो सकता है। उसके रूप का बोध, उसके गुण का बोध और उसकी क्रिया का बोध। रूप के बोध का तात्पर्य केवल वस्तु के आकार का बोध नहीं है। वस्तु के केवल आकार का बोध कराने से अलंकार का शोभाधायक गुण नष्ट हो जाता है। क्योंकि वस्तु के रूप का बोध करते हुए उसके साथ हमारी प्रवृत्ति या निवृत्ति की भावना भी कुछ न कुछ अवश्य लगी रहती है। इसलिए वस्तु के रूप के बोध के अंतर्गत वस्तुतः उसके प्रभाव का बोध भी आवश्यक होता है। रूप का बोध कराने के लिए समता प्रदर्शित करनेवाले अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। इन अलंकारों में दो पक्ष होते हैं—एक तो वर्ण्य वस्तु या उपमेय का पक्ष और दूसरे उसके बोध के लिए लाई गई वस्तु अर्थात् अवर्ण्य या उप-

१ काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते—काव्यादर्श।

मान का पक्ष। रूपबोध के संबंध में जो बात ऊपर कही गई है उसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दे देना अच्छा होगा। यदि किसी नायिका के गोल मुख का उपमान 'चकला' रखा जाय तो गोलाई का बोध तो कुछ कुछ हो जायगा किंतु नायिका के मुख उपमेय के प्रति जो रमणीयता की भावना होती है उसका कुछ भी आभास न मिलेगा। इसलिए उसके मुख को चंद्रमा या कमल कहना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। अतः काव्य में जहाँ जहाँ इस विचार के अनुरूप उपमान लाए जायँगे वहाँ उन्हें शोभाधायक श्रेणी में रखेंगे। यही बात गुण और क्रिया के संबंध में भी समझनी चाहिए।

अलंकारों में कुछ विशेष आधारों का उपयोग दिखाई देता है। इन आधारों के सात वर्ग माने जाते हैं—सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ, शृंखला-बद्ध, तर्कन्यायमूल, वाक्यन्यायमूल, लोकन्यायमूल और गूढ़ार्थप्रतीतिमूल। सादृश्यगर्भ वर्ग के अंतर्गत जितने अलंकार आते हैं उनकी कड़ियाँ भी एक दूसरे से मिली हुई हैं। इनके बीचो-बीच उपमा अलंकार होता है। उपमा अलंकार में उपमेय और उपमान दोनों में भेद भी रहता है और कुछ कुछ अभेद भी। एक ओर भेद बढ़ने लगता है और दूसरी ओर अभेद। भेद बढ़ते बढ़ते उस सीमा पर पहुँच जाता है जहाँ उपमेय और उपमान एकदम पृथक् हो जाते हैं (व्यतिरेक)। दूसरी ओर अभेद बढ़ते बढ़ते उस सीमा पर पहुँच जाता है जहाँ दोनों में एकता हो जाती है (रूपक)। इसके अनंतर भेद से आगे बढ़कर उपमेय का प्रधानत्व और उपमान का गौणत्व बढ़ने लगता है। दूसरे शब्दों में कहें तो एक प्रकार से उपमान का उत्तरोत्तर तिरस्कार और साथ ही साथ बहिष्कार होता जाता है (प्रतीप)। फलस्वरूप उपमान का लोप हो जाता है और उसके स्थान पर भी केवल उपमेय ही रह जाता है (अनन्वय)। यहाँ उप-मेय का उपमान उपमेय ही होता है; जैसे—'राम से राम सिया सी सिया सिरमौर बिरंचि बिचारि सँवारे'। ठीक इसी प्रकार 'रूपक' से आगे बढ़कर धीरे धीरे उपमेय गौण होता जाता है और उपमान प्रधान; और अंत में उपमान की प्रधानता उस सीमा को पहुँच जाती है जहाँ

उपमेय का एकदम लोप हो जाता है, केवल उपमान ही रह जाता है। उपमान यहाँ उपमेय तथा उपमान दोनों को काम देता है (रूपकातिशयोक्ति); जैसे—

राम सीय-सिर सेंदुर देहीं। उपमा कहि न सकत कबि केहीं॥
अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥

यहाँ 'अरुन पराग' का तात्पर्य 'सिंदूर', 'जलज' (कमल) का तात्पर्य राम का 'हाथ' और 'चंद्रमा' (ससि) का तात्पर्य सीता का 'मुख' और 'अहि' (सर्प) का तात्पर्य राम की 'भुजा' है।

विरोधगर्भ अलंकारों में तीन प्रकार की स्थितियाँ दिखाई देती हैं—कहीं तो द्रव्य, जाति, गुण और क्रिया का पारस्परिक विरोध दिखाकर चमत्कार उत्पन्न किया जाता है जिसमें विरोध का आभास मात्र रहता है अर्थात् विरोध वास्तविक नहीं होता कविकल्पित होता है; जैसे—'बिषमय यह गोदावरी अमृतन के फल देति'। यहाँ 'बिषमय' (जहरीली) गुण का 'अमृत' द्रव्य से विरोध है। किंतु 'विष' का अर्थ 'जल' और 'अमृत' का अर्थ 'देवता' भी होता है। अतः इस पद का अर्थ होगा—'जलमय गोदावरी देवता बना देती है'। इस प्रकार कोई विरोध नहीं रह जाता। कहीं कारण और कार्य को लेकर विरोध दिखाया जाता है। कहीं तो उनकी पूर्वापर स्थिति का विपर्यय दिखाया जाता है (कारणातिशयोक्ति) और कहीं कारण के अभाव में कार्य का होना (विभावना) या कारण के सद्भाव में कार्य का न होना (विशेषोक्ति) प्रदर्शित किया जाता है। कहीं कारण और कार्य में देशकाल का व्यवधान पड़ जाता है (असंगति)। कहीं कारण और कार्य के गुण और क्रिया में अंतर दिखाया जाता है (विषम)। विरोध की तीसरी स्थिति आधार और आधेय का चमत्कार लेकर दिखाई जाती है। कहीं तो छोटे आधार में बड़े आधेय का समावेश दिखाया जाता है (अल्प) और कहीं बहुत बड़े आधार से भी बहुत बड़ा आधेय दिखलाया जाता है (अधिक)।

श्रृंखलामूलक अलंकारों में एक बात से दूसरी बात उसी प्रकार जुटती चली जाती है जिस प्रकार किसी श्रृंखला की कड़ियाँ। इस प्रकार के विभिन्न अलंकारों में श्रृंखला की कड़ियों का लगाव विभिन्न प्रकार का होता है। कहीं तो पूर्व पूर्व वस्तु के साथ उत्तरोत्तर वस्तु का विशेष्य-विशेषण-भाव रहता है (एकावली), कहीं कार्य-कारण-भाव (कारणमाला), कहीं उपकार्य-उपकारक-भाव (मालादीपक) और कहीं उत्तरोत्तर उत्कर्षापकर्ष की स्थिति (सार)।

तर्कन्यायमूल अलंकार वे हैं जिनमें न्यायशास्त्र के अनुमान का सहारा लिया जाता है। न्यायशास्त्र में कारण दो प्रकार के माने गए हैं— एक उत्पादक, दूसरे ज्ञापक। पिता पुत्र का उत्पादक कारण है और पुत्र पिता का ज्ञापक कारण। कहीं तो उत्पादक कारण और कार्यरूप में कथित वस्तुएँ आती हैं (हेतु) और कहीं ज्ञापक कारण और कार्यरूप में कथित वस्तुएँ (काव्यलिंग)। वाक्यन्यायमूल अलंकार वे हैं जिनमें वाक्यों के संघटन और विधि-विधान के विचार से वस्तुओं के क्रम अथवा उलट-पलट का वर्णन किया जाय। कहीं तो केवल क्रमपूर्वक कथित वस्तुओं का अन्वय उसी क्रम से कथित वस्तुओं के साथ होता है (यथासंख्य) और कहीं किसी विशेष अर्थ के प्रतिपादन के लिए किसी विशेष शब्दावली का आक्षेप करना पड़ता है (दृष्टांत)। कहीं 'परिवृत्ति' दिखलाई जाती है और कहीं एक कार्य के लिए अनेक कारणों का 'समुच्चय'।

लोकन्यायमूल अलंकार वे हैं जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श के आधार पर अंगांगी भाव से कथित वस्तुओं के रूपादि के परिवर्तन या लीन होने का उल्लेख होता है (तद्गुण, मीलित आदि)।

गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार वे हैं जिनमें कोई गूढ़ बात लक्षित कराई जाती है। कहीं तो गूढ़ बात केवल दूसरे के संकेत के लिए होती है (गूढ़ोक्ति), कहीं गूढ़ बात के दूसरे द्वारा ग्रहण करने पर विशेष चमत्कार उत्पन्न करने के लिए अर्थांतर का ग्रहण होता है

(वक्रोक्ति) और कहीँ विशेष स्थिति मेँ दिखाई पड़नेवाले शब्दोँ द्वारा कोई विशेष बात लक्षित कराई जाती है (अन्योक्ति आदि)।

अलंकार एक विशेष प्रकार की लिखने या बोलने की शैली है, और उसके द्वारा विशेष प्रकार के अर्थ लक्षित कराए जाते हैँ। अलंकारोँ का संप्रदाय प्राचीन है। प्राचीन काल मेँ काव्य मेँ अलंकारोँ की प्रधानता मानी जाती थी।[1] कहनेवाले तो यहाँ तक कहते हैँ कि काव्य को अलंकाररहित मानना वैसा ही है जैसे अग्नि को उष्णतारहित मानना।[2] वामन ने काव्य को चमत्कारपूर्ण या ग्राह्य इसलिए माना है कि उसमेँ अलंकारोँ का विधान होता है; और यह भी कह दिया है कि अलंकार वस्तुतः काव्य-सौंदर्य है।[3] तात्पर्य यह कि प्राचीनोँ के मत मेँ ये काव्य के नित्य धर्म हैँ, इन्हेँ अनित्य धर्म मानकर चलना अनुचित है; काव्य अनलंकार कभी नहीँ हो सकता। काव्योँ मेँ अलंकारोँ की प्रधानता रससंप्रदाय के विशेष प्रचार या प्रसार के साथ ही साथ कम होने लगी और वे हारादिवत् काव्य के अनित्य लक्षण माने गए।

व्यंजना

व्यंजित विषय, वाच्य-ग्रहण, प्रतीयमान अर्थ और व्यंग्योपलब्धि के क्रम के विचार से व्यंजनाएँ कई प्रकार की हुआ करती हैँ। व्यंजित विषय के स्वरूप के विचार से व्यंजना दो प्रकार की होती है—वस्तु-व्यंजना और भावव्यंजना। यद्यपि शास्त्रीय ग्रंथोँ मेँ अलंकारव्यंजना भी मानी गई है तथापि अलंकार-व्यंजना वस्तुतः वस्तुव्यंजना ही है। अलंकारव्यंजना और वस्तुव्यंजना मेँ अंतर इतना ही है कि जहाँ वस्तु-व्यंजना बतलाए हुए अलंकारोँ के ढाँचे के रूप मेँ निकलती है वहाँ वह वस्तुव्यंजना न कहलाकर अलंकारव्यंजना कहलाती है; जैसे—

---

१ अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।

२ असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।—चंद्रालोक।

३ काव्यं ग्राह्यं अलंकारात्। सौंदर्यमलंकारः।

तू रहि सखि हौं ही लखौं चढ़ि न अटा बलि बाल।
सबही बिनु ससि ही उदै दैहैं अरघ अकाल॥

यहाँ नायिका के मुख का सौंदर्य वस्तु (तथ्य) व्यंग्य है। किंतु यह वस्तु भ्रांतिमान् अलंकार के रूप में आई है। इसलिए इसे वस्तु-व्यंजना न कहकर अलंकारव्यंजना कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि अलंकार-व्यंजना भी वस्तुव्यंजना ही है।

वाच्य की विवक्षा के आधार पर भी व्यंजना के दो भेद होते हैं—विवक्षितवाच्य और अविवक्षितवाच्य। जहाँ वाच्यार्थ का ग्रहण करते हुए दूसरा व्यंग्यार्थ निकलता है वहाँ विवक्षितवाच्य व्यंजना होती है। इसे अभिधामूला व्यंजना भी कहते हैं। जहाँ वाच्यार्थ की विवक्षा (अपेक्षा या आवश्यकता) व्यंग्यार्थ ग्रहण करने में नहीं रहती वहाँ अविवक्षितवाच्य व्यंजना होती है; जैसे—

'कलुषनाशिनि दुष्टनिकंदिनी, जगत की जननी जगदंबिके।
जननि के जिय की सिगरी व्यथा, जननी ही जिय है कुछ जानता॥

इसमें चतुर्थ चरण में प्रयुक्त 'जननी' शब्द का वाच्यार्थ है 'माता'। किंतु उसका व्यंग्यार्थ है 'पुत्र वियोग की पीड़ा जाननेवाली'। यह व्यंग्यार्थ माता वाच्यार्थ की अपेक्षा नहीं रखता।

प्रतीयमान अर्थ के विचार से व्यंजना के दो भेद होते हैं—अर्थांतरसंक्रमित और अत्यंततिरस्कृत। जहाँ एक अर्थ से दूसरे अर्थ में संक्रमण मात्र होता है वहाँ अर्थांतरसंक्रमितवाच्य व्यंजना होती है।

सीताहरन पिता सन तात, कहेहु जनि जाइ।
जौं मैं राम तौ कुलसहित कहिहि दसानन आइ॥

यहाँ 'राम' शब्द का अर्थ 'दशरथ का पुत्र' नहीं है, प्रत्युत इसका अर्थ है 'कुलसहित रावण को स्वर्ग भेजनेवाला'। अतः यहाँ 'राम' शब्द अर्थांतर में संक्रमित हो रहा है। जहाँ अर्थांतर वाच्यार्थ के ठीक विपरीत होता है वहाँ जो व्यंजना होती है उसे अत्यंततिरस्कृतवाच्य व्यंजना कहते हैं; जैसे—

कह कपि 'धर्मसीलता तोरी । हमहुँ सुनी कृत परतिय-चोरी' ॥

यहाँ पर 'धर्मशीलता' का अर्थ यदि 'धर्म का आचरण' लिया जाय तो उसके साथ 'परतिय-चोरी' का समन्वय नहीं हो सकता। अतः 'धर्मशीलता' का अर्थ लिया जायगा 'अधर्मशीलता'। यह अर्थांतर वाच्यार्थ के ठीक विपरीत है। इसलिए इसे अत्यंततिरस्कृत कहते हैं।

वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने के क्रम के लक्ष्यालक्ष्य के विचार से भी व्यंजना के दो भेद किए जाते हैं—संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्य-क्रम। जहाँ यह क्रम लक्षित होता है उसे संलक्ष्यक्रम व्यंजना कहते हैं और जहाँ यह क्रम लक्षित नहीं होता वहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यंजना होती है। वस्तुव्यंजना संलक्ष्यक्रम और भावव्यंजना असंलक्ष्यक्रम होती है। इस प्रकार इन व्यंजनाओं का चक्र यों हुआ—
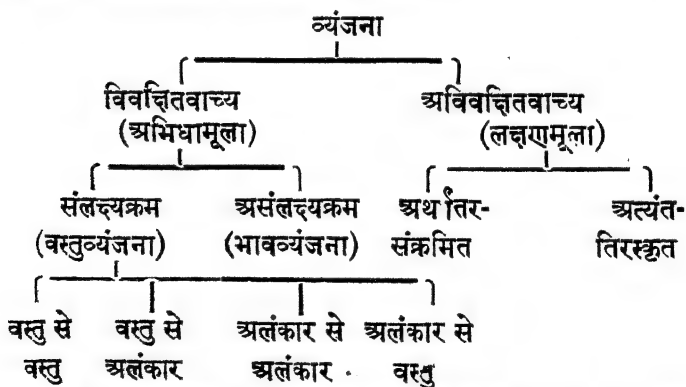
यहाँ पर वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने के क्रम पर कुछ थोड़ा सा और विचार कर लेना उचित जान पड़ता है। संलक्ष्य-क्रम या वस्तु-व्यंजना में यह क्रम लक्षित रहता है। इसलिए अनुमान प्रमाण के ढंग पर इसकी कोटियाँ बनाई जा सकती हैं। जैसे तर्क की कोटियाँ इस प्रकार होती हैं—

मनुष्य मरणशील है।

अमरनाथ मनुष्य है।

अतः अमरनाथ मरणशील हैं।

वैसे ही वस्तुव्यंजना में भी यह कोटि-क्रम हो सकता है। एक उदाहरण लीजिए—

तु ही साँच द्विजराज है तेरी कला प्रमान।
तोपै सिव किरपा करी जानत सकल जहान॥

इसका वाच्यार्थ है 'हे चंद्र, तू ही सच्चा द्विजराज है। तेरी ही कला सार्थक है। सारा संसार जानता है कि शिवजी ने तेरे ऊपर कृपा की है'। इसका व्यंग्यार्थ है 'शिवाजी ने भूषण (द्विजराज = ब्राह्मण) की कविता (कला) पर प्रसन्न होकर उन्हें दान दिया (कृपा की)।' यह व्यंग्यार्थ द्विजराज, कला और शिव शब्दों के श्लेष से निकलता है। अनुमान की तरह कोटियाँ होंगी—

कलासंपन्न द्विजराज पर शिव कृपा करते हैं।
भूषण कलासंपन्न द्विजराज हैं।
अतः भूषण पर भी शिव (शिवाजी) कृपा करते हैं।

वस्तुव्यंजना के इसी कोटिक्रम के आधार पर व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि काव्य की व्यंजना अनुमान के अतिरिक्त कोई नवीन प्रक्रिया नहीं है। बहुत ठीक, वस्तु-व्यंजना के प्रसंग में तो यह बात मानी जा सकती है। क्योंकि वाच्यार्थ से व्यंगार्थ तक पहुँचने में अनुमान का क्रम गृहीत कर लेने में कोई बाधा नहीं। किंतु भावव्यंजना में यह क्रम लक्षित नहीं होता। वाच्यार्थ के आते ही पाठक व्यंग्यार्थ पर पहुँच जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

'माषे लखन कुटिल भइँ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौहैं।'

यहाँ भी यदि अनुमान की कोटियाँ बनाई जायँ तो वे इस प्रकार बनेंगी—

जहाँ भौंहें टेढ़ी होती हैं, ओंठ फड़कते हैं, नेत्र लाल होते हैं, वहाँ क्रोध हुआ करता है।

लक्ष्मण की भौंहें टेढ़ी हैं, ओंठ फड़क रहे हैं, नेत्र लाल हैं।

अतः लक्ष्मण के हृदय में क्रोध है।

किंतु पाठक को इस क्रम से लक्ष्मण के क्रोध का अनुमान करने की

आवश्यकता नहीं पड़ती। उसने लक्ष्मण की चेष्टाएँ पढ़ीं और तुरंत क्रोध की प्रतीति कर ली। यहाँ भी लक्ष्मण की वर्णित चेष्टा वाच्यार्थ से क्रोध व्यंग्यार्थ तक पहुँचने में क्रम होता तो अवश्य है, किंतु वह लक्षित नहीं होता इसलिए नैयायिकों के अनुमान की प्रक्रिया भावव्यंजना में नहीं लग सकती। अतः व्यंजना अनुमान से भिन्न प्रक्रिया है। उक्त क्रम होते हुए भी किस प्रकार अलक्षित रहता है इसका शास्त्रकार अच्छा दृष्टांत देते हैं। यदि कमल के बहुत से दल ऊपर नीचे रखकर एक साथ सुई से छेदे जायँ तो सुई पहले दल के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे इसी प्रकार क्रमशः अंतिम दल को छेदकर बाहर निकलेगी अर्थात् पत्तों के छिदने में क्रम अवश्य होता है किंतु उन कोमल पत्तों को सुई के द्वारा छेदने में क्षण भर भी नहीं लगता। अतः यदि कोई सुई के छेदने के क्रम को लक्षित करना चाहे तो वह लक्षित नहीं हो सकता। भावव्यंजना तक पाठक इसी प्रकार शीघ्रता से बिना क्रम को लक्षित किए पहुँच जाया करता है।

रस

प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति

रस का संबंध है अनुभूति से। यह अनुभूति दो प्रकार की होती है। एक को साक्षात् या प्रत्यक्षानुभूति कह सकते हैं और दूसरी को काव्यानुभूति या रसानुभूति। हम अपने जीवन में अपने व्यक्तिगत संबंध से क्रोध, करुणा, घृणा, प्रेम आदि भावों की जो अनुभूति करते हैं वह प्रत्यक्षानुभूति होती है। इसको चाहें तो 'भावानुभूति' भी कह सकते हैं। इस अनुभूति के अतिरिक्त काव्य के पढ़ने या नाटक के देखने से भी हमारे हृदय में क्रोध, करुणा, घृणा, प्रेम आदि भावों की अनुभूति जगती है। इस अनुभूति को काव्यानुभूति कहेंगे। यह अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा कुछ संस्कृत या परिष्कृत हुआ करती है। प्रत्यक्षानुभूति में हम जिन भावों की अनुभूति करते हैं वे भाव दो प्रकार के दिखाई देते हैं—सुखात्मक और दुःखात्मक। सुखात्मक भावों में हमारा मन लगता है और दुःखात्मक भावों से हमारा मन हटता है अर्थात् कुछ भाव प्रवृत्तिमूलक होते हैं और कुछ निवृत्तिमूलक। प्रेम, हर्ष, हास, आश्चर्य आदि भाव सुखात्मक या प्रवृत्तिमूलक हैं और क्रोध, घृणा, भय, शोक आदि भाव दुःखात्मक या निवृत्तिमूलक। प्रत्यक्षानुभूति में इस प्रकार मन की दो स्थितियाँ देखी जाती हैं। कभी विषय में वह लगा रहता है और कभी विषय से वह हटना चाहता है। किंतु काव्य के पढ़ने या नाटक के देखने से सुखात्मक या दुःखात्मक किसी प्रकार के भाव की अनुभूति जब हृदय में होती है तब मन की केवल एक ही स्थिति होती है। वह इन दोनों प्रकार के भावों में रमता है। मन के

रमने के कारण यह अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा संस्कृत या परिष्कृत कही जा सकती है। मन के इसी रमण के कारण इस अनुभूति को 'रस' कहते हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि रस की अनुभूति पाठक या दर्शक को हुआ करती है। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा मूलतः कोई भिन्न प्रकार की अनुभूति है। वस्तुतः ये दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ मूल में एक ही हैं। प्रत्यक्षानुभूति में सुखात्मक या दुःखात्मक भावों के समय जो जो चेष्टाएँ या मुद्राएँ उत्पन्न हुआ करती हैं रसानुभूति के समय भी वे ही चेष्टाएँ या मुद्राएँ व्यक्त होती हैं। प्रेम, हर्ष आदि के समय जिस प्रकार प्रत्यक्षानुभूति में प्रफुल्लता, पुलक आदि चेष्टाएँ व्यक्त होती हैं उसी प्रकार रसानुभूति में भी। क्रोध में जिस प्रकार प्रत्यक्षानुभूति में आँखें लाल होती हैं, भौंहें चढ़ती हैं उसी प्रकार रसानुभूति में भी।

रससंबंधी मत

यद्यपि उपर्युक्त व्याख्या से यह बात निश्चित हो जाती है कि रस की स्थिति दर्शक या पाठक में ही हो सकती है तथापि प्राचीन समय में रस की प्रक्रिया पर विचार करते हुए कुछ आचार्यों ने अपने विभिन्न प्रकार के मत प्रदर्शित किए। इसका विवेचन करने के लिए दृश्यकाव्य या रूपक आधार बनाया गया। इसके अनुसार तीन प्रकार के व्यक्ति भावों का अनुभव करनेवाले दिखाई देते हैं। एक तो वे जिनका चरित्र नाटकों में वर्णित होता है अर्थात् जिनके क्रिया-कलापों का रंगशाला में अनुकरण किया जाता है। इन्हें 'अनुकार्य' कहते हैं। दूसरे वे जो इन अनुकार्यों की अवस्था का अनुकरण करते हैं। ये अभिनेता या नट कहलाते हैं। तीसरे वे जो नटों का अभिनय देखते हैं। ये दर्शक या सामाजिक कहलाते हैं। रस की स्थिति का विचार करते हुए कुछ लोगों ने उसे अनुकार्य में माना, कुछ ने अनुकार्य और अभिनेता दोनों में तथा कुछ लोगों ने केवल दर्शक में ही। इस भिन्नता के विचार से

चार प्रकार के सिद्धांत माने गए। इन्हें क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमिति-वाद, भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद के नाम से अभिहित करते हैं।

सबसे पहले भट्ट लोल्लट नामक आचार्य ने बतलाया कि रस की स्थिति अनुकार्य में ही होती है। अनुकार्यों के अनुरूप वेशविन्यास के द्वारा अभिनेता जब रंगमंच पर उनके कार्यों का अनुकरण करते हैं तो उन अभिनेताओं को ही दर्शक लोग अनुकार्य समझ लेते हैं और अनुकार्यों के भावों को अभिनेताओं में उत्पत्ति हो जाती है। इस विलक्षणता को देखकर दर्शक का हृदय भी चमत्कृत हो उठता है। उसके हृदय का केवल रंजन होता है, उसमें रस की स्थिति नहीं होती।

यह मत आगे चलकर लोगों को समीचीन नहीं प्रतीत हुआ और उन्होंने इसका विरोध किया। शंकुक नाम के आचार्य ने इस मत का खंडन किया और कहा कि भावों की उत्पत्ति विलक्षण बात है। अतः मानना चाहिए कि अभिनेताओं की वेश-भूषा से अनुकार्यों की अवस्था का अनुमान करके दर्शक आनंदित हुआ करते हैं। इस प्रकार के अनुमान से उनका चित्त विशेष चमत्कृत होता है, इसीलिए नाटकों के देखने में उनका मन लगता है। इसको समझाने के लिए उन्होंने 'चित्रतुरगन्याय' का सहारा लिया। जिस प्रकार चित्र में बने हुए घोड़े को देखकर लोग कहा करते हैं कि यह घोड़ा दौड़ रहा है, यद्यपि बेचारा चित्र का रेखा मात्र घोड़ा वस्तुतः दौड़ता हुआ नहीं होता, उसी प्रकार यद्यपि अभिनेता अनुकार्य नहीं होते तथापि उन्हें दर्शक अनुकार्य ही मान लेता है और इस स्वीकृति के साथ साथ अभिनेता में उनके भावों का भी अनुमान कर लेता है। अनुमान के सिद्धांत पर चलने के कारण इनका मत अनुमितिवाद कहलाता है।

यह मत भी आगे चलकर लोगों को ठीक नहीं प्रतीत हुआ और उन लोगों ने इसका विरोध किया। भट्टनायक नाम के आचाय ने इस मत का विरोध करते हुए बतलाया कि यदि पाठक केवल अनुकार्य के भावों का अभिनेता में अनुमान करके आनंदित होता है तो उसका

ऐसा आनंदित होना व्यर्थ प्रतीत होता है। क्योंकि अनुमान से केवल आश्चर्य ही हो सकता है। सामाजिकों में जो विभिन्न प्रकार के भावों के अनुरूप चेष्टाएँ दिखाई देती हैं वे न होतीं। इसलिए यह निश्चित है कि रस की स्थिति दर्शक में ही होती है। इसे समझाने के लिए उन्होंने दो प्रकार की शक्तियों की कल्पना की। उन्होंने माना कि काव्य में वर्णित विषयों में एक ऐसी शक्ति हो जाती है जिससे वे दूसरों के भोगने या ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं। इस शक्ति को उन्होंने 'भोजक वृत्ति' कहा। साथ ही यह भी बतलाया कि काव्य पढ़ते या नाटक देखते समय पाठक अथवा दर्शक के मन में ऐसी वृत्ति जगती है जो उसे काव्यार्थ के ग्रहण करने योग्य बना देती है। इसे उन्होंने 'भोग वृत्ति' नाम दिया। इसी स्थान पर यह प्रश्न भी उपस्थित हुआ कि काव्यों में ऐसे व्यक्तियों का वर्णन भी आया करता है जो दर्शकों के पूज्य होते हैं। काव्यों में इन पूज्यों के शृंगार का भी वर्णन होता है। यदि दर्शक इन पूज्य व्यक्तियों के शृंगार का ग्रहण शृंगाररूप में करता है तो उनके प्रति इसकी पूज्य बुद्धि नहीं रह सकती। इसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि भोजक वृत्ति द्वारा उन व्यक्तियों के विशेषत्व का आवरण हट जाता है। वे पूज्य देवी-देवता न रहकर साधारण व्यक्ति मात्र रह जाते हैं। ठीक इसी प्रकार काव्य पढ़नेवाला पाठक या दर्शक अपनी व्यक्तिगत विशेषता का त्याग करके केवल साधारण व्यक्ति रह जाता है। मनुष्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति में से तमोगुण और रजोगुण दब जाते हैं केवल सत्त्वगुण की ही प्रधानता रह जाती है। इस प्रकार अनुकार्य के और दर्शक के विशेषत्व से रहित होकर केवल 'साधारण' रह जाने से दोनों का 'साधारणीकरण' हो जाता है और दर्शक अनुकार्य के भावों का रसरूप में आनंद लेता है।

भट्टनायक ने काव्य की रस नामक प्रक्रिया का जिस रूप में ग्रहण किया उसी रूप में वस्तुतः वह अब भी मान्य समझी जाती है, किंतु उनका विरोध अभिनवगुप्तपादाचार्य ने केवल इसलिए किया कि उन्होंने दो प्रकार की नई वृत्तियाँ व्यर्थ मानी हैं। इन्होंने अपना अभिव्य-

क्तिवाद दिखलाते हुए यह बतलाया कि काव्य में अत्यंत प्राचीन काल से व्यंजना नाम की एक ऐसी वृत्ति मानी जाती है जिसकी सीमा का विस्तार स्वीकार करने से ही काम चल जाता है। अभिनवगुप्तपादाचार्य के अनुसार पाठक या दर्शक में विभिन्न प्रकार के भाव वासनारूप में पहले से ही स्थित होते हैँ। केवल काव्य उन वासनाओँ को उद्बुद्ध कर देता है अर्थात् ये वासनाएँ अव्यक्त रूप में बराबर स्थित रहती हैं, काव्य के प्रदर्शन से केवल उनकी अभिव्यक्ति हो जाती है। अभिव्यक्ति के विचार से ही उनका मत अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

ध्यान देने से अभिव्यक्तिवाद के इस सिद्धांत में भी थोड़ा सा परिष्कार अपेक्षित जान पड़ता है। काव्य में भाव वस्तुतः वर्ण्य विषय हुआ करते हैं। इन वर्ण्य विषयों को व्यंजना कहना बहुत दूर तक समीचीन नहीं जान पड़ता। यह तो ठीक है कि पाठक या दर्शक के हृदय में वासनारूप से रहनेवाले भाव काव्य के पठन या दर्शन से उद्बुद्ध होते हैं। पर प्रश्न यह है कि उसे केवल अर्थ की प्रतीति ही होती है या वह उसका 'भोग' करता है। अभिव्यक्ति के विचार से तो काव्यार्थ की प्रतीति ही हुई। इसी से वे इसे 'रसप्रतीति' कहते हैं। भट्टनायक इसे 'भोग' मानते हैं। वस्तुतः भाव का भोग ही होता है। मन 'रसदशा' में उन भावों का भोग ही करता है। काव्य में जिन भावों का वर्णन होता है वे वस्तुतः वर्ण्य ही होते हैं। व्यंजना वर्णन की प्रणाली मात्र है।

शास्त्रों में जहाँ रसों का विवेचन किया गया है वहाँ अनुकार्य में स्थित भावों और पाठकों के मन में उदित होनेवाले रसों की अलग-अलग स्थिति स्पष्ट शब्दों में नहीं कही गई है। अतः सामान्य पाठक को यह भ्रम हो सकता है कि आचार्यों ने अनुकार्यों में ही रस की स्थिति मानी है। किंतु बात ऐसी नहीं है। रस की प्रक्रिया समझाने के लिए यह अवश्य कह दिया जाता है कि अमुक प्रसंग में अमुक भाव रसरूप में दिखाई देता है। वहाँ उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि

पाठक को उस प्रसंग के पढ़ने से उसमें वर्णित भाव अमुक रस तक पहुँचानेवाला होगा।

रस के अवयव

रस के चार अवयव माने गए हैं—विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव और संचारीभाव। इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि काव्य में कुछ भाव आया करते हैं और उन भावों को व्यक्त करने की कुछ सामग्री होती है। इस प्रकार इन चारों अवयवों को दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं; एक भावपक्ष और दूसरा विभावपक्ष। जिन वस्तुओं या व्यक्तियों के प्रति भाव व्यक्त होते हैं उन्हें 'विभाव' कहते है और किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति किसी की जो मानसिक स्थिति होती है उसे 'भाव' कहते हैं। विभाव पक्ष के अंतर्गत उन व्यक्तियों या वस्तुओं का भी ग्रहण होता है जिनके प्रति किसी की कोई मानसिक स्थिति होती है और उन चेष्टाओं तथा परिस्थितियों का भी ग्रहण होता है जो उस मानसिक स्थिति को उद्दीप्त करने या व्यक्त करनेवाली होती हैं। इस प्रकार एक पक्ष वह दिखाई देता है जिसके प्रति कोई भाव होता है अर्थात् जिसके आधार पर कोई मानसिक स्थिति टिकती या जगती है। इन्हें 'आलंबन' कहते हैं। जहाँ यह मानसिक स्थिति दिखाई देती है उसे 'आश्रय' कहते हैं। इन दोनों पक्षों में कुछ ऐसी चेष्टाएँ और व्यापार भी होते हैं जो एक दूसरे के लिए सहायक प्रतीत होते हैं। आलंबन में जो चेष्टाएँ दिखाई देती हैं उन्हें 'उद्दीपन' कहते हैं और आश्रय में जो चेष्टाएँ दिखाई देती हैं उन्हें 'अनुभव' कहते हैं। उद्दीपन भी दो प्रकार के हुआ करते हैं। एक तो आलंबनगत चेष्टाएँ और दूसरे तदितर बाह्य परिस्थिति। ध्यान रखना चाहिए कि आलंबनगत चेष्टाएँ तो सभी रसों में हुआ करती हैं, पर बाह्य परिस्थितियों का उद्दीपन के रूप में शृंगार में ही विधान दिखाई देता है। अन्य रसों में भी ये परिस्थितियाँ थोड़ी बहुत लाई जा सकती हैं। पर काव्यों में इनका उल्लेख बहुत कम पाया जाता है।

अनुभाव भी मुख्यतः दो प्रकार के दिखाई देते हैं। एक तो आश्रय की चेष्टाओं के रूप में और दूसरे उक्तियों के रूप में। रसग्रंथों में अनुभाव के अधिक से अधिक चार भेद किए गए हैं—सात्त्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य। इनमें से सात्त्विक अनुभाव वे हैं जिन पर धारणकर्ता का कोई अधिकार नहीं होता। भावों के उदित होने से ये स्वतः उद्भूत हो जाते हैं। किंतु ये भी एक प्रकार की चेष्टाएँ ही हैं। कायिक अनुभाव वे ही हैं जिन्हें ऊपर चेष्टा नाम से अभिहित किया गया है। मानसिक अनुभाव प्रमोद आदि माने गए हैं। किंतु विचार करने पर ये भाव की ही कोटि में जाते हैं अतः इन्हें अनुभाव कहना समीचीन नहीं जान पड़ता। प्रमोदादि मनोवृत्तियाँ हैं। इसलिए ये शरीर की बाह्य चेष्टाओं से ही लक्षित होते हैं। अतः मानसिक अनुभाव मानने पर भी इनकी आंगिक चेष्टाएँ अस्वीकृत नहीं की जा सकतीं। इसलिए इन्हें भी कायिक चेष्टाओं के ही अंतर्भूत समझना चाहिए। आहार्य का अर्थ है किसी भाव की प्रेरणा से विशेष प्रकार का वेशविन्यास करना। इसकी अधिकतर आवश्यकता नाटकों ही में पड़ती है। किंतु श्रव्यकाव्यों में भी वेशविन्यास दिखाई देता है। विचार करने पर यह भी कायिक चेष्टा के अंतर्गत ही जान पड़ता है। भाव-प्रेरित उक्तियाँ भी कायिक चेष्टाएँ ही हैं, किंतु काव्य में उनके विधान की दृष्टि से उन्हें अलग रखना आवश्यक प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि भाव की प्रेरणा से शरीर में जो चेष्टाएँ व्यक्त होती हैं वे परिमित होती हैं। किंतु भाव की प्रेरणा से निकलनेवाली उक्तियाँ अपरिमित हो सकती हैं, इसीलिए किसी कवि की भावव्यंजना-संबंधी शक्ति का अनुमान करने के लिए भाव-प्रेरित चेष्टाओं के अतिरिक्त उक्तियों का विचार करना आवश्यक हुआ करता है। किसी भाव के अनुकूल अधिकाधिक उक्तियों का विधान करने में जो कवि विशेष समर्थ दिखाई दे उसकी भाव-व्यंजना की शक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। सूरदासजी की रचनाओं में उक्तियों का अत्यधिक और विधान दिखाई देता है। सच पूछिए तो उनकी रचना के

होने का प्रधान कारण यही है। ऊपर जो विवेचन हुआ है सुभीते के लिए उसका वृत्त भी नीचे दिया जाता है—

भाव
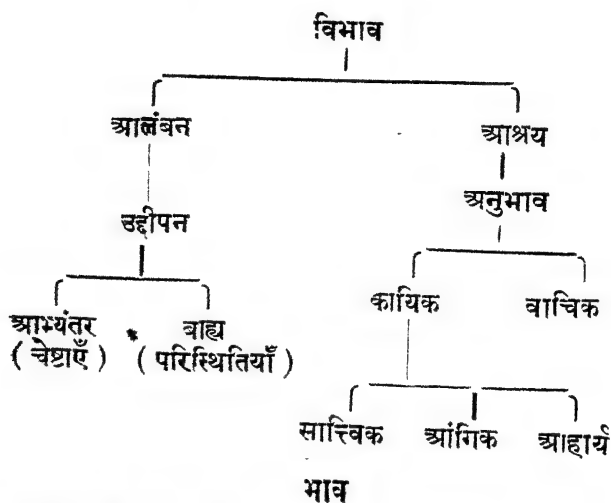
विभाव के अनतर अब भाव-पक्ष पर आइए। भाव दो प्रकार के होते हैं; स्थायी और अस्थायी। स्थायी भाव उस भाव को कहते हैं जो विरोधी और अविरोधी दोनों प्रकार की स्थितियों में निरंतर बना रहता है। किंतु अस्थायी भाव वे हैं जो निरंतर बने नहीं रहते, प्रत्युत समय समय पर जिनका उदय हुआ करता है और जो क्षणिक होते हैं। यदि ये किसी स्थायी भाव के साथ दिखाई पड़ते हैं तो उसके सहायक हो जाते हैं; और यदि स्वतंत्र रूप में भी आते हैं तो थोड़े ही समय के बाद मन से हट जाते हैं। इतना होते हुए भी इन दोनों भावों का अंतर स्पष्ट करने के लिए सरलता के विचार से यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि स्थायी भाव उन्हीं भावों को कहते हैं जो रसावस्था तक पहुँचते हैं अर्थात् जिन भावों का 'भावन' हुआ करता है। तात्पर्य यह कि काव्यगत पात्रों के जिन भावों को काव्य के दर्शक या पाठक ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेते हैं वे ही

भाव' कहलाते हैं। जो भाव ज्यों के त्यों गृहीत नहीं होते वे 'संचारी भाव' कहलाते हैं।

स्थायी भाव सदा स्थायी भाव ही होकर काव्य में नहीं आता। कभी कभी दूसरे स्थायी भावों का सहायक अर्थात् संचारी भाव बनकर भी आया करता है। ठीक इसी प्रकार जो 'संचारी भाव' कहलाते हैं वे सदा स्थायी भावों के सहायक होकर ही नहीं आया करते; स्वतंत्र रूप से भी उनकी अभिव्यक्ति होती है। किंतु वैसी स्थिति में वे संचारी भाव नहीं कहे जा सकते। स्वच्छंद रूप से आनेवाले ऐसे संचारी भावों को 'अंजित संचारी' या केवल 'भाव' कहते हैं। संचारियों के संबंध में दो बातें और हैं। ये स्थायी भावों की तरह परिमित नहीं होते। ये बहुत से हो सकते हैं, किंतु काव्य में शास्त्रचर्चा की सुविधा के लिए प्रमुख ३३ ही संचारी कहे गए हैं। ३३ की संख्या निश्चित हो जाने से कभी कभी लोगों को भ्रम भी हो जाया करता है। जैसे, हिंदी में कुछ लोगों को यह भ्रम हुआ कि कवि 'देव' ने 'भावविलास' में 'छल' नामक चौंतीसवाँ संचारी लिखकर रस के क्षेत्र में बहुत बड़ा अन्वेषण किया। पर बात ऐसी नहीं है। छल ही क्या दया, दाक्षिण्य, उदासी-नता आदि न जाने कितने भाव हैं जिनकी गणना ३३ संचारियों में नहीं है पर उनका विधान समर्थ कवियों की रचनाओं में देखा जाता है। दूसरे देव ने 'छल' भी स्वतः अपनी कल्पना से नहीं प्राप्त किया। भानुभट्ट की 'रसतरंगिणी' में छल के साथ ही साथ और भी कई संचारियों का उल्लेख और ३३ संचारियों में गिनाए हुए भावों में उनका अंतर्भाव किया गया है। 'छल' को उन्होंने 'अवहित्था' में अंतर्भूत किया है।

गिनाए हुए ३३ संचारियों के संबंध में दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वे सब के सब मनोविकार नहीं हैं। उनमें कुछ तो बुद्धि की वृत्तियाँ हैं और कुछ शरीर के धर्म। मरण, आलस्य, निद्रा, अप-स्मार, व्याधि आदि शरीर के धर्म हैं। मति, वितर्क आदि बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ता है कि 'संचारी' शब्द

से शास्त्रकारों का तात्पर्य स्थायी भाव में सहायक होनेवाली वृत्तियों या स्थितियों से है। ये वृत्तियाँ चाहे हृदय की हों चाहे बुद्धि की अथवा ये स्थितियाँ चाहे मन की हों चाहे शरीर की। अतः निश्चित है कि सब संचारियों को भाव कहना उपलक्षण मात्र है।

स्थायी भाव और संचारी भाव दोनों में दो प्रकार की वृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। कुछ सुखात्मक होती है और कुछ दुःखात्मक। स्थायी भावों में रति, हास, विस्मय तथा उत्साह सुखात्मक मनोवृत्तियाँ हैं और क्रोध, घृणा, भय तथा शोक दुःखात्मक मनोवृत्तियाँ। शम या निर्वेद को उदासीन या सुखदुःख-रहित मनोवृत्ति कहें तो कह सकते हैं। संचारी भावों में भी ग्लानि, शंका, श्रम, आलस्य, विषाद आदि दुःखात्मक हैं और हर्ष, चपलता आदि सुखात्मक। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के अनुसार भाव-पक्ष का वृत्त यों होगा
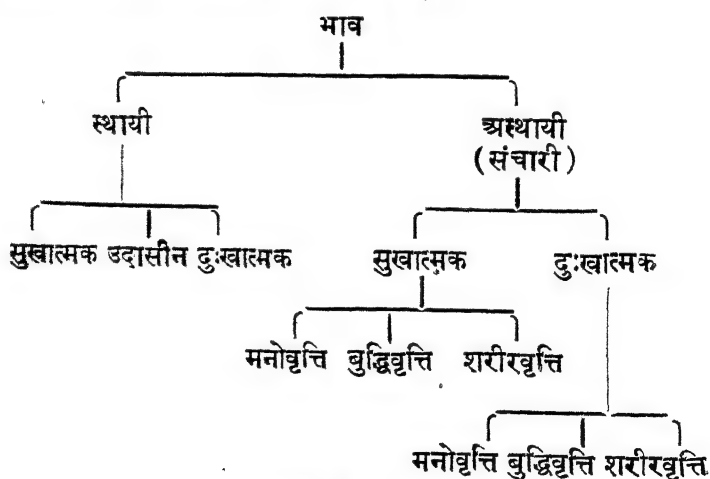
रसों के भेद

स्थायी भाव नाटकों में आठ ही माने गए हैं ; रति, हास, विस्मय, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, भय और शोक। किंतु श्रव्यकाव्य में निर्वेद भी स्थायी भाव माना गया है। इन स्थायी भावों के परिपाक से क्रमशः

श्रृंगार, हास्य, अद्भुत, वीर, रौद्र, बीभत्स, भयानक, करुण और शांत रस होते हैँ। रसोँ के संबंध मैँ ध्यान देने की बात यह है कि जिन स्थायी भावोँ से भावन व्यापार विस्तृत सीमा मैँ होता है वे ही रसरूप मैँ माने गए हैँ। नव ही रस मानने का कारण यही है। आगे चलकर वात्सल्य के परिपाक से 'वत्सल' नाम का रस भी माना गया। भक्ति का भी रसावस्था तक पहुँचना माना जाने लगा। भारतेंदु बाबू ने १३ रस माने हैँ। उपर्युक्त ११ रसोँ के अतिरिक्त उन्होँने आनंद और सख्य दो रस और माने। कोई भाव रसदशा को प्राप्त हो सकता है या नहीँ इसकी सच्ची कसौटी अभिनय है। अभिनय होने से इस बात का पता चल जाता है कि कोई भाव दर्शकोँ मैँ तादात्म्य की अवस्था ला सकता है या नहीँ। मम्मटाचार्य ने देव, गुरु, पुत्र, मित्र आदि के प्रति होनेवाली रति (प्रेम) को केवल भावदशा तक ही माना है। इनमैँ से देवविषयक रति और गुरुविषयक रति मैँ कोई विशेष अंतर नहीँ है। पुत्रविषयक रति (वात्सल्य) रसावस्था तक आगे चलकर मान ही ली गई। मित्र-विषयक रति की व्यंजना काव्योँ मैँ विशेष रूप से कही हुई ही नहीँ. 'सुदामाचरित' लेकर लिखे गए कुछ खंडकाव्योँ मैँ दिखाई भी देती है। उनमैँ यद्यपि कृष्ण और सुदामा की मैत्री का कहीँ-कहीँ अच्छा वर्णन भी मिलता है, जैसे नरोत्तमदास के 'सुदामाचरित' मैँ, तथापि रसरूप मैँ उसकी अनुभूति परिमित क्षेत्र मैँ ही दिखाई देती है।

भेद की रुचि रखनेवाले कुछ लोग नए नए रसोँ की भी उद्भावना करते हैँ। 'रसतरंगिणी' मैँ 'माया रस' माना गया है। यह माया रस शांत रस के विपर्यय मैँ रखा गया है। जिस प्रकार संसार से वैराग्य उत्पन्न होने का परिपाक शांत है उसी प्रकार संसार के कार्योँ मैँ विशेष रूप से व्यस्त होने का परिपाक माया रस है।* आज दिन नाना प्रकार

---

* चित्तवृत्तिर्द्वेधा प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति। एकत्र रसोत्पत्तिरपरत्र नेति वक्तुमशक्यत्वात्।

—रसतरंगिणी।

के आंदोलनों और समाज-सेवा या राष्ट्र-सेवा में विशेष रूप से तत्पर रहनेवाले व्यक्तियों में माया का ही प्राधान्य समझिए। पर ध्यान देने से यह कोई स्वतंत्र रस नहीं दिखाई देता। लोक में विशेष रूप से व्यस्त होने के कारण और भी कितने ही भावों को अभिव्यक्त होने का अवसर बीच बीच में मिला करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह कई रसों का एक विचित्र संमिश्रण है।[1] लोकगत शील है।

'रसतरंगिणी' में रस के दो भेद लौकिक और अलौकिक भी माने गए हैं। लौकिक रस इंद्रियसंनिकर्ष से छः प्रकार का कहा गया है और अलौकिक तीन प्रकार का—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायक।[2] देव कवि के 'भावविलास' में ये भेद 'रसतरंगिणी' से ही उठाकर रखे गए हैं।

रसराज

किसी रस की श्रेष्ठता उसकी विस्तार-सीमा से ही आँकी जा सकती है। रति को लेकर जो रस उत्पन्न होता है उसकी विस्तार-सीमा सबसे बड़ी दिखलाई देती है। उसके दो पक्ष हो जाते हैं; संयोग और वियोग। यही कारण है कि अधिक से अधिक क्या समस्त संचारी भावों का समावेश शृंगार रस में हो जाया करता है। आलस्य, उग्रता, घृणा आदि संयोग-शृंगार में नहीं आते[3] किंतु वियोग में ये भी गृहीत हो जाते हैं। नौ रसों में से अन्य किसी भी रस के दो पक्ष नहीं हैं। यही कारण है कि सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार की

---

१ रतिहासशोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मयास्तत्रोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च ते व्यभिचारिभावा इति।—वही।

२ रसो द्विविधो लौकिकोऽलौकिकश्चेति। लौकिकसंनिकर्षजन्मा लौकिकोऽलौकिकसंनिकर्षजन्मा त्वलौकिकः। लौकिकः संनिकर्षः षोढा विषयगतः। अलौकिकः संनिकर्षो ज्ञानम्। अलौकिको रसस्त्रिधा। स्वाप्निको मानोरथिक औपनायकश्चेति। औपनायकश्च काव्यपदपदार्थचमत्कारे।

३ आलस्यौग्र्यजुगुप्साः संयोगे वर्ज्याः।

स्थितियों, वृत्तियों, आदि का समावेश उनमें असंभव है। दूसरी बात यह है कि शृंगार द्वारा साधारणीकरण अन्य रसों की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्र में दिखाई देता है। अन्य रसों की अनुभूति में असमर्थ दिखाई देनेवाले व्यक्तियों में भी थोड़ी ही सही शृंगार की अनुभूति होती अवश्य है। अतः इस दृष्टि से भी शृंगार का ग्राहक-क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में भी जिस भाव का प्राधान्य दिखाई देता है वह रति (प्रेम) ही है। हास, घृणा ऐसे भाव अन्यत्र दिखाई नहीं देते। भय, शोक आदि जो भाव दिखाई भी देते हैं वे गौण रूप में ही। इसलिए शृंगार का रसराजत्व ही साहित्य के क्षेत्र में अंगीकृत है।

कुछ लोगों ने विलक्षणता-प्रदर्शन की दृष्टि से अन्य रसों को भी 'रसराज' कहने का प्रयत्न किया है; किंतु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं दिखाई देता। जैसे, कविराज विश्वनाथ के प्रपितामह श्रीनारायण ने अद्भुत रस को सर्वप्रधान रस माना था। उनका कहना था कि प्रत्येक रस में विस्मय का अंश कुछ न कुछ अवश्य रहता है, इसलिए सब रसों में संनिविष्ट होने के कारण मूल अथवा प्रधान रस अद्भुत ही है।[1] किंतु यह मत शास्त्रों में इसलिए मान्य नहीं समझा गया कि विस्मय की भावना का संबंध किसी वस्तु की विलक्षणता से हुआ करता है। सभी रसों में आलंबनगत वैलक्षण्य नहीं दिखाई देता। दूसरी बात यह है कि आश्चर्य केवल सुखात्मक भाव है इसलिए उसे दुःखात्मक भाव का मूल कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

ऐसी ही बात करुण रस के संबंध में भी कही जा सकती है। करुण रस की प्रधानता या मूलता भवभूति ने अपने 'उत्तररामचरित' में स्वीकृत की है;[2] किंतु ध्यान देने से लक्षित हो जाता है कि करुण रस

१ रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

२ एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्
आवर्त्तबुद्बुद्तरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम्।

का आधार शोक दुःखात्मक अनुभूति मात्र है। उसमें सुखात्मक पक्ष नहीं दिखाई देता। इसलिए उसे सर्वमूल मानना ठीक नहीं। दार्शनिक लोग संसार का मूल कारण दुःख मानते हैं।[1] इसीलिए भवभूति ने करुण रस को मूल रूप में मानकर अन्य भावों को विकार मात्र कहा है। उनका तात्पर्य यह है कि प्रकृत रूप में दुःख अर्थात् करुण रस की सत्ता दिखाई देती है। वही दुःख अपने विकृत अर्थात् परिष्कृत अथवा संस्कृत रूपमें अन्य रसों या भावों का रूप धारण कर लेता है। किंतु यह बात उचित नहीं मानी जा सकती। जब शोक के मूल में सुखात्मक स्थिति नहीं है तो उससे सुख का उदय होना नहीं कहा जा सकता। जहाँ पर जिसका सद्भाव नहीं वहाँ पर उसका सद्भाव हो ही नहीं सकता, अभाव ही रहेगा और जिसका सद्भाव है उसका अभाव होना भी दुरूह है।[2] इसके संबंध में यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि शृंगार रस के अनंतर जिस रस का विशेष प्रभाव समाज पर अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र में लक्षित होता है वह करुण रस ही है। इसका कारण यही है कि जीवन की संकुलता के कारण दुःख की अनुभूति के अवसर विशेष आया करते हैं। इसलिए उसकी अनुभूति करने में जनलोक विशेष हार्दिकता का परिचय देता है।

जिस प्रकार अद्भुत या करुण की प्रधानता लक्षित कराई गई है उसी पद्धति से यदि कोई चाहे तो वीर रस की भी प्रधानता दर्शाई जा सकती है। प्रत्येक रस की अनुभूति में उत्साह का कुछ न कुछ अंश अवश्य दिखाई देता है।[3] पर किसी भाव का वेग ही उत्साह नहीं है। वेग और उत्साह में अंतर है। उत्साह केवल सुखात्मक

---

१ दुःखत्रयोभिघातात् जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ—सांख्यकारिका।

२ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

३ स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति हासः शृंगारे रतिः शान्तकरुणहास्येषु भयशोकौ करुणशृंगारयोः क्रोधो वीरे जुगुप्सा भयानके उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु —रसतरंगिणी।

अनुभूति है; किंतु वेग सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों स्थितियों में देखा जाता है। अतः जो लोग किसी साहसपूर्ण कार्य के कारण किसी को साहसी या उत्साही मान लिया करते हैं और उन्हें वीर उद्घोषित कर दिया करते हैं वे भ्रम में हैं। आनंदात्मक अनुभूति होने के कारण विषाद-मय स्थिति का साहस वीरत्व के नाम से अभिहित नहीं हो सकता। अतएव जो लोग विरहिणी गोपिकाओं को दुःख सहने के साहस या उत्साह के कारण वीर माने बैठे हैं उनकी दृष्टि निश्चय ही अशास्त्रीय है। जिस पद्धति पर यह रसराजता सिद्ध की जाती है उसकी विलक्षणता का थोड़ा सा आभास केशवदासजी ने भी दिया है।[1] शृंगार की रसराजता सिद्ध करने के लिए उन्होंने अन्य रसों को उसके अंतर्भूत दिखाया है। इस प्रकार अंगांगी भाव से रसों की स्थिति दिखलाकर किसी भी रस को कोई भी रसराज सिद्ध कर सकता है। क्योंकि जिस प्रकार शृंगार के अंग अन्य रस प्रदर्शित किए गए हैं उसी प्रकार अन्य किसी भी रस के अंग शेष रस दिखाए जा सकते हैं।

आलंबन

रस-प्रक्रिया में मुख्य होता है आलंबन। आलंबन के औचित्य और अनौचित्य के अनुसार सहृदयों को रस-चर्वणा तद्रूप या विरूप होती है। इसीलिए जहाँ आलंबन ठीक नहीं हुआ करता वहाँ रस का आभास मात्र होता है। जैसे, क्रोध उसके प्रति व्यक्त किया जाता है जिसके द्वारा अपना कोई अपराध हुआ हो। पर यदि कोई अपने पूज्य के प्रति क्रोध करता हुआ दिखाया जायगा तो आलंबन अनुपयुक्त होने के कारण पूज्य के प्रति व्यक्त होनेवाला क्रोध रस-चर्वणा न करा सकेगा। वहाँ रस का आभास मात्र दिखाई देगा। प्रश्न होता है कि काव्यों में जितने पात्रों द्वारा विभिन्न प्रकार के भावों की व्यंजना की जाती है क्या उन पात्रों में से यदि दो पात्रों द्वारा एक ही भाव की व्यंजना कराई जाय तो किसी दशा में कुछ अंतर भी पड़ सकता है?

---

१ देखिए 'रसिकप्रिया'।

रामायण में राम भी रावण पर क्रोध करते हैं और रावण भी राम पर। क्या दोनों स्थितियों में पाठक या दर्शक को एक ही प्रकार की रसानुभूति होगी? ध्यान देने से पता चलता है कि इन स्थितियों में पात्रों द्वारा जो व्यंजनाएँ कराई जाती हैं उनमें पात्र के प्रति रहनेवाली पाठक या दर्शक की भावना भी साधक या बाधक हो जाया करती है। राम के प्रति पाठक में श्रद्धा होती है और रावण के प्रति अश्रद्धा। इसलिए राम द्वारा जो क्रोध व्यक्त होता है पाठक का मन, अनुकूल होने के कारण, उसमें विशेष तन्मय होता है। ठीक इसके विपरीत रावण के प्रति रहनेवाली अश्रद्धा उसके द्वारा की जानेवाली क्रोध की व्यंजना में बाधा उपस्थित करती है। इसलिए वहाँ रसदशा न होकर भावदशा ही रहती है।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि क्या रस के चारों अवयवों का विधान होने से ही रस की पूर्ण निष्पत्ति होती है अथवा उनके न्यून रहने पर भी। चारों अवयवों के सम्यक् विधान से रस की जैसी निष्पत्ति हो सकती है वैसी उनके न्यून होने से नहीं। किंतु इसके साथ यह भी निश्चित है कि न्यून अवयवों का आक्षेप कर लिया जाता है। ध्यान देने की बात यही है कि विभाव पक्ष का कोई न कोई अंश बिना हुए रसनिष्पत्ति नहीं हो सकती। किंतु विभाव का यदि कोई भी अंश काव्य में उपस्थित रहेगा तो अन्य न्यूनताओं के झटिति आक्षेप से रसनिष्पत्ति अवश्य हो जायगी। उदाहरण के लिए शृंगार रस को लीजिए—रति के आलंबन नायक अथवा नायिका के एक एक अंग तक का वर्णन रसात्मक हुआ करता है। काव्य में नखशिख का वर्णन रसात्मक दिखाई देता है। आलंबन के अंग ही नहीं केवल उद्दीपन अथवा उसके भी एक अंग का ही वर्णन रसात्मक होता है; जैसे, षट्ऋतु-वर्णन। इससे यह लक्षित हो जाता है कि काव्य में आते ही भाव अथवा अनुभूतियाँ पाठक को रसरूप में ही प्राप्त होती हैं। काव्य की प्रक्रिया ऐसी विलक्षण है कि उसमें आते ही वर्ण्य विषय रसप्रतीति अवश्य कराते हैं। यह दूसरी बात है कि वह रसप्रतीति विभिन्न प्रकार की हो।

पूर्ण रस भी रसात्मक होता है और रसाभास भी। इसी प्रकार भावोदय, भावशांति, भावशबलता आदि सबकी प्रतीति रसरूप ही होती है।

कुछ रस तो ऐसे हैं जिनमें यदि चारों अवयव व्यक्त हों तो जिस कोटि के रस का अनुभव होगा वैसा अवयवों की कमी से न होगा। किंतु कुछ रस ऐसे भी हैं जिनमें पूर्ण अवयवों के रहने से जिस कोटि की रसनिष्पत्ति होती है उसी कोटि की अवयवों की कमी रहने पर भी दिखाई देती है। हास्य, बीभत्स, अद्भुत ऐसे ही रस हैं जिनमें केवल आलंबन-पक्ष ही प्रधान दिखाई देता है। इन रसों के आलंबन का केवल वर्णन कर देने से ही उस कोटि का रस व्यक्त होता है जिस कोटि का अवयवों की उपस्थिति में हो सकता है। हास्य में यह आवश्यक नहीं है कि जिस वस्तु के प्रति हास-भाव हो उस वस्तु के वर्णन के अतिरिक्त आश्रय-पक्ष और उसकी चेष्टाओं का भी वर्णन वैसे ही विस्तार के साथ किया जाय। बिना आक्षेप किए ही आलंबन के वर्णन से ही पूर्ण रस की प्रतीति हो जाती है। यही बात बीभत्स और अद्भुत में भी दिखाई देती है। इससे स्पष्ट हुआ कि आलंबन ही रस में सबसे आवश्यक हुआ करता है।

इसी प्रसंग में इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि आलंबन का निरूपण परिस्थितियों के साथ होना चाहिए या उनसे मुक्त। परिस्थितियों के बीच में आलंबन का जो चित्र अंकित किया जाता है वह पूर्ण हुआ करता है और पाठक या दर्शक ऐसे ही आलंबन से तादात्म्य का अनुभव कर सकने में समर्थ हो सकता है। परिस्थिति आलंबन की वह पीठिका है जिससे वह ठीक-ठीक पहचाना जाता है। मृग का एक चित्र बिना किसी भूमिका के अंकित किया जाय और दूसरा किसी वनस्थली की भूमिका पर तो दूसरा चित्र विशेष आकर्षक और रमणीय होगा। क्योंकि परिस्थितियों ने उसका ठीक ठीक अभिज्ञान करा दिया। परिस्थितियों के इस वैशिष्ट्य का यद्यपि रस के सभी आलंबनों में महत्त्व है तथापि शास्त्रों में शृंगार रस अथवा प्रेम के आलंबनों में इसका विशेष रूप से महत्त्व माना गया है।

ये परिस्थितियाँ दो प्रकार की दिखाई देती हैं—एक प्राकृतिक, दूसरी कृत्रिम। अन्य रसों में अधिकतर कृत्रिम परिस्थितियों का ही योग दिखाई देता है। किंतु शृंगार रस में प्रकृति भी योगदान देती है। इन्हीं का उल्लेख उद्दीपन के प्रसंग में किया गया है। चाँदनी रात, रमणीय वनस्थली, झरने आदि का जो महत्त्व प्रेम के प्रसंग में दिखाई देता है वह अन्य भावों के प्रसंग में नहीं। यह शृंगार की विशालता का ही परिचायक है। प्रेमभाव में मग्न व्यक्ति प्रिय के संसर्ग से उसके शरीर पर और उसके चारों ओर फैली हुई परिस्थिति से भी प्रेम करने लगता है। प्रिय के अन्वेषण में तत्पर प्रेमी वृक्ष, लता आदि से प्रिय का पता पूछता चलता है और जिन वृक्ष, लताओं आदि के संबंध में उसे निश्चय हो जाता है कि प्रिय ने इनका स्पर्श किया होगा, इनके पास बैठा होगा, इनसे फूल-पत्ते तोड़े होंगे उन्हें वह प्रेमपूर्वक भेंटने लगता है।[1] है किसी अन्य भाव में ऐसी विशालता? क्या भयभीत व्यक्ति वृक्ष और लताओं से अपने भयदायक का पता पूछकर उससे बचने का प्रयत्न करता हुआ कहीं देखा गया है अथवा कोई क्रोधी अपने अपराधी का मार्ग वृक्ष गुल्मादि से पूछता हुआ सुना गया है?

ध्यान देने से पता चलता है कि इस विश्वचक्र में जितने जड़, चेतन गोचर पदार्थ हैं वे सभी आलंबन के रूप में गृहीत हो सकते हैं। रंध्र-जाल से छनकर आनेवाली सूर्यरश्मि में दृष्टि आनेवाले अणु-परमाणुओं से लेकर गगनचुंबी हिमालय तक और 'कीरी' से लेकर 'कुंजर' तक भावों के आलंबन हो सकते हैं। आधुनिक काव्य-क्षेत्र में इन गोचर पदार्थों के अतिरिक्त अगोचर सत्ता को भी भावों का आलंबन मानकर कवि लोग चल रहे हैं। किंतु ज्ञान के क्षेत्र में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से जिस प्रकार ज्ञान का अन्वेषक अगोचर के प्रति केवल जिज्ञासा व्यक्त करता है उसी प्रकार भाव के क्षेत्र में भी अगोचर के प्रति जिज्ञासा ही उचित

१ राम-बासथल-बिटप बिलोके।
उर-अनुराग रहत नहिं रोके॥

अतीत होती है। जिज्ञासा बुद्धिवृत्ति है इसलिए अगोचर केवल बुद्धिगम्य ही माना जाना चाहिए। उसे भावगम्य तो गोचर रूप में ही मान सकते हैं।

आलंबन के संबंध में जिन लोगों ने उच्च और नीच का प्रश्न खड़ा किया है उन्हों ने काव्य अथवा भाव को केवल बड़े लोगों के संकेत पर नाचनेवाला समझ रखा है। काव्य में साधारण और असाधारण की बात नहीं उठती। देश, काल और स्थिति के अनुकूल क्या साधारण और क्या असाधारण दोनों ही भाव के आलंबन हो सकते हैं। मानव-समाज के अतिरिक्त शेष सृष्टि में साधारण और असाधारण का भेद प्राचीन सहृदय कवि नहीं किया करते थे। किंतु संप्रति मानव-समाज के भीतर भी इस प्रकार का भेद आधुनिक समीक्षक और कवि अग्राह्य समझने लग गए हैं। इसका कारण इस युग में उठनेवाले विदेशी समाजवादी आंदोलन हैं। इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि किसी वाद के चक्कर में डालकर काव्य को भी राजनीतिक दाँव-पेंच का साधन बना लेना ठीक नहीं। हृद्गत प्रेरणा से उठनेवाली 'वसुधैव-कुटुंबकम्' की भावना ही काव्य के क्षेत्र में प्राकृतिक जान पड़ती है।

जिस प्रकार प्रकृति के नाना रूप आलंबन के रूप में आ सकते हैं उसी प्रकार भाव के आश्रय अनेक नहीं हो सकते। जड़ों की बात ही क्या चेतन मात्र भी आश्रय नहीं हो सकते। पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि भावों के आश्रय के रूप में उस प्रकार नहीं दिखाई देते जिस प्रकार इस सार्वभौम आलंबन के लिए होना चाहिए। आहार, निद्रा, भय आदि की कुछ वृत्तियाँ ही उनमें पाई जाती हैं। भाव का अपरिमित रूप में ग्रहण उनमें कहाँ? बचा मानव। यही भावों के आश्रय के रूप में दिखाई देता है। काव्य का अनुशीलन करनेवालों में सभी मनुष्य भावों के ग्रहण में समर्थ नहीं हो सकते। इसीलिए शास्त्रकार 'सहृदय' व्यक्ति को ही काव्यमर्मज्ञ मानते हैं। साहित्यज्ञों ने वैदिक, मीमांसक, नैयायिक आदि को सहृदयों के वर्ग से छाँटकर अलग कर दिया है। कोरे वैयाकरण भी इसी श्रेणी में रखे गए हैं। इस संबंध में थोड़ा

विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। काव्य की प्रक्रिया किस प्रकार भावों का उद्रेक करती है इसपर विचार करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि काव्य में व्यंजित भावों का ग्रहण चाहे स्थूल रूप में सभी प्रकार के व्यक्ति कर लें पर उसके तात्त्विक रहस्य को समझने के लिए विशेष प्रकार की क्षमता अपेक्षित होती है। काव्य का कोई अंश जिस समय कोई अपढ़ व्यक्ति पढ़ता या सुनता है उस समय उसके हृदय में जिस प्रकार का आनंद होता है ठीक उसी प्रकार का आनंद किसी सुपठित व्यक्ति को उस अंश के पढ़ने से नहीं हुआ करता। सुपठित व्यक्ति को विशेष आनंद प्राप्त होता है। इसलिए यह निश्चित है कि काव्य की ग्राहिका शक्ति के लिए कुछ विशेष प्रकार की योग्यता भी अपेक्षित होती है। इस योग्यता में ज्यों ज्यों कमी होती जायगी त्यों त्यों काव्य-प्रक्रिया अपना समुचित प्रभाव दिखाने में असमर्थ होगी। योग्यता के तारतम्य से ही काव्यानुभूतिजन्य आनंद का तारतम्य भी दिखाई देगा। काव्याभ्यासियों ने वैदिकों, मीमांसकों आदि को जो [illegible] की कोटि से पृथक् कर दिया उसका हेतु यही है। उनमें काव्यार्थों के ग्रहण की पर्याप्त क्षमता नहीं होती।

उद्दीपन

उद्दीपन पर कुछ विचार पहले किया जा चुका है। यह बतलाया जा चुका है कि सामान्य रूप में आलंबन की चेष्टाएँ उद्दीपन हुआ करती हैं। बाह्य स्थितियों पर विचार करते हुए यह भी कहा जा चुका है कि शृंगार में ही बाह्य स्थितियाँ अथवा प्राकृतिक दृश्य उद्दीपन का काम करते हैं। आलंबन की कुछ चेष्टाएँ शृंगार में अलंकार कहलाती हैं। इन्हें हिंदीवाले 'हाव' कहते हैं। शास्त्रकारों के मत से ये अलंकार अधिकतर स्त्रियों में ही रमणीय दिखाई पड़ने के कारण उन्हीं की चेष्टाओं के रूप में काव्य में वर्णित होते हैं;[1] यद्यपि इनमें से कुछ नायक

---

१ सर्वेऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुष्णन्ति।—साहित्यदर्पण।

में भी हो सकते हैं।[1] संभोग की अल्प इच्छा के कारण भ्रू, नेत्र आदि में जो विकार उत्पन्न होते हैं उन्हें 'हाव' कहते हैं। इन हावों को अनुभाव के अंतर्गत माना गया है। पर अनुभाव के अंतर्गत केवल वे ही चेष्टाएँ आ सकती हैं जो हृद्गत भाव का पता देती हों। अलंकारों के भीतर जिन चेष्टाओं का वर्णन होता है वे केवल शोभाधायक होती हैं। इसलिए इन्हें उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण करना ठीक होगा। यदि हृद्गत भाव को व्यक्त करती हुई ये चेष्टाएँ दिखाई जायँगी तो इन्हें 'अनुभाव' भी कह सकते हैं[2]। ये चेष्टाएँ कई प्रकार की मानी जाती हैं। अंगज, अयत्नज और कृतिसाध्य नाम के इनके तीन भेद हैं। भाव, हाव और हेला अंगज चेष्टाएँ मानी जाती हैं। निर्विकार चित्त में सबसे पहले जो विकार होता है उसका नाम 'भाव' है[3]। जब यही भाव मनोविकार को अल्प रूप में प्रकट करने लगता है तो उसे 'हाव' कहते हैं[4]। जैसे किसी के यौवन का आगमन देखकर लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि 'आजकल उनकी कुछ और ही बात है'। जब स्फुट रूप में मनोविकार व्यक्त होता है तो उसे 'हेला' कहते हैं[5]। एक से दूसरा क्रमशः उत्पन्न भी होता है[6]। अयत्नज चेष्टाएँ वे हैं जो कृति द्वारा साध्य नहीं होतीं। इसका तात्पर्य यह है कि वे स्वभावगत होती हैं। उनके नाम

---

१ स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि।—वही।

२ कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावत्वं विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्वम्।
—रसतरंगिणी।

३ निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया।—साहित्यदर्पण।

४ भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते।—वही।

५ हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात्स एव तु।—वही।

६ भावो हावश्च हेला च परस्परसमुत्थिताः।
सत्त्वभेदा भवन्त्येते शरीरप्रकृतिस्थिताः॥
देहात्मकं भवेत् सत्त्वं सत्त्वात् भावः समुत्थितः।
भावात् समुत्थितो हावो हावाद्धेला समुत्थिता॥—नाट्यशास्त्र।

हैं—शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य। कृति-साध्य चेष्टाएँ १८ हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इन्हीं में से आरंभ की ११ चेष्टाएँ हिंदी में हाव कही जाती हैं। यह परंपरा भानुभट्ट की रसतरंगिणी से चल पड़ी है। वहाँ केवल अलंकारों के रूप में इन्हीं का उल्लेख है। इसका कारण यह है कि नायक और नायिका दोनों में ये स्वभावज चेष्टाएँ विशेष रूप से व्यक्त होती है।[1]

रसों के नाम

रस-लक्षण के प्रसंग में कहा जा चुका है कि स्थायी भाव ही पाठक के हृदय में रसरूप में परिणत हो जाया करता है। यह भी बतलाया गया है कि पात्र और पाठक का तादात्म्य होने के कारण प्रत्यक्षानुभूति या भावानुभूति और रसानुभूति में कोई विशेष अंतर नहीं हुआ करता। भावानुभूति ही परिष्कृत रूप में रसानुभूति हो जाती है। इसे परिष्कृत इसलिए कहना पड़ता है कि यह सदा आनंद-स्वरूप ही होती है। किंतु यह परिष्कार क्यों हुआ करता है इसपर भी विचार करना चाहिए। प्रत्यक्षानुभूति या भावानुभूति अपने हृद्गत भावों से ही संबंध रखनेवाली होती है। किंतु रसानुभूति दूसरे की भावनाओं की प्रेरणा से जगती है। इसी 'स्व' और 'पर' के भेद से दोनों प्रकार की अनुभूतियों में अंतर हो जाया करता है। शास्त्रों में स्थायी भावों का नाम और उनकी परिपक्वावस्था से उत्पन्न होनेवाले रसों का नाम देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। जिन भावों के स्वरूप में रसरूप धारण करने पर कोई अंतर नहीं होता उनका नाम दोनों स्थानों पर एक ही है; जैसे—हास और हास्य। स्वीय और परकीय हास में कोई

---

१ अथ हावा निरूप्यन्ते। नारीणां शृंगारचेष्टा हावाः। स च स्वभावते नारीणां......पुरुषाणामपि संभवन्तीति चेत्सत्यम्। तेषां त्वौपाधिकाः स्वभावजाः स्त्रीणामेव।—रसतरंगिणी।

अंतर नहीं रहता। इसलिए दोनों के नामों में भी कोई अंतर नहीं है। किंतु जब 'शोक' और 'करुण' नामों पर विचार किया जाता है तो स्पष्ट लक्षित होता है कि शोकभाव तमोगुण-संपन्न है और करुण सत्त्वगुण-संपन्न। इसपर इस ढंग से भी विचार किया जा सकता है कि शोकभाव अपने ऊपर पड़नेवाली विपत्ति से हुआ करता है, किंतु रसरूप में परिणत होने पर वह 'करुणा' का रूप धारण कर लेता है। करुणा वृत्ति दूसरे के शोक से किसी के हृदय में उत्पन्न होनेवाली वह सात्त्विक वृत्ति है जो शोकग्रस्त को दुःख से बचाने की प्रेरणा करती है। ठीक इसी प्रकार अन्य स्थायी भावों और रसों के नामों पर विचार किया जा सकता है। रति स्थायी भाव स्व-संबंध से ही हुआ करता है। किंतु दूसरे के रतिभाव से हृदय की जो अवस्था होती है वह शृंगार मात्र होती है। उत्साह भाव किसी विकट कर्म की साधना में प्रवृत्त करता है और उससे उत्पन्न होनेवाला वीररस चित्त में वह अवस्था ला देता है जिसके कारण चित्त कार्यों के संपन्न करने में विशेष रूप से संलग्न हो जाता है। क्रोधभाव किसी के नाश या हानि का प्रयत्न करता है। किंतु रौद्ररस पाठक को भीषण बनाकर ही छोड़ देता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पाठक या दर्शक के हृदय में भाव तो वही उत्पन्न होता है क्योंकि पात्र और पाठक के अनुभावों में कोई अंतर नहीं हुआ करता, किंतु पाठक का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं हुआ करता। काव्य के वर्णित आलंबन साधारणीकरण द्वारा उसके भाव के भी आलंबन अवश्य हो जाते हैं, किंतु उसके लक्ष्य की पूर्ति काव्यगत आश्रय निरंतर किया करता है। इसलिए उसके अपने प्रत्यक्ष जीवन में तत्काल कोई निश्चित लक्ष्य नहीं दिखाई देता। इसलिए निश्चित है कि उसकी अवस्था काव्यगत उस पात्र से, जिससे उसका तादात्म्य होता है, कुछ भिन्न दिखाई देती है। इसी भिन्नता को लक्षित कराने के निमित्त शास्त्रों में भावकोटि और रस-कोटि में अंतर दिखाने के लिए दोनों में नामांतर कर दिया गया है।

साधारण या गौण रस

रस ग्रंथों में कुछ रसों के उदाहरण ऐसे दिखाई देते हैं जिनसे यह लक्षित होता है कि वे बहुत साधारण कोटि में रखे गए हैं। जैसे, बीभत्स रस को ले लीजिए। रक्त, पीब, हड्डी, मांस आदि की दुर्गंध से वृत्ति का संकोच ही 'जुगुप्सा' है और उससे उत्पन्न होनेवाला बीभत्स रस भी इस प्रकार की हल्की घृणा उद्दीप्त कर के शांत हो जाता है। समाज में घृणोत्पादक कर्म करनेवाले व्यक्तियों के प्रति भी जुगुप्सा होती है। ऐसी स्थिति में पूर्वकथित दृष्टांतों का ही संग्रह क्यों किया गया? इसका कारण यह है कि उस जुगुप्सा की व्याप्ति बहुत अधिक है। समाज में नीच काम करनेवालों के प्रति जो जुगुप्सा होती है उससे भी बीभत्स रस की ही उत्पत्ति होगी, किंतु परिमित सीमा तक। हाँ, मानव-संबंध के कारण यह घृणा साधारण जुगुप्सित दृश्यों की अपेक्षा विशेष काल तक ठहरनेवाली भी होगी।

इसी प्रसंग में यह भी समझ लेना चाहिए कि कुछ रस गौण और कुछ प्रधान हुआ करते हैं। गौण रस प्रधान रसों के सहायक होते हैं, यद्यपि स्वच्छंद रूप में गौण रस भी अपनी बहार दिखाया करते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समर्थ कवियों ने गौण रसों का गांभीर्य दिखाने का प्रयास ही नहीं किया। बीभत्स ही की तरह हास भी हल्का रस समझा जाता है। किंतु तुलसी और सूर ने इसका प्रयोग विशेष गांभीर्य के साथ किया है। नारदमोह के प्रसंग में नारद और भ्रमरगीत के प्रसंग में उद्धव हास्यरस के आलंबन हैं। किंतु इनके प्रति जो हँसी उत्पन्न होती है वह गांभीर्य लिए हुए होती है। क्योंकि इन दोनों की हँसी कराकर इनका अहंकार दूर करने का प्रयत्न किया गया है अर्थात् अहंकार या गर्व करनेवाला समाज में हास्यास्पद होता है यह बात लक्षित कराई गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गौण रसों का गंभीरता के साथ भी प्रयोग किया जा सकता है।

पिंगल

पद्य या छंद

काव्य के भेद बतलाते हुए शैली के अनुसार उसके दो भेद किए गए हैं—गद्य और पद्य। जिस शास्त्र के अनुसार गद्य की रचना का शासन होता है उसे 'व्याकरण' कहते हैं और जिस शास्त्र के द्वारा पद्य का शासन होता है वह 'पिंगल' कहलाता है। दूसरे शब्दों में पिंगल पद्य का व्याकरण है। इसका नाम पिंगल इसलिए रखा गया कि आरंभ में इस शास्त्र का प्रचलन करनेवाले पिंगल नाम के कोई ऋषि हुए थे। जैसे संस्कृत का व्याकरण ऐंद्र, पाणिनीय आदि नामों से विख्यात है उसी प्रकार पद्य का व्याकरण उसके प्रवर्तक पिंगल ऋषि के नाम से प्रसिद्ध है। पद्य नाम इसलिए पड़ा कि इस रचना का संबंध पद (चरण) से है। पदों (चरणों) के अनुसार बहुत से साँचे बनाए गए, इसीलिए ये बने बनाए साँचे पद्य कहलाते हैं। छंद नाम भी इसी ढंग से रखा गया है। यद्यपि गद्य में भी कुछ न कुछ बंधन होता है पर उसकी लंबाई बँधे हुए साँचों में नहीं हुआ करती। किंतु पद्य की रचना लंबाई की विशेष नाप के अनुसार चलती है। इसी बंधन का नाम 'छंद' है। छंद का प्रचार बहुत प्राचीन काल से दिखाई देता है। यह उतना ही प्राचीन है जितने प्राचीन वेद हैं। वेद के छः अंगों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष और छंद) में से एक यह भी है।

गुरु और लघु

व्याकरण में वर्ण दो प्रकार के माने जाते हैं—ह्रस्व और दीर्घ। ह्रस्व वर्ण के उच्चारण में जितना समय लगता है उसका नाम एक मात्रा है। दीर्घ वर्ण के उच्चारण में इससे दूना समय लगता है, अतः उसकी दो मात्राएँ मानी जाती हैं। व्याकरण में तीन मात्राओं के वर्ण भी होते

४—हलंत (्) के पूर्व का वर्ण भी गुरु होता है और स्वतः हलंत की कोई मात्रा नहीँ मानी जाती। जैसे—'श्रीमन्' मेँ 'म' गुरु है और 'न्' निर्मात्रिक।

५—आवश्यकतानुसार छंद के चरण के अंत मेँ लघु दीर्घ मान लिया जाता है तथा दो शब्दोँ की संधि मेँ यदि दूसरे शब्द के आरंभ मेँ संयुक्त वर्ण आता है तो उसके पूर्व का ह्रस्व वर्ण विकल्प से गुरु माना जाता है। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैँ—

(१) 'दुखित हैँ धनहीन धनी सुखी,
यह विचार परिष्कृत है यदि'

(२) तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुर-श्मशान ;
नीचे प्रलय-सिंधु-लहरोँ का होता था सकरुण अवसान।

—कामायनी

हिंदी की पुरानी कविता अर्थात् ब्रजभाषा और अवधी मेँ दीर्घ वर्ण को लघु बनाने का नियम बहुत व्यापक है। ए और ओ स्वर प्रायः लघु हो जाया करते हैँ। जैसे—

ब्रज

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन मेँ अलसानि, चितौनि मेँ मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीँ 'मतिराम' लहे मुसकानि-मिठाई।
ज्योँ ज्योँ निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्योँ त्योँ खरी निकरै सी निकाई॥

अवधी

गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?

—पदमावत।

खड़ी बोली मेँ भी ए और ओ लघु होकर आते हैँ। मेरठ आदि प्रांतोँ मेँ तो ए का उच्चारण इ और ओ का उच्चारण उ हो जाया करता है। जैसे, वे लोग 'एक्का' को 'इक्का' और 'ओढ़ाना' को 'उढ़ाना' बोलते हैँ। किंतु जब से खड़ी बोली मेँ सवैया छंद का विशेष प्रचार हुआ तब से दीर्घ

को लघु पढ़ने की व्यवस्था व्यापक हो गई। साथ ही उर्दू की बहरों में भी दीर्घ वर्ण को लघु पढ़ना पड़ता है। क्योंकि उर्दू की बहरें वस्तुतः पिंगल-शास्त्र के अनुसार वर्णवृत्त मात्र हैं। अतः उनका प्रवाह रक्षित रखने के लिए ऐसी व्यवस्था आवश्यक हो जाती है। उदाहरण लीजिए—

सवैया छंद

बन बीच बसे थे फँसे थे ममत्व में एक कपोत कपोती कहीं।
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले-मिले दोनों वहीं॥
बढ़ने लगा नित्य नया-नया नेह, नई-नई कामना होती रहीं।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं॥

उर्दू बहर

निज देश की उन्नति का है सब भार इन्हीं पर।
निज धर्म की रक्षा का है सब दार इन्हीं पर॥
इन्कार इन्हीं पर है तो इकरार इन्हीं पर।
इन ही पै रिआया भी है, सरकार इन्हीं पर॥

ध्यान रखना चाहिए कि खड़ी बोली में विशेष कर सवैया में ही यह नियम देखा जाता है।

छंदों के भेद

छंदों में मात्रा और वर्ण दो का विचार होता है। जो छंद मात्रा की गणना के अनुसार बनते या बने हुए हैं उन्हें 'मात्रावृत्त' या 'जाति' कहते हैं; और जो वर्णों की गणना के अनुसार चलते हैं उन्हें 'वर्णवृत्त' या केवल 'वृत्त' कहते हैं। प्रत्येक छंद में चार 'चरण' या 'पाद' होते हैं। कुछ छंद ऐसे दिखाई देते हैं जिनमें चरण तो चार होते हैं किंतु वे लिखे दो ही पंक्तियों में जाते हैं। ऐसे छंद की प्रत्येक पंक्ति को 'दल' कहते हैं। हिंदी में कुछ छंद छः छः पंक्तियों में लिखे जाते हैं। ऐसे छंद दो छंदों के योग से बनते हैं। एक छंद के दो दल और दूसरे छंद के चार चरण रखने से ये छंद बनते हैं; जैसे—कुंडलिया, छप्पय, अमृतध्वनि।

मात्रावृत्त और वर्णवृत्त के चरणों के विचार से तीन प्रकार के भेद किए जाते हैं—सम, अर्द्धसम और विषम। 'सम' उन छंदों को कहते हैं जिनके चारों चरण एक ही ढाँचे के बने होते हैं; चाहे मात्रा की गणना हो चाहे वर्णों की। 'अर्द्धसम' छंद वे हैं जिनके विषम चरणों अर्थात् पहले और तीसरे चरणों में और इसी प्रकार सम चरणों अर्थात् दूसरे और चौथे चरणों में मात्राओं या वर्ण का क्रम एक सा होता है। विषम छंद वे हैं जिनमें प्रत्येक चरण की मात्राएँ या वर्ण भिन्न भिन्न होते हैं। हिंदी में मात्रिक विषम छंद नहीं दिखाई देते। दो छंदों के योग से बने हुए छप्पय आदि छंद मात्रिक विषम छंद मान लिए गए हैं। पर यह ठीक नहीं जान पड़ता। ये छंद दो छंदों के योग से बने हुए हैं, इसलिए इन्हें मिश्रित छंद समझना चाहिए। सम छंदों के भी दो भेद होते हैं—साधारण और दंडक। 'साधारण' मात्रिक छंद वे हैं जिनके प्रत्येक चरण में ३२ या उससे कम मात्राएँ हों। ३२ से अधिक मात्रावाले छंद 'दंडक' कहलाते हैं। 'साधारण वर्णवृत्त' वे हैं जिनके प्रत्येक चरण में २६ या उससे कम वर्ण हों। २६ से अधिक वर्णवाले छंद 'दंडक' कहलाते हैं। (२२ वर्ण से २६ वर्ण तक के वृत्त 'सवैया' कहे जाते हैं।) छंदों का वृत्त इस प्रकार होगा—
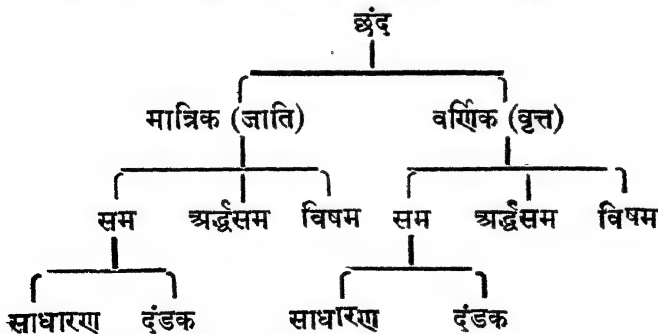
हिंदी में मात्रिक सम और अर्द्धसम छंदों का ही व्यवहार होता है। वर्णिक छंदों में से केवल सम का ही व्यवहार होता है।

गण

वर्णिक और मात्रिक छंदों का लक्षण सुविधानुसार बतलाने के लिए पिंगल में गणों की व्यवस्था की गई है। मात्रिक गण पाँच प्रकार के होते हैं—टगण, ठगण, डगण, ढगण, णगण। क्रमशः छः, पाँच, चार, तीन और दो मात्राओं के समूह को टगण आदि नामों से अभिहित करते हैं। इन मात्रिक गणों का स्वरूप सदा एक नहीं हो सकता। इसलिए टगण आदि के कई स्वरूप होते हैं। इनके क्रमशः १३, ८, ५, ३ और २ प्रकार के स्वरूप हो सकते हैं। उदाहरण के लिए दो मात्रावाले णगण को लीजिए। इसके दो स्वरूप हो सकते हैं। एक जिसमें एक ही गुरु अक्षर हो, जैसे—'सौ' और दूसरा जिसमें दो लघु अक्षर हों जैसे—'शत'। इसी प्रकार अन्य गणों का स्वरूप भी समझ लेना चाहिए। इन गणों का उपयोग हिंदी के पिंगल-ग्रंथों में कहीं कहीं देखा जाता है। अधिकतर मात्रिक छंदों का ज्ञान उनकी लय से ही किया जाता है।

वर्णिक गण में तीन अक्षरों के समूह की 'गण' संज्ञा है। प्रत्येक अक्षर लघु (।) और गुरु (S) दो प्रकार का होता है। इसलिए तीन अक्षरवाले इस गण के ८ रूप हो जाते हैं। इनके स्वरूप और नाम नीचे लिखी तालिका में दिए जाते हैं—

नाम	चिह्न	संकेत	स्वरूप
मगण	SSS	म	कौसल्या
यगण	ISS	य	सुमित्रा
रगण	SIS	र	कैकयी
सगण	IIS	स	सरयू
तगण	SSI	त	साकेत
जगण	ISI	ज	वसिष्ठ
भगण	SII	भ	राघव
नगण	III	न	भरत

पिंगल मेँ लघु के लिए 'ल' और गुरु के लिए 'ग' का प्रयोग होता है। गणोँ का स्वरूप हृदयंगम करने के कई ढंग निकाले गए, पर उन सबमेँ निम्नलिखित सूत्र सबसे सरल है—

'यमाताराजभानसलगा'

इस सूत्र मेँ आदि के आठ अक्षर गणोँ के प्रतीक हैँ, 'ल' का अर्थ लघु है और 'ग' का गुरु। किसी गण का स्वरूप जानने के लिए उस गण के संकेताक्षर के आगे के दो और अक्षरोँ को मिलाकर तीन अक्षर ले लेने चाहिए। बस गण का स्वरूप सामने आ जायगा। जैसे, किसी को 'तगण' का स्वरूप जानना है तो वह इस सूत्र से 'ताराज' (SSI) ले लेगा और उसे मालूम हो जायगा कि तगण मेँ दो गुरु और एक लघु अक्षर क्रम से होते हैँ।

शुभाशुभ-विचार

छंदोँ का संबंध संगीत से है। विशेष प्रकार के अक्षर क्रम-से विशेष प्रकार की समस्वरता आ जाया करती है। इसीलिए पिंगल मेँ इन गणोँ का शुभाशुभ-विचार भी किया जाता है। यह शुभाशुभ-विचार छंद के आदि मेँ होता है और मुख्यत: मात्रिक छंदोँ मेँ देखा जाता है। इन गणोँ की मैत्री, शत्रुता आदि तथा इनके देवता और फल का भी विचार किया गया है जिनकी तालिका इस प्रकार है—

शुभाशुभ	नाम	गण	देवता	फल
शुभ	मित्र	मगण	भूमि	लक्ष्मी
		नगण	स्वर्ग	आयु
	दास	भगण	चंद्रमा	यश
		यगण	जल	वृद्धि
अशुभ	उदासीन	जगण	सूर्य	रोग
		तगण	आकाश	धनहानि
	शत्रु	रगण	अग्नि	विनाश
		सगण	वायु	देशाटन

केवल गणों में ही नहीं शुभाशुभ का विचार आद्य अक्षर में भी किया जाता है। संयुक्ताक्षर आदि में रखना अशुभ माना गया है। सभी स्वर शुभ माने जाते हैं। व्यंजनों में से ङ, झ, य, ट, ठ, ढ, ण, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, स और ह अशुभ हैं; शेष शुभ हैं। इन अशुभों में से पाँच अक्षर अत्यंत अशुभ अर्थात् 'दग्धाक्षर' माने जाते हैं—झ, भ, र, ष और ह। देववाची या मंगलवाची शब्दों के आदि में इन अक्षरों का होना अशुभ नहीं माना जाता। कहीं कहीं इन अक्षरों को दीर्घ कर देने से इनका अशुभ नष्ट हो जाता है।

गति

छंदों में मुख्य विचार गति (प्रवाह) का हुआ करता है। जिस छंद में प्रवाह न होगा वह छंद किसी काम का नहीं रह जाता। अच्छे अच्छे कवियों की रचना में गति बड़ी सुंदर पाई जाती है। 'पद्माकर' की कविता में गति बड़ी अच्छी मिलती है।

संख्या

कविता में संख्याओं को कवि उनके नामों से नहीं, प्रतीकों द्वारा व्यक्त करते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि संख्याओं के नाम कई नहीं हुआ करते इसलिए पद्य में उन नामों को बद्ध करते समय कवियों को विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ता है। किंतु प्रतीकों द्वारा व्यक्त करने में यह सरलता होती है कि उन प्रतीकों के पर्यायवाची शब्दों से भी काम निकाला जा सकता है। हाँ, इन संख्याओं को व्यक्त करने में ये प्रतीक उलटे क्रम से रखे जाते हैं (अंकानां वामतो गतिः)। उदाहरण के लिए बीस तक संख्याओं के कुछ प्रतीक दिए जाते हैं—

०—आकाश।

१—पृथ्वी, चंद्र, आत्मा।

२—आँख, पक्ष, भुज, कर्ण, पद आदि।

३—गुण, काल, ताप आदि।

४—वेद, वर्ण, आश्रम, युग, पदार्थ आदि।

५—इंद्रिय, पांडव, प्राण, महाभूत आदि ।

६—ऋतु, राग, वेदांग, ईति आदि ।

७—स्वर, लोक, वार, पुरी आदि ।

८— सिद्धि, प्रहर, दिग्गज, वसु आदि ।

९—अंक, निधि, ग्रह, भक्ति आदि ।

१० दिशा, अवतार, दोष आदि ।

११—शिव ।

१२—सूर्य, राशि, मास आदि ।

१३ - नदी, किरण आदि ।

१४—भुवन, रत्न, विद्या आदि ।

१५—तिथि ।

१६—संस्कार, शृंगार, कला आदि ।

१७—एक और सात के कोई दो संकेत मिलाकर ।

१८—पुराण ।

१९—एक और नव के कोई दो संकेत मिलाकर ।

२०—नख ।

इन्हें समझने के लिए उदाहरण लीजिए—

संवत् ग्रह[९] ससि[१] जलधि[७] छिति[१] छठि तिथि बासर चंद ।
चैत मास सित पच्छ मैं, पूरन आनँदकंद ॥

यहाँ पर 'ग्रह ससि जलधि छिति' का ९१७१ हुआ पर 'अंकानां वामतो गतिः' (अंक बाएँ से चलते हैं) के अनुसार संवत् १७१९ हुआ।

तुक

पद्य के चरणांत की अक्षरमैत्री को 'तुक' कहते हैं। यद्यपि कहीं कहीं संस्कृत मैं भी तुक मिलता है तथापि उसकी अधिकांश कविता अतुकांत ही है। तुकांत का चलन अपभ्रंश की रचनाओं मैं देखा जाता है। इसी कारण अपभ्रंश के बाद देशी भाषाओं मैं सर्वत्र तुकांत की प्रवृत्ति देखी जाती है। हिंदी मैं तुकांत उसकी बहुत बड़ी विशेषता है।

किंतु कुछ लोग अँगरेजी भाषा की नकल पर भारतीय भाषाओं में भी अतुकांत रचना का प्रचार फिर से करना चाहते हैं। इस संबंध में कुछ थोड़ा सा विचार करने की आवश्यकता है। यद्यपि संस्कृत-भाषा में अतुकांत रचना होती थी तथापि जिन छंदों में वह रचना होती थी उनका बंधान ऐसा संगीतमय था जिससे तुकांत के अभाव में भी उसकी संगीतात्मकता कम नहीं हो पाती थी। किंतु देशी भाषाएँ जिन छंदों को लेकर चलीं उन छंदों में संगीत की वह विशेषता अपेक्षाकृत कम थी। इसलिए उस अभाव की पूर्ति के लिए तुक का प्रयोग आवश्यक हुआ। तात्पर्य यह कि संस्कृत की रचना वर्णवृत्तों में होती थी और वर्णवृत्तों में प्रत्येक चरण में एक ही प्रकार के गणों का विधान होने से ध्वनि बँधी रहती है। किंतु देशी भाषाओं में और विशेषतः उन भाषाओं की जेठी बहन हिंदी में अधिकतर मात्रिक छंदों का व्यवहार होता रहा और इन मात्रिक छंदों में प्रत्येक चरण समस्वरूप नहीं होता। इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि चार अक्षरवाले वर्णवृत्त के १६ रूप होते हैं। इन १६ रूपों में से कोई एक रूप ग्रहण किया जायगा और पद्य के चारों चरणों में उसी एक रूप का व्यवहार होगा। किंतु मात्रिक छंद में चार मात्रावाले छंदों के पाँच रूप होते हैं और यदि चार मात्रा का छंद गृहीत हो तो उसके चारों चरणों में कोई एक रूप न आकर दो, तीन, चार तक रूप आ सकते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वर्णवृत्तों में चारों चरणों की लय एक सी होती है किंतु मात्रावृत्तों में लय अर्थात् ध्वनियों का उतार-चढ़ाव बदलता रहता है। इस परिवर्तन का संतुलन स्थापित करने के लिए तुकांत का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। अतः मात्रावृत्तों से तुकांत हटा दिया जाय तो छंद की संगीतध्वनि को बहुत बड़ा आघात पहुँचता है। हिंदी में नवीनता लाने के विचार से वर्णवृत्तों और मात्रावृत्तों दोनों में अतुकांत कविता की गई। 'प्रियप्रवास' अतुकांत वर्णवृत्त में लिखा गया और प्रसाद जी का 'महाराणा का महत्त्व' अतुकांत मात्रावृत्त में। दोनों प्रकारों की रचनाएँ पढ़कर देखी जा सकती हैं। उनके देखने से स्पष्ट हो

जाता है कि 'प्रियप्रवास' की संगीतध्वनि जमी हुई है और 'महाराणा का महत्त्व' की उखड़ी हुई।

तुकांत पर दो ढंग से विचार हो सकता है। एक तो चरण के अंत में पड़नेवाले स्वरों और अक्षरों के आधार पर और दूसरे प्रत्येक चरण के अन्य चरणों के समन्वय के विचार से होनेवाले स्वरूप के आधार पर। पहले को तुक का अंतर्वर्ती और दूसरे को तुक का बहिर्वर्ती प्रकार कह सकते हैं। अंतर्वर्ती तुक तीन प्रकार के माने गए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। हिंदी में भिखारीदास ने 'तुक' का बड़े अच्छे ढंग से अपने 'काव्यनिर्णय' में विचार किया है। इन तीनों के भिन्न भिन्न प्रकार के तीन तीन भेद और माने गए हैं। जिनके नाम ये हैं; उत्तम—समसरि, विषमसरि, कष्टसरि; मध्यम—असंयोगमीलित, स्वरमीलित, दुर्मिल; अधम—अमिलसुमिल, आदिमत्तअमिल, अंतमत्त-अमिल।

जहाँ तुकांत में जितने वर्ण मात्रासहित दिखाई दें उनका स्वरूप सब स्थानों में एक सा रहे और तुकांत में पड़नेवाले शब्द स्वतः पूर्ण हों वहाँ 'समसरि' उत्तम तुकांत होता है; जैसे—चलना, पलना, मलना, फलना आदि।

आनन-कलानिधि में दूनी कला देख देख,
चाहक चकोरों के उदास उर ऊलँगे॥
दाड़िम के दानी फल दाने उगलँगे नहीं,
कुंद-कलियों के झुंड झाड़ में न झूलँगे॥

जहाँ सभी तुकांतों के शब्द एक से न हों, कोई तुक बड़े शब्द का खंड हो तो कोई पूर्ण, वहाँ 'विषमसरि' उत्तम तुकांत होता है; जैसे—

त्यों अभिमान को कूप इतै, उतै कामना रूप सिलान की ढेरी।
तू चल मूढ़ सँभारि अरे मन राह न जानी है रैन अँधेरी॥

यहाँ 'ढेरी' का तुकांत 'अँधेरी' रखा गया है।

जहाँ कुछ तुकांत खंडित हों और कुछ पूर्ण वहाँ 'कष्टसरि' उत्तम तुकांत होता है; जैसे—

'बिलोकिए, तिलोकिए' के साथ को किए' और 'रोकिए'।

(कवितावली, सुंदरकांड)

जहाँ संयुक्त वर्ण के तुकांत मेँ कोई असंयुक्त वर्ण हो वहाँ 'असंयोगमीलित' मध्यम तुकांत होता है; जैसे—

बरसती है खचित मणियोँ की प्रभा,
तेज मेँ डूबी हुई है सब सभा।

यहाँ प्रभा मेँ 'प्र' संयुक्त वर्ण है और सभा मेँ 'स' असंयुक्त वर्ण। यदि 'सभा' के स्थान पर स्रभा' होता तो यह उत्तम तुकांत कहा जाता।

जहाँ तुकांत मेँ केवल स्वर मिलता हो वहाँ 'स्वरमीलित' मध्यम तुकांत होता है ; जैसे—जियँ, सुनँ, मैँ, कँ आदि। यहाँ केवल 'एँ' स्वर का साम्य है।

जहाँ अंत का वर्ण या स्वर मिला तो हो पर उसके पूर्व के स्वर-व्यंजन एकदम भिन्न होँ और विजातीय होँ वहाँ 'दुर्मिल' मध्यम तुकांत समझना चाहिए ; जैसे—

सरलपन ही था उसका मन, निरालापन था आभूषन'।

इसमेँ 'का मन' और 'भूषन' दुर्मिल हैँ।

जहाँ सरलतापूर्वक मिलनेवाले तुक के साथ एक-आध शब्द बेमेल भी पड़े होँ वहाँ 'अमिलसुमिल, अधम तुकांत माना जाता है ; जैसे—

पलकँ, अलकँ, झलकँ का तुकांत 'न छकँ' रखना।

जहाँ ऐसे तुकांत होँ कि छंद के अंत की मात्राएँ और वर्ण तो मिलते होँ पर तुकांत के आदि मेँ स्वर विभिन्न होँ वहाँ 'आदिमत्त-अमिल' अधम तुकांत माना जाता है ; जैसे—

मृदु बोलन तीय सुधा श्रवती। तुलसी बन-बेलिन मेँ भँवती॥
नहिँ जानिय कौन अहै युवती। वहि तेँ अब औध है रूपवती॥

यहाँ 'वती' का तुकांत तो मिल गया है किंतु इसके पहले के स्वर क से नहीँ हैँ।

जहाँ तुक की अंतिम मात्रा अमिल हो, केवल व्यंजन मिलता हो,

वहाँ 'अंतमत्तअमिल' तुकांत होता है; जैसे—

गंगे ! बढ़कर विष हुआ, सुधा-सदृश तव अंबु।
जीवन पाकर खो रहे, जीवन जीव-कदंब॥

उर्दू में जिस प्रकार काफिया और रदीफ का व्यवहार होता है उस प्रकार का व्यवहार भी हिंदी में देखा जाता है। 'दास' ने इस बात पर भी विचार किया है और इस प्रकार के तुकांतों को वीप्सा, यामकी और लाटिया नामक भेदों में विभाजित किया है। 'वीप्सा' का तात्पर्य यह है कि कोई शब्द दो बार आए। जैसे—दई दई, बई बई, मई मई, नई नई आदि। 'यामकी' का तात्पर्य यह है कि तुकांत के भिन्नार्थ हों पर स्वरूप एक रहे; जैसे—

अंबर से बरसा रहे रस हैं वे घन श्याम।
रससागर उमड़ा रहे, ये मेरे घनश्याम॥

'लाटिया' तुकांत वह है जिसमें मूल तुक के साथ एक ही अर्थ व्यक्त करनेवाले शब्द चारों चरणों में पड़ें। जैसे—लहि जायगी, गहि जायगी, रहि जायगी, बहि जायगी आदि।

चरणों के समन्वय के आधार पर तुकांत छः ढंग के होते हैं—सर्वांत्य, समांत्यविषमांत्य, समांत्य, विषमांत्य, समविषमांत्य और भिन्नांत्य अथवा अतुकांत। 'सर्वांत्य' उसे कहते हैं जहाँ छंद के चारों चरणों में तुक मिले। कवित्त, सवैया आदि ऐसे ही छंद हैं। 'समांत्य-विषमांत्य' वह है जहाँ छंद के विषम (पहले और तीसरे) चरणों का तथा सम (दूसरे और चौथे) चरणों का तुकांत एक सा हो। हिंदी में ऐसी कविता कम मिलती है, किंतु अँगरेजी-साहित्य में इसका विशेष प्रचार है। जहाँ छंद के केवल दूसरे-चौथे चरणों का तुकांत मिले वहाँ 'समांत्य' होता है। हिंदी में इस तरह के छंद दोहा, बरवै आदि पहले से हैं और अब इस तरह के कुछ नए छंद और भी लिखे जाने लगे हैं। अँगरेजी में और उर्दू में ऐसे छंदों का विशेष प्रचलन देखा जाता है। जिसमें पहले और तीसरे चरण का तुकांत मिलता हो उसे 'विषमांत्य'

कहते हैं; जैसे सोरठा। जहाँ छंद में पहले-दूसरे और तीसरे-चौथे चरणों का तुकांत एक सा हो उसे 'समविषमांत्य' कहते हैं। हिंदी में चौपाइयाँ, रोला आदि इसी ढंग से अधिकतर लिखे जाते हैं। जहाँ छंद के प्रत्येक चरण में भिन्न भिन्न तुकांत हों उसे 'भिन्नांत्य या अतुकांत' कहते हैं। हिंदी में 'प्रियप्रवास' अतुकांत रचना है।

प्रत्यय

पिंगल की प्रक्रिया में छंदों का विस्तार जिन विधियों से व्यक्त होता है उन्हें 'प्रत्यय' कहते हैं। छंदों के विस्तार से हमारा तात्पर्य विभिन्न मात्रा एवं वर्ण के प्रस्तार और उनकी संख्या आदि से है। कुल नौ प्रत्यय माने गए हैं—प्रस्तार, सूची, उद्दिष्ट, नष्ट, पाताल, मेरु, खंडमेरु, पताका और मर्कटी। पिंगल में इन प्रत्ययों का बहुत अधिक विस्तार है। वस्तुतः यह पिंगल का गणित-विभाग है। इनके द्वारा पता चलता है कि अमुक मात्रा या वर्ण के छंदों का स्वरूप और उनकी निश्चित संख्या क्या है। इनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

(१) **प्रस्तार**—प्रस्तार में छंदों के स्वरूप का विस्तार दिखलाया जाता है। प्रस्तार को समझाने के पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि मात्रिक छंदों में एक मात्रा के छंदों की संख्या एक, दो मात्रा के छंदों की संख्या दो और तीन मात्रा के छंदों की संख्या तीन होती है। चार मात्रा के छंदों की संख्या पाँच होती है। यह संख्या तीन मात्रा और दो मात्रा की छंद-संख्या का योग है। इसी प्रकार पाँच मात्रा के छंदों की छंद-संख्या पिछले दो अर्थात् चार मात्रा के छंदों और तीन मात्रा के छंदों की संख्या के योग के बराबर होगी। अतः नियम यह हुआ कि किसी मात्रा की संख्या उसके पूर्व की दो मात्राओं की छंद-संख्या के योग के बराबर होती है। छंदों की संख्या को 'सूची अंक' कहते हैं। वर्ण प्रस्तार में छंद-संख्या अपने से पूर्व की संख्या की दूनी होती है। जैसे—एक वर्ण की छंद-संख्या दो होती है, दो वर्ण की छंद-संख्या चार, तीन की आठ, चार की सोलह, पाँच की बत्तीस आदि।

अब प्रस्तार का विवरण समझिए। पहले मात्रिक छंद लीजिए। मात्रिक छंदों में दो प्रकार की स्थितियाँ होंगी। कुछ विषमकल अर्थात् तीन, पाँच, सात, नव आदि मात्रावाले होंगे और कुछ समकल अर्थात् दो, चार, छः, आठ, दस आदि मात्रावाले। किसी मात्रा के छंद का पहला भेद वह होगा जिसमें सब गुरु वर्ण होंगे। विषमकल में जो एक मात्रा बढ़ेगी वह बाँएँ हाथ की ओर रखी जायगी। जैसे, छः मात्राओं का पहला भेद होगा तीन गुरु (SSS) और पाँच मात्राओं का पहला रूप होगा एक लघु दो गुरु (।SS)। दूसरे, तीसरे आदि रूप बनाने के लिए नियम यह है कि पहले रूप में सबसे प्रथम गुरु के नीचे लघु (।) रखें और दाहिने हाथ की ओर ज्यों का त्यों उतार दें। बाँएँ हाथ की ओर गुरु वर्ण बनाते चले जायँ। अंत में जाकर यदि गुरु रखने से मात्रा बढ़ती हो तो अंत में लघु रखें। ध्यान रखना चाहिए कि यह लघु बाँएँ हाथ की ओर अंत में ही रखा जाता है। उदाहरण लीजिए—

<u>पाँच मात्राओं का प्रस्तार</u>

।SS
S।S
।।।S
SS।
।।S।
।S।।
S।।।
।।।।।

मात्राओं के प्रस्तार में सबसे अंतिम मात्राएँ लघु हों।

वर्णिक प्रस्तार भी इसी प्रकार किया जाता है। अंतर इतना ही है कि इसमें अक्षरों की गिनती करनी पड़ती है मात्राओं की गिनती नहीं। जैसे—यदि पाँच वर्णों का वृत्त हो तो ध्यान रखना चाहिए कि

प्रत्येक भेद में पाँच ही वर्ण रहें। इसमें भी सबसे पहला भेद वही होता है जिसमें सब गुरु वर्ण हों और अंतिम भेद वह होता है जिसमें सब लघु वर्ण हों। उदाहरण के लिए तीन वर्णों का प्रस्तार दिया जाता है। इसके आठ भेद होते हैं।

तीन वर्णों का प्रस्तार

ऽ ऽ ऽ
। ऽ ऽ
ऽ । ऽ
। । ऽ
ऽ ऽ ।
। ऽ ।
ऽ । ।
। । ।

(२) **सूची**—या संख्या से छंदों की संख्या की शुद्धता और उनके भेदों में आदि-अंत गुरु अथवा आदि-अंत लघु की संख्या सूचित की जाती है।

(३) **उद्दिष्ट**—यदि कोई कितनी ही मात्रा या वर्ण के प्रस्तार का कोई भेद लिखकर पूछे कि यह कौन सा भेद है तो उद्दिष्ट द्वारा बतलाया जा सकता है।

(४) **नष्ट**—इसके द्वारा कितनी ही मात्रा या वर्ण का कोई भेद जाना जा सकता है।

(५) **पाताल**—इसके द्वारा प्रत्येक छंद के भेद अर्थात् उनकी संख्या का ज्ञान, लघु-गुरु संपूर्ण मात्राएँ तथा वर्ण आदि जाने जाते हैं।

(६, ७) **मेरु, खंडमेरु**—कितनी ही मात्रा या वर्ण के संपूर्ण प्रस्तार के भेदों अर्थात् छंद के रूपों में जितने जितने गुरु और जितने जितने लघु के रूप होते हैं उनकी संख्या दिखलाने को मेरु और खंडमेरु कहते हैं।

(८) पताका—मेरु के द्वारा गुरु और लघु के जितने जितने भेद प्रकट होते हैं पताका के द्वारा उनके ठीक स्थान बतलाए जाते हैं।

(९) मर्कटी—इससे प्रस्तार में लघु-गुरु, सर्वकला और समस्त वर्णों की संख्या जानी जाती है।

यद्यपि प्रत्यय नौ हैं तथापि केवल प्रस्तार, सूची, उद्दिष्ट और नष्ट विशेष प्रयोजनीय होते हैं। शेष कौतुक मात्र हैं। इन चारों में से प्रस्तार और सूची (तथा सूची-अंक) इन्हीं का विशेष महत्त्व है।

आलोचना

समीक्षा का विकास

आलोचना या समीक्षा का तात्पर्य भारतीय वाङ्मय में किसी साहित्यिक रचना का अंतर्भाष्य समझा जाता रहा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी विशेष रचना में किन मुख्य बातों का ध्यान रखा गया है इसका विवेचन किया जाय और इसके साथ ही उन अर्थों का भी संग्रह किया जाय जो उस रचना के संबंध में अवांतर से प्राप्त होते हैं।[1] संस्कृत-साहित्य में साहित्यिक ग्रंथों की जो टीकाएँ हुई हैं उनमें ऐसी आलोचना का बहुत कुछ अंश पाया जाता है। इन टीकाओं में केवल यथासंभव प्राप्त अर्थ की ही व्याख्या नहीं है प्रत्युत स्थान स्थान पर उन स्थलों का विस्तृत विवेचन भी किया गया है जिनके लिए भाष्य की आवश्यकता प्रतीत हुई है। केवल अर्थ का खोलना मात्र इन टीकाकारों का उद्देश्य नहीं था, वरन् विशेष स्थलों का काव्यगत महत्त्व भी इनके द्वारा प्रदर्शित किया गया है। मल्लिनाथ की टीकाओं में यह बात बहुत अच्छी पाई जाती है। किंतु रचनाओं के ऐसे भाष्य के अतिरिक्त निर्णयात्मक पद्धति से विभिन्न कवियों अथवा प्रमुख कवियों के लिए ऐसी उक्तियों का भी प्रयोग देखा जाता है जो उनके संबंध में कोई निर्णय घोषित करनेवाली हैं; जैसे कालिदास,[2] बाण, भवभूति आदि के लिए। हिंदी में भी संस्कृत की ही भाँति आरंभ में कवियों की प्रशंसात्मक आलोचना ही दिखाई देती है।[3] रीतिकाल में कुछ

---

१ अन्तर्भाष्यं समीक्षा। अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा।—काव्यमीमांसा।

२ यथा—उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

३ यथा—सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास।
अबके कवि खद्योत-सम जहँ तहँ करहिं प्रकास॥

ग्रंथ ऐसे अवश्य दिखाई देते हैं जिनमें काव्यांगों के उदाहरण स्वतः न प्रस्तुत करके लक्ष्य-ग्रंथों से उदाहृत किए हैं। यह भी एक प्रकार की आलोचना ही मानी जानी चाहिए। यद्यपि इसमें किसी एक ही कवि या किसी एक ही ग्रंथ की विस्तृत आलोचना, भले ही वह पुराने ढंग की हो, नहीं दिखाई देती तथापि आलोचना का बीज इसमें अवश्य पाया जाता है। नए ढंग की आलोचना का आरंभ हिंदी में आधुनिक काल के आरंभ में ही दिखाई पड़ा और इसका आरंभ बालकृष्ण भट्ट द्वारा हुआ। जिन्होंने 'संयोगिता-स्वयंवर' की बड़ी कड़ी आलोचना 'हिंदी प्रदीप' (सं० १८४३) में की थी। हिंदी में आलोचना आरंभ में परिचयात्मक ही दिखाई देती है। इसके अनंतर मंडनात्मक एवं खंडनात्मक आलोचनाओं का प्रवाह चला। तुलनात्मक आलोचना भी दिखाई पड़ी जिसके व्यवस्थित रूप से प्रवर्तक स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा हैं। किंतु तब तक आलोचना-शाखा का परिष्कार भली भाँति नहीं हो सका था। अधिकतर आलोचक व्यक्तिगत रुचि-वैचित्र्य के आधार पर किसी कवि को दूसरे से उत्कृष्ट सिद्ध करने में ही प्रवृत्त रहे। वस्तुतः स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ही व्यवस्थित एवं शास्त्र-संमत विश्लेषणात्मक आलोचना के प्रवर्तक हुए। इनकी आलोचनाओं में काव्यप्रणेता की विशेषताओं के उद्घाटन पर सम्यक् दृष्टि रखी गई। निष्पक्षता, निरपेक्षता और सद्भावना के साथ गुण एवं दोष दोनों का विवेचन किया गया। सचमुच आलोचना का प्रयोजन और महत्त्व यही है कि आलोच्य व्यक्ति या रचना की विशेषता से साहित्य के अध्येता पूर्णतया परिचित हों और उसके गुण-दोषों के विवेचन से भावी प्रणेता सँभलें। एक ओर तो हिंदी में शुक्लजी आलोचना का विस्तृत भारतीय मार्ग खोलते हुए दिखाई पड़े और दूसरी ओर विलायती स्वाँग भरनेवाले अपनी चटक-मटक दिखाने के लिए कुछ टेढ़ा-सीधा लिखते रहे। हिंदी के कुछ कवियों के संबंध में अँगरेजी के कवियों पर कही गई शब्दावली का चलता अनुवाद देखकर अपनी पहचान रखनेवालों को अवश्य क्षोभ होता रहा है। कुछ ऐसे भी

समालोचक दिखाई देते हैं जो व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की आड़ में कवियों या लेखकों की प्रभाववादी आलोचना करने में ही व्यस्त हैं। आलोचना को भी पढ़ने-पढ़ाने का शास्त्र न रहने देना कहाँ की बुद्धिमानी है वे ही जानें। पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तकों की चलती आलोचना का चलन बढ़ जाने से साधारण बातों से ही काम चलाने का प्रयत्न हो रहा है; गंभीरता की ओर आलोचकों की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। शुक्लजी की शैली पर लिखनेवाले आलोचक अभी नहीं दिखाई देते। यद्यपि आलोचनाएँ बहुत अधिक हो रही हैं तथापि अधिकतर पाश्चात्य मानदंड लेकर चलनेवाली हैं। भारतीय पद्धति के अध्ययन से उदासीन होने के कारण आलोचकों द्वारा अधकचरी बातें सामने लाई जाती हैं।

भारतीय समीक्षा

अलंकार-संप्रदाय

भारतीय समीक्षा का आधार बहुत ही पुष्ट है। समीक्षा के जो सिद्धांत यहाँ दिखाई पड़ते हैं उन्हें सामने रखकर संसार भर के साहित्यों की आलोचना की जा सकती है। आरंभ में यहाँ अलंकार-संप्रदाय का प्राधान्य रहा। अलंकार को काव्य की आवश्यक शैली मानने में तो विशेष मीन-मेष नहीं, किंतु 'काव्य में सारा चमत्कार अलंकारों के ही कारण होता है अथवा काव्य में होनेवाले सब प्रकार के चमत्कार अलंकार ही हैं' कहना उचित नहीं प्रतीत होता। जब वर्ण्य विषय भी अलंकार नाम से घोषित किए जाते हैं तो मानना पड़ता है कि अलंकार-संप्रदाय ने ज्यादती की है। ये रसों को भी अलंकार मानते रहे और न्यायशास्त्र में माने जानेवाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को भी इन्होंने अलंकार नाम से ही अभिहित किया। स्वभावोक्ति, जाति आदि कुछ ऐसे अलंकार भी रखे गए जो शैली न होकर स्वतः प्रतिपाद्य विषय

हैं[1]। तात्पर्य यह कि अलंकार्य और अलंकार का ठीक ठीक भेद इस संप्रदाय में नहीं रहा। 'ध्वन्यालोक' से पता चलता है कि भक्ति (लक्षणा) को काव्य की आत्मा माननेवाले विद्वान् भी हो चुके हैं।[2] इस संप्रदाय को एक प्रकार का अभिव्यंजनावादी संप्रदाय ही समझना चाहिए। वर्ण्य विषय और वर्णन-शैली का भेद यहाँ भी नहीं था।

रस-संप्रदाय

रस-संप्रदाय के आगमन से साहित्य में वर्ण्य विषय स्फुट होने लगा था। इस संप्रदाय ने रस को वर्ण्य और अलंकार को वर्णन-शैली मात्र कहा। रस-संप्रदाय भारतीय वाङ्मय में बहुत ही समर्थ संप्रदाय है इसमें संदेह नहीं। किंतु ध्वनि-संप्रदाय के उठ खड़े होने से, रस या भाव को भी वर्णन-शैली के भीतर मानकर, उसका महत्त्व धीरे धीरे कम हो गया। रसों को व्यंजना या ध्वनि (शैली) कहना बहुत उचित नहीं प्रतीत होता।

रीति-संप्रदाय

वामन आदि आचार्यों का रीति-संप्रदाय रीति को काव्य की आत्मा मानने लगा।[3] रीति भी वर्णन-शैली ही है और इसका संबंध

---

१ 'स्वभावोक्ति' को अलंकार माननेवालों पर कुंतकजी बहुत क्षुब्ध हैं—

अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥
शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुतेऽपरम्।
आत्मैव नात्मनः स्कंधं क्वचिदप्यधिरोहति॥—वक्रोक्तिजीवित।

२ काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भक्तिमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥

३ रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः।—काव्यालंकारसूत्र।

भाषा से है। वामन तो काव्य को वर्णन-शैली (अलंकार) ही के कारण ग्राह्य मानते हैँ और काव्यगत सौंदर्य को वर्णन-शैली कहते हैँ।[१]

वक्रोक्ति-संप्रदाय

कुंतक ने 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' को 'वक्रोक्ति' कहकर[२] और काव्यगत सब प्रकार के चमत्कारोँ को वक्रोक्ति मानकर यह बतलाया कि काव्य मैँ एक प्रकार की वचन-भंगिमा ही रोचकता का प्रधान कारण है। इसके लिए उन्होँने लक्ष्य-ग्रंथोँ से सब प्रकार (अलंकार, ध्वनि आदि) के उदाहरण एकत्र किए और यह सिद्ध किया कि जिसे अलंकार, ध्वनि, लक्षणा आदि का चमत्कार कहते हैँ वह 'वक्रोक्ति' ही तो है। आगे चलकर कुछ लोगोँ ने कुंतक के पक्ष का विरोध करते हुए उसे केवल अलंकार (शैली) बतलाकर अग्राह्य माना।[३] 'वक्रोक्ति' से कुंतक का तात्पर्य वक्रोक्ति नाम के अलंकार से कदापि नहीँ था।

आलंकारिकोँ द्वारा कुछ अलंकारोँ की विवेचना मैँ यह स्पष्ट कहा गया है कि बिना अतिशयोक्ति अर्थात् कवि द्वारा कल्पित चमत्कार के काव्यगत वैशिष्ट्य उत्पन्न नहीँ किया जा सकता।[४] जैसे, अलंकारोँ मैँ वस्तुत्व और प्रमेयत्व मैँ चमत्कार नहीँ माना जाता।[५] वस्तुत्व का तात्पर्य है वास्तविक स्थिति मात्र का कथन। यदि कोई कहे कि 'पुत्र

---

१ काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः।—काव्यालंकारसूत्र।

२ वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।

३ एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलंकाररूपत्वात्।—साहित्यदर्पण।

४ सर्वत्र एवंविध विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां बिना प्रायेणालंकारत्वायोगात्।—काव्यप्रकाश।

५ इसी को कुछ लोगों ने 'वक्रोक्ति' भी कहा है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

—काव्यालंकार (भामह)।

की आकृति पिता के समान है तो यहाँ पर उपमा अलंकार न होगा क्योंकि पुत्र की आकृति पिता के समान होना वास्तविकता है। इसी प्रकार प्रमेयत्व अर्थात् प्रमाण द्वारा प्राप्त स्थिति में भी रमणीयता नहीं मानी जाती। यदि कहा जाय कि 'नीलगाय गाय के समान होती है' तो यहाँ पर भी पमा अलंकार न होगा। क्योंकि नीलगाय के लिए गाय शब्द प्रमाण होकर आया है, चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं। इसी प्रकार विभावना, परिवृत्ति, विरोध आदि कई अलंकार ऐसे हैं जिनमें चमत्कार कवि-कल्पना द्वारा माना जाता है। तात्पर्य यह कि काव्यगत चमत्कार विशेष प्रकार के कथन में ही होता है। सभी अलंकारों में अनुस्यूत यह अतिशयोक्ति 'अतिशयोक्ति' नाम के अलंकार से पृथक् है।[1]

औचित्य-संप्रदाय

ठीक इसी प्रकार यह भी दिखाने का प्रयत्न किया गया कि काव्य में रमणीयता का कारण औचित्य है। प्राचीनों ने कहा कि रसभंग का प्रसंग अनौचित्य के कारण उपस्थित हुआ करता है इसलिए काव्य का वास्तविक महत्त्व औचित्य पर निर्भर है[2]। इसी औचित्य का विस्तृत विवेचन क्षेमेंद्र ने किया। उन्होंने विस्तार के साथ यह बताया कि ध्वनि, रस, अलंकार आदि से जो विलक्षणता उत्पन्न होती है वह और कुछ नहीं काव्यगत औचित्य ही है।[3] जहाँ औचित्य खंडित होता है वहाँ काव्य सदोष दिखाई देता है। वह काव्य नहीं रह जाता। इस प्रकार प्रमाणित हुआ कि काव्य का मूल तत्त्व औचित्य ही है।

आज दिन विदेशों में काव्य के संबंध में जो नए नए 'वाद' उठ रहे हैं उनसे यहाँ के बहुत से लोग विशेष अभिभूत दिखाई देते हैं।

---

१ न त्वतिशयोक्त्यलंकारोऽत्र विवक्षितः। तस्यात्रासंभवात्। —उद्योत।

२ अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

३ औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्॥—औचित्यविचारचर्चा।

किंतु यदि संस्कृत के इन प्राचीन वादों का अनुशीलन किया जाय तो पता चलेगा कि इस प्रकार के विलक्षणता-प्रदर्शक कितने ही 'वाद' संस्कृत में बहुत पहले ही किसी न किसी रूप में उठ चुके हैं। नई रंगत के पाश्चात्य समीक्षक वर्ण्य विषय को ही अस्वीकृत करते जा रहे हैं, किंतु प्राचीन भारतीय वादों में वर्ण्य वस्तु (मैटर) का एकदम निषेध नहीं किया गया है। कुंतक के वक्रोक्तिवाद और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है।

पाश्चात्य समीक्षा

काव्य और कला

पाश्चात्य समीक्षा में काव्य कला (आर्ट) माना गया है। कला दो रूपों में दिखाई देती है। एक को उपयोगी कला और दूसरी को ललित (फाइन) कला कहते हैं। जीवन को चलाने के लिए स्थूल रूप में जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है उनके निर्माण का शिल्प उपयोगी कला के अंतर्गत आता है; जैसे—बढ़ई, लोहार, सोनार, कुम्हार आदि का शिल्प। उपयोग में आनेवाली वस्तुओं में उनका व्यवहारक्षम होना प्रधान माना जाता है, उनकी बनावट पर गौण दृष्टि रहती है। किंतु कुछ कलाएँ ऐसी भी देखी जाती हैं जिनकी स्थूल उपयोगिता वैसी नहीं हुआ करती। इन कलाओं में उनका सौंदर्य ही प्रधान हुआ करता है, उनकी उपयोगक्षमता का उतना विचार नहीं रखा जाता अर्थात् उनमें सौंदर्य प्रधान और उपयोग गौण हुआ करता है। ऐसी कलाओं का संबंध स्थूल शरीर से न होकर मन से होता है। इसीलिए कहा गया है कि ललित कला मानसिक दृष्टि से सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण है। ललित कलाएँ पाँच या छः मानी गई हैं—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, अभिनयकला और काव्यकला।[1] इन सभी कलाओं में काव्यकला सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। पाश्चात्य समीक्षकों की दृष्टि में

---

१ देखिए वर्सफोल्ड का 'जजमेंट इन लिटरेचर'।

जिस कला में स्थूल वस्तु का उपयोग करके सौंदर्यानुभूति उत्पन्न करने का प्रयास अधिकाधिक देख पड़े वह निकृष्ट और जिसमें वह क्रमशः न्यून होता जाय वह तारतम्य के अनुसार उत्कृष्ट है। इस प्रकार सबसे निकृष्ट वास्तुकला और उससे क्रमशः उत्कृष्ट मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकला हुई। क्योंकि इनमें क्रमशः स्थूलता कम होती और सूक्ष्मता बढ़ती जाती है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाओं में से जिस कला में मूर्त पदार्थ का अधिकाधिक परिमाण में ग्रहण हो वह निकृष्ट होती है। मूर्त पदार्थ में केवल परिमाण ही नहीं लंबाई, चौड़ाई और मोटाई भी होती है। इनमें से चित्रकला में मोटाई का अभाव हो जाता है। इसलिए वह वास्तुकला और मूर्तिकला से श्रेष्ठ समझी जाती है। कलाग्राहक की दृष्टि से विचार करें तो कुछ कलाएँ नेत्र द्वारा आनंद देती हैं और कुछ श्रोत्र द्वारा। वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला नेत्र द्वारा आनंद देनेवाली हैं। संगीतकला श्रोत्र द्वारा आनंद देती है। किंतु काव्यकला नेत्र और श्रवण दोनों से आनंद देती है। भारतीय साहित्य में तो काव्य के इसी दृष्टि से दृश्य और श्रव्य भेद भी कर लिए गए हैं। संगीत में सुकंठ व्यक्ति की आवश्यकता होती है। सुकंठ के अभाव में कोई वाद्ययंत्र उसकी पूर्ति करता है। किंतु कविता के लिए वस्तुतः न सुकंठ होने की आवश्यकता है न किसी वाद्ययंत्र की। यह दूसरी बात है कि इन विशेषताओं के आ जाने से काव्य का प्रभाव और बढ़ जाय।

काव्य और कला का जैसा संबंध पाश्चात्य देशों में माना जाता है वैसा हमारे यहाँ नहीं। यहाँ 'कला' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत होता है—संगीत और शिल्प।[1] काव्य न संगीत के अंतर्गत आता है न शिल्प के। इसलिए वह कलाओं से सदा पृथक् ही रखा गया है। कामशास्त्र में जिन ६४ कलाओं का वर्णन है उनमें केवल 'समस्यापूर्ति' ही कला मानी गई है। समस्यापूर्ति को चाहे इधर कम महत्त्व दिया जाय

---

१ कला शिल्पे संगीतभेदे च। —अमरकोश।

किंतु उसका जोड़-तोड़ मिलाने में हिंदी के बहुत से कवि प्राचीन समय में संलग्न रह चुके हैं। उनके ऐसे प्रयत्न के अनंतर भी समस्यापूर्ति महत्त्वपूर्ण स्थान न पा सकी। अब तो धीरे धीरे उसका प्रचलन बंद ही हो जाना चाहता है। तात्पर्य यह कि काव्य को साधारण कोटि की कारीगरी से यहाँ वाले सदा पृथक् रखते आए हैं।

सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति

हमारे यहाँ के समीक्षकों की दृष्टि बहुत ही स्वच्छ और समीचीन रही है। क्योंकि यदि काव्यकला को छोड़कर ललित कला के नाम से प्रख्यात अन्य कलाओं का अभाव देखें तो स्पष्ट जान पड़ता है कि वे कलाएँ केवल सौंदर्यानुभूति उत्पन्न करनेवाली हैं। वास्तुकला की कोई कृति देखकर केवल उसके सौंदर्य की प्रशंसा की जा सकती है, उसके द्वारा प्रदर्शित भाव में मग्न नहीं हुआ जा सकता। मूर्ति को देखकर मूर्तिकार की कला की प्रशंसा मात्र की जायगी। मूर्ति द्वारा जो भाव व्यक्त किया गया है उस भाव में दर्शक मग्न हो इसकी संभावना नहीं। सिंह की सुंदर एवं सजीव मूर्ति देखकर लोग यही कहते हुए सुने जाते हैं कि वाह! कारीगर ने कैसी सुंदर मूर्ति बनाई है। सिंह की मूर्ति से भय एक तो उत्पन्न ही नहीं होता और यदि होता भी है तो क्षणिक या बालकों वा बालबुद्धिवालों में ही। इस प्रकार न इसमें स्थायित्व होता है न रमणीयता। यही बात चित्रकला के संबंध में भी कही जा सकती है। रही संगीतकला—यह कला अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए काव्य का सहारा बराबर लेती है। इसलिए शुद्ध संगीतकला या तो उस्तादों की गलेबाजी होगी अथवा वाद्यों की गत। संगीत में गायन, वादन और नर्तन का ग्रहण होता है। गायन और वादन की बात बताई जा चुकी। नर्तन में शुद्ध कला हाव-भाव मात्र है। इन सबकी प्रशंसा ही हुआ करती है। कोई दर्शक या श्रोता उस भाव में तब तक मग्न नहीं हो सकता जब तक काव्य भी उसका साथ न दे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन कलाओं से दर्शक या श्रोता को केवल सौंदर्यानुभूति होती है,

रसानुभूति नहीं। क्योंकि रसानुभूति में मग्न होनेवाला उसी भाव में मग्न होता है जो काव्य में प्रदर्शित या व्यंजित होता है। रसानुभूति कर चुकने के अनंतर वह सौंदर्यानुभूति भी करता है, कवि की प्रसस्ति भी गाता है। यशोगान में वह बाद में प्रवृत्त होता है। इसलिए स्पष्ट है कि काव्यकला को साधारण कोटि की उन कलाओं के साथ घसीटकर उसका गौरव नष्ट किया जा रहा है।

'स्वांतःसुखाय'

काव्य को ललित कलाओं में परिगणित करने से एक गड़बड़ी और उत्पन्न हुई। कहा जाने लगा कि जिस प्रकार अन्य कलाओं की अभिव्यक्ति स्वांतःसुखाय होती है उसी प्रकार काव्य की अभिव्यक्ति भी। उसका दूसरे से अर्थात् पाठक से संबंध जोड़ना समीचीन नहीं। परिणाम यह हुआ कि काव्य में व्यक्तिगत वैचित्र्य बढ़ने लगा, लोकानुभूति की कमी होने लगी। स्वच्छ-दृष्टि-संपन्न कुछ समीक्षक इस पर विचार करने लगे हैं और उन्होंने यह उद्घोषित किया है कि काव्य केवल व्यक्तिगत रचना नहीं है, वह दूसरों से अर्थात् लोक से संबद्ध है। भारत में यह बात प्राचीन काल से मानी जाती रही है कि कविता का संबंध कवि के अतिरिक्त पाठक से भी है और कविता करते समय उसका विचार भी रखना आवश्यक है। यहाँ के कुछ कच्चे समालोचक तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' में 'स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा' देखकर कहने लगे हैं कि तुलसीदासजी ने भी कविता केवल अपने अंतःकरण के रंजनार्थ की थी। यह है वह विलायती चश्मा जो अपनी ही रंगत में देखने देता है। तुलसीदासजी तो उसी 'रामचरित-मानस' में आगे चलकर स्पष्ट लिखते हैं—

मनि-मानिक-मुकुता-छबि जैसी। अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी॥
नृप-किरीट तरुनी-तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकबि-कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥

कविता उत्पन्न होती है अन्यत्र और उसकी शोभा होती है अन्यत्र

अर्थात् काव्य की उत्पत्ति कवि के हृदय में होती है और उसका आस्वाद लेनेवाला पाठक का हृदय हुआ करता है। इतना ही नहीं उन्होंने यहाँ तक लिखा—

जो कवित्त नहिं बुध आदरहीं। सो स्रम बादि बालकबि करहीं॥

यदि कविता सहृदयों द्वारा आदृत न हुई तो उसकी रचना ही व्यर्थ है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदासजी ने भारत की काव्य-परंपरा के अनुसार काव्य-रचना लोक के लिए ही की थी। दूसरे शब्दों में वह 'स्वांतःसुखाय' न होकर 'परांतःसुखाय' थी। वे रचना सबके कल्याण के उद्देश्य से ही कर रहे थे। वे स्पष्ट कहते हैं—

'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि-सम सब कहँ हित होई॥

काव्य और सदाचार

काव्य को कला के साथ जोड़ने से यह भी कहा जाने लगा कि उसका सदाचार से नित्य संबंध नहीं। काव्य का उद्देश्य उपदेश देना नहीं। वह केवल मनोरंजन करने के लिए है। पाश्चात्य समालोचकों में भी पहले अरस्तू आदि मानते थे कि काव्य का सदाचार से नित्य संबंध है। किंतु ज्यों ज्यों काव्य कला से अधिकाधिक जुड़ता गया त्यों त्यों यह घोषणा की जाने लगी कि उसका सदाचार से शाश्वत संबंध नहीं। ऐसे समीक्षक कहते हैं कि क्या काव्य आचारशास्त्र है कि उसमें आचार और नीति का उपदेश देना आवश्यक हो। उनका यह तर्क उचित नहीं दिखाई देता। वस्तुतः जिस बात पर उनकी दृष्टि जानी चाहिए थी उस पर गई नहीं। यदि काव्य-रचना का चरमोद्देश्य लोकोपदेश होता तो पद्यबद्ध आचारशास्त्र के ग्रंथ काव्य ही कहे जाते। 'चाणक्यनीति' को किसी ने काव्य-ग्रंथ नहीं माना। इस संबंध में भारतीय समीक्षकों की दृष्टि बहुत ही परिष्कृत दिखाई देती है, जिसका विचार पहले किया जा चुका है।

कुछ नई रंगत के समीक्षक यह भी समझते हैं कि पाश्चात्य देशों में काव्य और सदाचार के संबंध पर जैसा विचार किया गया वैसा

यहाँ हुआ ही नहीं। ऐसे लोगों का भ्रम दूर करने के लिए यह कह देना आवश्यक है कि शास्त्रीय ग्रंथों में इस बात का विचार 'रसाभास' के प्रकरण में अपेक्षाकृत विशेष विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ भी ध्यान देने की बात यही दिखाई देती है कि उन लोगों ने सहृदयों को ही कसौटी माना है। जिन प्रसंगों के पढ़ने से सहृदयों को उद्वेग हो वे प्रसंग दोषयुक्त माने गए हैं। रसाभास का प्रकरण सहृदयों के लिए उद्वेगजनक होता है इसलिए वह काव्याभास मात्र है। पाश्चात्य देशों में और वहाँ के अनुकरण पर भारत की विभिन्न भाषाओं में तथा हिंदी की नवीन काव्यधारा में इस प्रकार की काव्याभास रचनाओं का प्रवाह बढ़ता जा रहा है। वहाँ तो रोकछेंक आरंभ हो चुकी है किंतु यहाँ अभी वैसी तत्परता नहीं दिखाई देती। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की बाढ़ में लोकानुबद्ध आदर्श नष्ट होता जा रहा है।

काव्य और रमणीयता

काव्य की प्रक्रिया दो के बीच चलती है—कवि और पाठक के। पाश्चात्य समीक्षकों का कहना है कि कवि के हृदय पर जीवन या जगत् का जो प्रभाव पड़ता है उससे प्रेरित होकर वह अपनी अंतर्वृत्ति काव्य-रचना के रूप में उपस्थित करता है। उन्होंने बतलाया है कि कवि दो प्रकार की स्थितियों में से होकर काव्य-रचना तक पहुँचता है। पहली स्थिति अनुभूति की होती है।[1] जब तक कवि किसी अनुभूति में संलग्न रहता है तब तक वह किसी प्रकार की रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकता। क्योंकि अनुभूति में मग्न रहने के कारण उसकी प्रज्ञा क्रियमाण नहीं रहती। अनुभूति से पृथक् होने के अनंतर स्मृति के रूप में वह अनुभूति रह जाती है और उस अनुभूति को व्यक्त करने के लिए सहायक के रूप में प्रज्ञा स्फुरित होती है। इन्हीं दोनों के योग से काव्य-रचना हुआ करती है। कवि की प्रज्ञा दो प्रकार के कार्य करती है। एक ओर तो वह

---

१ देखिए अबरक्राँबी का 'प्रिंसिपुल्स् आव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म'।।

अनुभूति को यथातथ्य व्यक्त करने में प्रवृत्त रहती है और दूसरी ओर प्रेषणीयता (कम्युनिकेबिलिटी) लाने का प्रयत्न करती है। क्योंकि कवि अपनी उन बातों को पाठक के हृदय तक पहुँचाना भी चाहता है। पाठक जिस समय काव्य-रचना पढ़ता है उस समय इसका क्रम विपर्यस्त होकर संघटित होता है अर्थात् पाठक अपनी प्रज्ञा के द्वारा पहले काव्यार्थ का ग्रहण करता है तदुपरांत वह उस अनुभूति तक पहुँचता है जिसकी प्रेरणा से कवि ने रचना प्रस्तुत की है। अनुभूति के स्वरूप को व्यक्त करने के संबंध में उनका मत यह है कि कवि जीवन या जगत् से जो अनुभूतियाँ प्राप्त करता है वे तीन गुणों से विशिष्ट होती हैं—सत्यता, शिवता और सुंदरता। सत्यता अनुभूति का वह गुण है जो उसकी सत्ता को प्रमाणित करता है, शिवता वह गुण है जो उसकी उपयोगिता सिद्ध करता है और सुंदरता वह गुण है जो आकर्षण उत्पन्न करता है। अनुभूति की सत्यता और सुंदरता उसके आभ्यंतर गुण हैं और सुंदरता बाह्य। कवि इसी बाह्य गुण के कारण प्रभावित और उसमें मग्न होता है। पाठक भी इसी बाह्य गुण से आकृष्ट और मग्न होता है। इसलिए अंततोगत्वा सौंदर्य ही काव्य का चरम लक्ष्य दिखाई देता है। इस सौंदर्य के साथ साथ सत्यता और शिवता का योग भले ही हो जाय पर जो प्रत्यक्ष रहता है वह सौंदर्य ही है। इसी आधार पर पाश्चात्य समीक्षक यह मानते हैं कि काव्य से जो अनुभूति पाठक को होती है वह सौंदर्यानुभूति है। किंतु काव्य की अनुभूति यदि सौंदर्यानुभूति मात्र मानी जाय तो वह मूर्तिकला आदि की ही भाँति सामान्य कोटि की ठहरेगी। विचार करने से जान पड़ता है कि पाठक केवल काव्य के सौंदर्य पर मुग्ध होकर नहीं रह जाता प्रत्युत वह उन भावों में रमता चलता है जो काव्य में व्यक्त किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में वह काव्य का रस लेता है। इसीलिए भारतीय समीक्षक बराबर कहते आए हैं कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' अर्थात् वह वाक्य जो अपने में रमाने की शक्ति रखता हो काव्य है। इसी को स्पष्ट शब्दों में यों भी कहा गया है कि 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यं' अर्थात् रमणीय (रमने योग्य) अर्थ का

शब्द द्वारा जिसमें आनयन हो वही काव्य है। इस प्रकार काव्य की सर्वप्रधान विशेषता 'रमणीयता' ठहरती है न कि श्लाघनीयता। काव्य को केवल सुंदर कह देने से उसका महत्त्व बहुत कुछ नष्ट हो जाता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि काव्य की प्रक्रिया में पाठक का मन दो स्थितियों में से संचरण करता है। पहली स्थिति वह होती है जिसमें वह भावमग्न होता है और दूसरी वह जिसमें पहुँचकर वह काव्य की प्रशस्ति गाता है। पाश्चात्य देशों में सौंदर्यानुभूति मान लेने से केवल दूसरी ही स्थिति सामने आती है। ध्यान देने की बात यह है कि जो सहृदय नहीं है वह भी दूसरी स्थिति का स्वाँग रच सकता है। किंतु पहली स्थिति जिसमें उत्पन्न होगी वह केवल अपना स्वाँग बनाने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि रसानुभूति के लक्षण जब तक उसमें व्यक्त न होंगे तब तक वह 'सहृदय' नहीं कहा जा सकता। रसानुभूति में लक्षण भी वे ही व्यक्त होते हैं जो भावानुभूति या काव्यगत पात्र की प्रत्यक्षानुभूति में होते हैं। भावों की जो चेष्टाएँ पाठकों में उत्पन्न हुआ करती हैं वे चेष्टाएँ वे ही होती हैं जो काव्य के पात्र में कवि द्वारा उत्पन्न या प्रदर्शित की गई हैं। यही कारण है कि करुणरस में भी उसकी वे चेष्टाएँ व्यक्त होती हैं और पाठक पात्र के साथ तादात्म्य का अनुभव करके रो उठता है। यदि केवल सौंदर्यानुभूति मानी जाय तो पाठक के रोने का कोई महत्त्व नहीं। इसी लिए यह पहले ही कहा जा चुका है कि पाश्चात्य देशों में जैसे जीवन के अन्य पक्षों में वैसे ही काव्यशास्त्र में भी प्रायोगिक अवस्था ही दिखाई दे रही है। वे लोग भी अपने स्वच्छंद अन्वेषण द्वारा इस संबंध में उतनी ऊँचाई तक नहीं पहुँच सके हैं जितनी ऊँचाई तक भारतीय समीक्षक बहुत पहले ही पहुँच चुके हैं। यहाँ का समीक्षा-शास्त्र पुष्ट आधार पर स्थित है और उसमें उन उन प्रमुख बातों का विचार किया जा चुका है जिन तक वहाँ के प्रौढ़ समीक्षक धीरे धीरे पहुँचने लगे हैं। यदि रस की प्रक्रिया उनके यहाँ पहले से गृहीत होती तो उन्हें इस प्रकार द्राविड़ प्राणायाम

न करना पड़ता। रिचर्ड्स और अबरक्रौंबी के ग्रंथों को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि वे रस तक मार्ग पाने के लिए भटक रहे हैं।

काव्य और प्रातिभ ज्ञान

पाश्चात्य आलोचना में कुछ दिनों से प्रातिभ ज्ञान (इंट्यूशन) की चर्चा विशेष सुनने में आ रही है। काव्य की प्रक्रिया में कल्पना का विशेष स्थान मानकर प्रातिभ ज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित किया जा रहा है। कहा जाता है कि यह ज्ञान स्वयं बोधस्वरूप है और सब प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है। प्रातिभ ज्ञान को काव्य का मूल माननेवाले कहने लगे हैं कि काव्य में न तो वस्तु का महत्त्व है और न भावों का। वस्तु का महत्त्व इसलिए नहीं कि इसके प्रतिपादकों ने आकृति को ही सब कुछ मान लिया है। उनका कहना है कि जगत् की जितनी वस्तुओं का संस्कार हृदय पर पड़ता है वे आकृति मात्र होती हैं और आकृति प्रातिभ ज्ञान के साँचे में ढलकर कल्पना का रूप ग्रहण कर लेती है। इसलिए काव्य के तीन उपादान वस्तु, आकृति और कल्पना में से केवल दो ही का महत्त्व है। आकृति भी कल्पना के साथ मिलकर एकाकार हो जाती है और वही अभिव्यंजना के रूप में व्यक्त होती है।[1] भावों को काव्य के क्षेत्र से हटाने का तर्क इन लोगों के पास इतना ही है कि भावों की अनुभूति सुखात्मक और दुःखात्मक होती है किंतु काव्यानुभूति केवल सुखात्मक अथवा आनंद-स्वरूप ही हो सकती है। उनके अनुसार यदि काव्य में भावों का भी योग होता तो काव्यानुभूति भी दो प्रकार की होती। जब यह अनुभूति एक ही प्रकार की होती है तो निश्चित है कि इसमें भावों का योग नहीं है। पहले यह बतलाया भी जा चुका है कि काव्यानुभूति और भावानुभूति में कोई अंतर नहीं है। भावानुभूति या प्रत्यक्षानुभूति जिस प्रकार सुखात्मक या दुःखात्मक होती है उसी प्रकार काव्यानुभूति भी। केवल अंतर इतना ही है कि काव्यानुभूति में विशेषत्व का त्याग करना पड़ता-

---

१ देखिए क्रोचे कृत 'एस्थेटिक्स'।

है। काव्य की रचना करनेवाला भी विशेषत्व का त्याग करता है और उसका रस लेनेवाला पाठक भी। तात्पर्य यह कि कवि और पाठक का तादात्म्य स्थापित होता है। यही बात भारतीय शास्त्रों में इस प्रकार कही गई है कि काव्यास्वाद की अवस्था में पाठक की वृत्ति सत्त्वस्थ होती है। काव्य की रचना करते समय कवि की वृत्ति भी सत्त्वस्थ हुआ करती है। रजोगुण और तमोगुण अलग हो जाते या दब जाते हैं। देश और काल की सीमा का उल्लंघन करके कवि और पाठक स्व-निरपेक्ष स्थिति में काव्य की इन प्रक्रियाओं में संलग्न रहते हैं। यही कारण है कि काव्यानुभूति सुखात्मक या आनंदस्वरूप जान पड़ती है। वस्तुतः काव्यानुभूति कवि और पाठक के हृदय में सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों ही रूपों में संघटित होती है। किंतु स्वसंबंध का परित्याग हो जाने के कारण प्रवृत्ति और निवृत्ति की स्थितियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। मन अपनी स्वच्छंद क्रिया में संलग्न रहता है। वह 'मुक्तावस्था' प्राप्त कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि प्रातिभ ज्ञान के आधार पर भावों का काव्य के क्षेत्र से बहिष्कार उचित नहीं।

काव्य न तो केवल बुद्धि की क्रिया है और न केवल हृदय की। उसमें बुद्धि और हृदय दोनों का योग रहता है। यह योग कर्ता में भी होता है और ग्राहक में भी। भारतीय शास्त्रकार इसे मानते आए हैं। इसी लिए उन्होंने 'रसका ज्ञान' या 'रसानुभव' न कहकर उसे 'रस-प्रतीति' नाम दिया है। 'प्रतीति' शब्द से बुद्धि और हृदय दोनों का योग उन्हें मान्य है।

काव्य और कल्पना

पाश्चात्य देशों में आज दिन कल्पना की पुकार बहुत अधिक सुनाई देती है। सबसे पहले यह देखना चाहिए कि काव्य में कल्पना का योग कहाँ तक हुआ करता है। कवि जो कुछ व्यक्त करता है वह अपनी कल्पना के द्वारा ही और काव्य का ग्रहण भी पाठक कल्पना ही द्वारा किया करता है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कवि जो

कुछ व्यक्त करता है वह कोई ऐसी सृष्टि है जिसका संबंध प्रत्यक्ष जगत् से कुछ भी नहीं। कवि के हृदय में जिन काव्यार्थों के व्यक्त करने की प्रेरणा होती है वे काव्यार्थ प्रत्यक्ष जीवन से ही संबद्ध होते हैं। ठीक इसी प्रकार पाठक भी इन काव्यार्थों को जब ग्रहण करता है तो वह भी प्रत्यक्ष जगत् की अनुभूति के कारण ही। भारतीय साहित्यशास्त्र में इसीलिए सामाजिक या पाठक वही माना गया है जो सहृदय हो। 'सहृदय' कहने का तात्पर्य यह है कि उसका हृदय दूसरे हृदयों की अनुभूति ग्रहण करने में समर्थ हो। यदि ऐसा न हो तो काव्य शुद्ध मनोरंजन की वस्तु समझा जायगा। जिस प्रकार खेल-तमाशे मनोरंजन के साधन हैं उसी प्रकार काव्य भी मनोरंजन का साधारण अथवा साधारण से काम न चले तो असाधारण साधन मात्र समझा जायगा। संप्रति पाश्चात्य देशों में कुछ लोग बहुत कुछ ऐसा ही समझ रहे हैं।

काव्य और सौंदर्य

यह कहा जा चुका है कि पश्चिमी देशों में काव्य ललित कला के अंतर्गत माना जाता है। इसकी परिभाषा वे 'मानसिक दृष्टि से सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण' मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि ललित कला में वे प्रधान मानते हैं 'सौंदर्य' को। सौंदर्य की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। इनके अनुसार यह मान लिया गया है कि सौंदर्य व्यक्तिगत होता है, लोकगत नहीं। लोगों का ऐसा कहना कला की दृष्टि से कुछ दूर तक माना भी जा सकता है क्योंकि किसी को कोई वस्तु सुंदर लगती है और किसी को कोई। व्यक्तिवैचित्र्य पर ही दृष्टि रखकर कहा गया है कि 'भिन्न-रुचिर्हि लोकः'। किंतु लोक में रुचि की भिन्नता होते हुए भी एकता अवश्य है। यदि इस प्रकार की एकता न हो तो संसार का कार्य चल ही नहीं सकता। किसी वृक्ष के कुछ पत्तों को ही सामने रखकर देखें तो उन पत्तों में भिन्नता अवश्य दिखलाई देती है। एक पत्ता दूसरे पत्ते से मिलता हुआ नहीं जान पड़ता। फिर भी उनके रूप और रंग में एकता

वर्तमान रहती है। सृष्टि में दिखाई देनेवाले विभिन्न वर्गों के प्राणियों, लता-वीरुध् आदि में सर्वत्र भिन्नता में यही एकता दृष्टिगोचर होती है। जो बाह्य जगत् की स्थिति है वही अंतर्जगत् की भी। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ मानसिक भिन्नता अवश्य पाई जाती है किंतु साथ ही उनकी मानसिक एकता के भी प्रमाण मिलते हैं और भिन्नता की अपेक्षा वह अत्यधिक स्पष्ट और व्यापक है। अपने बच्चों को प्यार करना, जो कष्ट पहुँचाता है उस पर क्रोध करना, विकट कार्य उपस्थित होने पर साहस दिखलाना, असाधारण वस्तु देखकर आश्चर्य प्रकट करना, किसी के विलक्षण वेश-विन्यास पर हँस पड़ना आदि मानसिक स्थितियाँ देश और काल का व्यवधान हटाकर सारे विश्व के मनुष्यों में दिखलाई देती हैं। यदि ऐसा न होता और सचमुच काव्य व्यक्तिगत वस्तु ही होता तो होमर, शेक्सपियर, गेटे, रोमाँ रोल्याँ, मैक्सिम गोर्की आदि की रचनाएँ पूर्वीय देशों के लोगों को रुचिकर प्रतीत न होतीं और इसी प्रकार वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, बाण, भवभूति तुलसी, सूर, रवींद्र-नाथ, प्रेमचंद आदि की रचनाएँ भी पश्चिमी देशों के निवासियों द्वारा कदापि प्रशंसित न होतीं। अतः यह स्पष्ट जान पड़ता है कि काव्य और लोकजीवन में घनिष्ठ संबंध है और कवि तथा पाठक काव्य का निर्माण और ग्रहण करते समय सर्वसामान्य भूमि पर पहुँच जाया करते हैं। जहाँ उनकी व्यक्तिगत सत्ता का लोप हो जाता है और वे दोनों ही साधारण मनुष्य मात्र रह जाते हैं। साधारणीकरण' नाम की जो काव्य की प्रक्रिया भारतीय साहित्य में मानी गई है वह यही है।

इस बात पर विचार करते हुए जब 'सौंदर्य' का विश्लेषण किया जाता है तो इसमें भी सामान्य भूमि दिखाई देती है। टेढ़े मुँह, लंबी गर्दनवाले व्यक्ति चाहे किसी व्यक्ति विशेष को भले ही प्रिय हों किंतु दूसरे लोग तो ऐसे व्यक्तियों को हास्य का ही विषय समझेंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जनता में सौंदर्य का कोई सामान्य आधार है। ठीक यही बात काव्य में भी दिखाई पड़ती है। टेढ़े मुँह के व्यक्ति को यदि कोई प्रेम का आलंबन बनाना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता।

उदाहरणों से स्पष्ट हो गया कि सौंदर्य कोई व्यक्तिगत मानसिक स्थिति नहीं है। यदि कुछ दूर तक वह लोक में व्यक्तिगत रूप में दिखाई भी दे तो भी काव्य में उसका व्यक्तिगत रूप उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकता। मजनूँ को लैला का रूप विशेष प्रिय था। किंतु लैला के काले कलूटे चेहरे का अनुमान करके अधिकतर लोग यही कहते सुने जाते हैं कि मजनूँ न जाने लैला के किस रूप पर लुभाया हुआ था।

काव्य और अध्यात्म

कला और काव्य को व्यक्तिगत वस्तु सिद्ध करने के लिए उस पर आध्यात्मिक रंग भी चढ़ाया जाने लगा है। इस तरह की उक्तियाँ बराबर सुनी जाती हैं कि कला स्वर्गीय संगीत है, उसकी अवतारणा अतींद्रिय जगत् से होती है, वह दिव्य विभूति है, लोक से उसका कोई संबंध नहीं, वह अलौकिक ज्योति है आदि आदि। पाश्चात्य देशों में कुछ दिनों तक इस प्रकार की उक्तियाँ स्वच्छंद रूप से चलती रहीं। कुछ कवि इसी आदर्श को लेकर रचना भी करने लगे किंतु उसका इस रूप में शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ था। इधर इटली के क्रोचे ने 'सौंदर्य-मीमांसा' (एस्थेटिक्स्) नामक पुस्तक लिखकर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि काव्य का मीमांसा की दृष्टि से भी लोक से कोई संबंध नहीं। उन्होंने ज्ञान दो प्रकार के माने हैं। एक को कल्पना-जन्य कहा है और दूसरे को तर्कजन्य। कल्पना-संबंधी ज्ञान को प्रातिभ ज्ञान (इंट्यूशन) माना है। प्रातिभ ज्ञान कल्पना द्वारा उत्पन्न होता है और इससे किसी व्यक्ति अर्थात् किसी विशेष पदार्थ का ही ज्ञान होता है। तर्क-संबंधी ज्ञान को उन्होंने प्रमा (कंसेप्ट) कहा है। यह प्रमा निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान है। इसमें किसी व्यक्ति विशेष का ज्ञान नहीं होता प्रत्युत भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध का ज्ञान होता है। तर्कशास्त्र की शब्दावली में कहें तो प्रातिभ ज्ञान 'व्यक्ति' के संकेत से होता है और प्रमा 'जाति' के संकेत से। इस प्रकार प्रातिभ ज्ञान में बुद्धि की क्रिया का लेश भी नहीं है। यह मन में स्वतः उद्भूत

मूर्त भावना है जिसकी वास्तविकता अथवा अवास्तविकता का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस मूर्त भावना या कल्पना को आत्मा की अपनी क्रिया समझना चाहिए। जिसमें संसार के रूपों एवम् व्यापारों का उपादान के रूप में प्रयोग हुआ करता है। आत्मा को द्रव्य की प्रतीति हुआ करती है। वह उन द्रव्यों का निर्माण करने में समर्थ नहीं। आत्मा की उक्त क्रिया आध्यात्मिक वस्तु है, इसी लिए वह सदा स्थिर और एकरस दिखाई देती है। प्रश्न होगा कि भिन्न भिन्न प्रकार के काव्य फिर क्यों दिखाई देते हैं। उत्तर होगा कि वह भिन्नता बाहरी है अर्थात् उपादानरूप द्रव्यों के कारण दिखाई देती है। वस्तुतः आत्मा की वह क्रिया अखंड और एक रूप है। उसमें आंतरिक भेद कोई नहीं। कल्पना रूप के सूक्ष्म साँचे निर्मित किया करती है। उपादान या द्रव्य कल्पना के उसी साँचे में ढलकर व्यक्त हुआ करता है। इसलिए काव्य के क्षेत्र में जो कुछ महत्त्व है वह कल्पना के उसी सूक्ष्म साँचे या आकृति (फार्म) का, उस साँचे में ढाले जानेवाले द्रव्य या उपादान (मैटर) का नहीं। कला के क्षेत्र में उपादान या सामग्री को महत्त्व की वस्तु समझना ठीक नहीं। सौंदर्य का मूल तत्त्व है आकृति, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

"पूर्वोक्त साँचे में बैठकर प्रातिभ ज्ञान का प्रकट होना ही कल्पना है और इस कल्पना का ही व्यक्त रूप है अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन), जो भीतर ही भीतर उठती है और कभी रंग द्वारा, कभी शब्द द्वारा और कभी ऊँचाई, मोटाई, एवं लंबाई द्वारा बाहर व्यक्त हो जाती है। यदि भीतर अभिव्यंजना जगी है तो वह बाहर भी प्रकाशित होगी। यह कहना कि किसी कवि के हृदय में भावनाएँ तो उठती हैं किंतु वह उन्हें व्यक्त करने में असमर्थ है, ठीक नहीं। ऐसी स्थिति में यह समझ लेना चाहिए कि उस कवि के हृदय में अभिव्यंजना उठी ही नहीं। कविता के कुछ उदाहरणों से सर्वसामान्य लक्षण ढूँढ़कर काव्य की परिभाषाएँ गढ़ना भी ठीक नहीं। यह व्यंजना अखंड और एकरस है। इसलिए शास्त्रों में अलंकृत, प्रकृत (रियलिस्टिक), प्रतीकबद्ध (सिंबॉलिकल),

बाह्यार्थनिरूपक (ऑब्जेक्टिव), स्वानुभूतिप्रदर्शक (सब्जेक्टिव) आदि जो काव्य के विविध भेद किए गए हैं वे स्थूल दृष्टि से और काव्य को केवल ऊपर ही ऊपर से देखने के कारण। किंतु बड़े आश्चर्य की बात है कि आगे चलकर क्रोचे ने अभिव्यंजनाओं में सजातीय सादृश्य (फेमिली लाइकनेस्) स्वीकार किया है। जो अखंड और एकरस होगा वह ब्रह्म की भाँति सजातीय, विजातीय, स्वगत आदि भेदों से रहित होगा[1]। सजातीय की बात उठाना भेद को स्वीकार करना ही है। क्रोचे ने अलंकारों को शोभा के लिए ऊपर से चिपकाई हुई वस्तु मात्र कहा है। अभिव्यंजना या उक्ति में अलंकार चिपक किस प्रकार सकता है ? यदि बाहर से चिपका हुआ कहा जाय तो वह सदा उक्ति से अपनी पृथक् सत्ता बनाए रहेगा और यदि भीतर से उसका चिपकना माना जाए, तो वह उक्ति का अंग ही होगा[2]। इसी बात पर विचार करके वामनाचार्य ने 'काव्यालंकारसूत्र' में अलंकारों को काव्य का अविच्छेद्य तत्त्व माना है। पीयूषवर्षी जयदेव ने अपने 'चंद्रालोक' में अलंकार को काव्य का वैसा ही नित्य धर्म माना है जैसा अग्नि का नित्य धर्म-उष्णता। वे तो अलंकारों को कटककुंडलादिवत् काव्य का आभूषण माननेवालों पर बहुत अधिक रुष्ट हो गए हैं।

अलंकार, रस आदि के भेदोपभेदों को क्रोचे ने तर्क या शास्त्र में सहायक होनेवाला विधि मात्र कहा है। इनका महत्त्व वैज्ञानिक समीक्षा में हो सकता है, सौंदर्यगत या कलागत समीक्षा में नहीं। इस प्रकार उसका कहना है कि काव्य-संबंधी अनुभति उस प्रकार की अनुभूति नहीं है जिस प्रकार की सुखदुःखात्मक अनुभूति हुआ करती है। रति, क्रोध, शोक आदि की जो रसात्मक अनुभूति मानी जाती है वह भी ठीक नहीं। रसवादियों के अनुसार रसानुभूति वास्तविक अनुभति से

---

१ वृक्षस्य स्वगता भेदाः पत्रपुष्पफलादिभिः ।
वृक्षान्तरे सजातीयो विजातीयः शिलादितः ॥—पंचदशी

२ देखिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इंदौरवाला भाषण ।

इस बात में विलक्षण होती है कि वह निःस्वार्थ और निर्लिप्त होती है। इस प्रकार का भेद करना व्यर्थ है। किसी समय लोगों ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से शब्द लेकर कलासमीक्षा के क्षेत्र में सत्यं, शिवं, सुंदरं (दि ट्रू, दि गुड एंड दि ब्यूटीफुल) का राग अलापा, पर वह समय लद चुका है।

काव्य की अलौकिकता

यहीं इस बात का विचार भी कर लेना चाहिए कि भारतीय रस-वादियों की 'अलौकिकता' क्या है। काव्य को अलौकिक कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि काव्यानुभूति प्रत्यक्षानुभूति से वस्तुतः कोई इतर अनुभूति है। क्योंकि शास्त्रकारों ने रस के संबंध में विभिन्न प्रकार के मतों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट कहा है कि पाठक को जो अनुभूति हुआ करती है वह अनुभूति वही है जो काव्य के पात्र द्वारा व्यंजित की जाती है। उन्होंने इस प्रश्न का भी उत्तर दे दिया है कि पाठक के हृदय में इस प्रकार की अनुभूति आती कहाँ से है। संस्कार-जन्य वासना के रूप में पाठक या दर्शक के हृदय में अनुभूतियाँ संचित होती रहती हैं और नाटक देखने या काव्य पढ़ने के पूर्व उनके हृदय में दबी पड़ी रहती हैं। काव्यार्थों के प्रदर्शन या अनुशीलन से वे ही उद्बुद्ध हो जाया करती हैं। यह तो हुई लौकिक बात। फिर उन लोगों ने काव्यगत आस्वाद को अलौकिक कहा क्यों? इसका उत्तर यह है कि काव्यानुभूति प्रत्यक्षानुभूति होते हुए भी कुछ परिष्कृत रूप में अवश्य होती है। लोक में इस प्रकार की अनुभूति साधारणतया नहीं देखी जाती। इसीलिए काव्यानुभूति या रसानुभूति को प्रत्यक्षानुभूति से पृथक् करने के लिए उसे 'अलौकिक' कह दिया गया है। अलौकिक विशेषण से या ब्रह्मानंदसहोदरत्व के साहचर्य से इसे कोई आध्यात्मिक या दूसरे लोक की अनुभूति समझना ठीक नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि शास्त्रों में 'अलौकिक' या 'ब्रह्मानंदसहोदर' शब्द केवल रसानुभूति की स्थिति और प्रक्रिया समझाने के लिए प्रयुक्त

हुए हैं, उसे प्रत्यक्षानुभूति से एकदम पृथक् घोषित करने के लिए नहीं।

शास्त्रकारों ने बतलाया है कि जिनमें संस्कारजन्य वासनाएँ नहीं होतीं वे काव्यानुभूति का आस्वाद नहीं ग्रहण कर सकते। इसका तात्पर्य यही है कि जिनमें प्रत्यक्ष जीवन की सुखदुःखात्मक अनुभूतियाँ नहीं हुई रहतीं वे काव्य की परिष्कृत अनुभूति नहीं कर सकते अर्थात् प्रत्यक्षानुभूति और रसानुभूति का अभेद भारतीय शास्त्रकारों को मान्य था।

काव्य और व्यक्ति

अब क्रोचे की वह बात लीजिए जिसके अनुसार वह कलासंबंधी ज्ञान में व्यक्ति के संकेतग्रह को प्रधान मानता है। नैयायिकों के अनुसार संकेतग्रह जाति का हुआ करता है, व्यक्ति का नहीं। क्योंकि यदि व्यक्ति का संकेतग्रह हो तो जिस व्यक्ति का संकेतग्रह होगा उसके अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति में संकेतग्रह हो ही नहीं सकता। अतः वे लोग उपाधि में संकेतग्रह मानते हैं। किंतु पुराने साहित्य-मीमांसकों ने यह बात स्वीकृत की है कि क्रियाकारिता और प्रवृत्ति-निवृत्ति की योग्यता व्यक्ति ही में होती है। काव्य में व्यक्ति से जाति की ओर अथवा विशेष से सामान्य की ओर कवि ले जाता है और पाठक जाता है। तात्पर्य यह कि काव्य में व्यक्ति के महत्त्व को उन लोगों ने अस्वीकृत नहीं किया है। 'साधारणीकरण' नाम की काव्य-प्रक्रिया भी यही बात बतलाती है। व्यक्ति या विशेष से जाति या साधारण की कोटि तक पहुँचाना ही काव्य का लक्ष्य है। इसलिए क्रोचे ने जो बात अपने सौंदर्य-शास्त्र में उठाई उस पर भी यहाँ के मीमांसक पहले ही विचार कर चुके हैं और विचार करने के अनंतर उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति की अभिव्यक्ति के लिए जाति नहीं है, प्रत्युत व्यक्ति से जाति की अभिव्यक्ति होती है। दूसरे शब्दों में जाति को सामने रखकर व्यक्ति तक आने की आवश्यकता नहीं। व्यक्ति की उपाधि के आधार पर जाति को लक्षित करने की आवश्यकता है।

काव्य का सौंदर्य

क्रोचे ने सौंदर्य का भी विलक्षण अर्थ लगाया है। उसका कहना है कि वास्तविक वस्तु अथवा काव्य की वर्ण्य वस्तु में सौंदर्य नहीं हुआ करता, सौंदर्य होता है उसकी अभिव्यंजना में अर्थात् उक्ति में[1]। ऐसी स्थिति में दृश्य जगत् की शोभा की उन बातों का कारण, जो लोगों के उद्गारों में सुनी जाती हैं, संस्कार है। बहुत दिनों से लोग जिन्हें सुंदर कहते चले आ रहे हैं उन्हें सुंदर कहने का संस्कार पड़ गया है। यदि ऐसा संस्कार से होता है तो संस्कारों को मार डालनेवाले संसार से विरक्त महात्माओं के हृदय में प्रकृति की विभूतियाँ सुंदर रूप में कभी भी उद्भासित न होनी चाहिए। किंतु देखा जाता है कि वे साधु-महात्मा भी प्रकृति की वही सुंदरता लक्षित करते हैं जो संसारी अथवा कवि लोगों में देखी जाती है। अतः सुंदरता या कुरूपता वस्तु का ही धर्म प्रतीत होता है, हृदय की कोई संस्कारजन्य वृत्ति नहीं।

काव्यगत आनंद

इसके साथ ही क्रोचे ने काव्यगत आनंद को सब प्रकार के आनंदों से विलक्षण कहा है। सुख और दुःख की अनुभूतियाँ काव्य में आनंद-मय ही प्रतीत होती हैं। इसका कारण सौंदर्यशास्त्र के विधायक काव्य-गत अनुभूति का अनुभूत्याभास (अपेरेंट फीलिंग्स्) होना मानते हैं। इसके अनुसार काव्यगत अनुभूति वेगवती नहीं हुआ करती। इस संबंध में पहले कहा जा चुका है कि काव्य के पाठक या श्रोता के समक्ष प्रत्यक्ष कोई आलंबन नहीं रहता; इससे देखने में अनुभूति का वेग कम प्रतीत होता है, पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। स्वानुभूति और काव्या-नुभूति के वेग में अंतर नहीं पड़ता। नाटक के दर्शकों से यह बात प्रमाणित हो जाती है। करुणात्मक प्रसगों में लोग अश्रुधारा बहाते

---

[1] कुंतक भी कह चुके हैं—'वस्तुमात्रं च शोभातिशयशून्यं न काव्यव्यप-

और विलाप करते देखे जाते हैं। सहृदयों का हृदय ही इसका साक्ष्य है। उनके अनुसार काव्य की अनुभूति में वैसा ही वेग होता है जैसा वास्तविक अनुभूति में। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के कथनों को समझ के फेर के अतिरिक्त और क्या माना जा सकता है।

काव्य की अभिव्यंजना

क्रोचे ने यह भी कहा है कि सामान्यतया कलाकारों के शब्द, स्वरों या आकारों को ही लोग अभिव्यंजना समझा करते हैं। किंतु विचार करने से ये अभिव्यंजनाएँ कला की नहीं, भौतिक जगत् की जान पड़ेंगी। उसके अनुसार अनेक प्रकार की उग्र चेष्टाओं से युक्त क्रोध से व्यग्र व्यक्ति में और कला की वही योजना करनेवाले व्यक्ति में बहुत अंतर है। कला की अभिव्यंजना तो आध्यात्मिक क्रिया है। शब्द, वर्ण, रूप, चेष्टा आदि तो उस आध्यात्मिक वस्तु को प्रकाशित करनेवाली भौतिक अभिव्यंजना मात्र हैं। कला की अभिव्यंजना का क्रम इस प्रकार देखा जाता है—

(१) मनःसंस्कार (इंप्रेशन)

(२) अभिव्यंजना अर्थात् कला-संबंधी आध्यात्मिक योजना अथवा कल्पना (एक्सप्रेशन ऑर स्पिरिचुअल एस्थेटिक सिंथेसिस)

(३) सौंदर्य-भावना से उद्भूत आनुषंगिक आनंद (हिडोनिस्टिक अकंपनीमेंट ऑर प्लेज़र ऑव् दि ब्यूटीफुल)।

(४) कला-संबंधी आध्यात्मिक वस्तु (कल्पना) की स्थूल भौतिक आकृतियों में अवतारणा (शब्द, स्वर, चेष्टा, वर्ण आदि)।

क्रोचे का कहना है कि इस प्रक्रिया में दूसरी संख्या की प्रक्रिया ही मुख्य है।

काव्य के भेद

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में काव्य के दो भेद किए गए हैं—एक बाह्यार्थनिरूपक (ऑबजेक्टिव) और दूसरा स्वानुभूतिनिदर्शक (सब्जेक्टिव)। पहले प्रकार की रचना में कवि अपनी सत्ता पृथक्

किए रहता है। जिस रूप मेँ वह बाह्य जगत् का निरीक्षण करता है उसी रूप मेँ उसे ज्योँ का त्योँ व्यक्त कर देता है। दूसरे प्रकार की रचना मेँ उसका व्यक्तित्व विशेष रूप से लक्षित होता है। यदि इन भेदोँ पर विचार किया जाय तो ये भेद बहुत ही स्थूल दृष्टि से किए गए दिखाई देते हैँ। बाह्यार्थनिरूपक काव्य मेँ कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट शब्दोँ मेँ भले ही सामने न आए किंतु कवि जिस रूप मेँ जगत् का निरीक्षण करता है जब वही रूप काव्यबद्ध होता है तो यह निश्चित है कि उस रचना के साथ उसकी अंतःसत्ता भी चिपकी हुई है। यदि ऐसा न हो तो एक ही विषय को लेकर रचना करनेवाले भिन्न भिन्न कवियोँ की रचनाओँ मेँ किसी प्रकार का भेद ही न लक्षित हो। किंतु ध्यान देने से स्पष्ट लक्षित होता है कि एक ही विषय पर भिन्न भिन्न कवियोँ की रचनाओँ मेँ केवल पदावली का ही स्थूल अंतर नहीँ होता, प्रत्युत विषय के निरूपण और निरीक्षण का भी पार्थक्य दिखाई देता है। इसलिए शुद्ध बाह्यार्थनिरूपक काव्य कदाचित् ही कहीँ दिखाई पड़े। ठीक यही बात स्वानुभूतिनिदर्शक काव्य के संबंध मेँ भी कही जा सकती है। यदि कोई कवि अपनी ऐसी अनुभूति काव्य मेँ व्यंजित करता है जिसका न बाह्य जगत् से कोई संबंध है और न इतर व्यक्तियोँ की अनुभूति से, तो ऐसा विलक्षण काव्य समाज के किसी काम का नहीँ हो सकता। इसलिए इस दूसरे वर्ग के अंतर्गत जितनी रचनाएँ रखी जाती हैँ उनमें बाह्यार्थ के साथ ही व्यक्तिगत अनुभूति का मेल दिखाई देता है, उससे एकदम स्वच्छंद अनुभूति का नहीँ। किंतु इधर थोड़े दिनोँ से, जब से व्यक्ति-वैचित्र्य की विशिष्टता पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा तब से, कुछ विलक्षण रचनाएँ भी काव्य-क्षेत्र मेँ लाई जाने लगीँ। पश्चिमी देशोँ से तो इस प्रकार की रचनाएँ बहुत कुछ हटने या हटाई जाने लगी हैँ किंतु भारतवर्ष मेँ और विशेषतः हिंदी-जगत् मेँ इन रचनाओँ का वेग अभी रुका नहीँ।

स्वच्छंद मुक्तक रचनाएँ दूसरे भेद के अंतर्गत रखी जाती हैं। पहले प्रकार की रचनाएँ अनुकरण-सापेक्ष होने से अनुकृत (इमीटेटिव) और जगत् की यथातथ्य व्यंजना करने के कारण प्रकृत (रियलिस्टिक) भी कही जाती हैं। दूसरे प्रकार की रचनाएँ अंतःप्रेरणा की प्रबलता से व्यक्त होती हैं और वेगपूर्ण व्यंजना करती हैं। ये कवि की संगीत-प्रवृत्ति से विशेष संबद्ध होती हैं और गेय पदों में व्यक्त होकर 'प्रगीत' कहलाती हैं।

काव्य और व्यक्ति-वैचित्र्य

अब थोड़ा सा इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि व्यक्ति-वैचित्र्य किस रूप में दिखाई देता है और काव्य की रसात्मकता के अनुरूप उसके कौन कौन से रूप हो सकते हैं। व्यक्ति के दो रूप स्पष्ट लक्षित होते हैं। एक तो अपने संबंधियों से घिरा हुआ उसका बहुत ही छोटा या परिमित रूप और दूसरा समाज, देश या लोक तक पहुँचता हुआ उसका विस्तृत रूप। जैसे अपने परिमित घेरे में व्यक्ति नाना प्रकार की अनुभूतियाँ संचित करता है वैसे ही अपने दूसरे विस्तृत क्षेत्र में पहुँचकर भी। यह बार बार कहा जा चुका है कि काव्य का उद्देश्य कवि और पाठक का तादात्म्य स्थापित करना है। व्यक्ति की अपने परिमित घेरे में ऐसी बहुत सी अनुभूतियाँ हो सकती हैं जो जगत् में ठीक उसी रूप में औरों को भी हुई हों। किंतु कुछ ऐसी अनुभूतियाँ भी होंगी जो बहुतों को न होती हों और यदि कुछ को होती भी हों तो संसार के दूसरे लोगों के काम की न हों। यदि कोई कवि अपनी अंत-र्दृष्टि दूर तक न ले जाकर केवल अपने परिमित घेरे की ऐसी ही अनु-भूतियाँ व्यक्त करता है जो सर्वसामान्य हुआ करती हैं तो ऐसी स्थिति में कवि की रचना में चाहे विशेष गहराई न भी हो फिर भी उसका पाठक के साथ तादात्म्य अवश्य स्थापित हो जायगा। किंतु यदि उसकी अनुभूतियाँ वे होंगी जो उसके अतिरिक्त और किसी को नहीं हुई या हो सकती हैं तो पाठक के साथ उसका कुछ भी तादात्म्य स्थापित न

होगा। इस प्रकार की रचनाओँ को पढ़कर उसके हृदय मेँ व्यंजित भावोँ से भिन्न भावनाओँ के जगने की संभावना होगी और उन भावनाओँ का आलंबन या तो स्वयं कवि होगा या उसकी वह रचना। कोई हँसी से, कोई घृणा से, कोई क्रोध से और कोई आश्चर्य से इस प्रकार की रचना को देखेगा। हिंदी की नवीन शैली की कुछ रचनाओँ के विषय मेँ अधिकतर पाठकोँ के हृदय मेँ जो पूर्वोक्त प्रकार की भावनाएँ जग रही हैँ उसका कारण व्यक्ति-वैचित्र्य ही है।

प्रभाववादी समीक्षा

इसी स्थान पर प्रभाववादी (इंप्रेशनिस्ट) समीक्षा पर भी विचार कर लेना चाहिए। काव्य के शास्त्र-पक्ष को कष्टसाध्य समझ कर समीक्षा के क्षेत्र मेँ कहा जाने लगा कि कवि की कविता द्वारा हृदय पर जो प्रभाव पड़ा करता है उसे ही ठीक ठीक व्यक्त कर देना उस रचना की समुचित समीक्षा है। तर्क-वितर्क द्वारा काव्य के गुण-दोषोँ का विवेचन करना काव्य की सच्ची समालोचना नहीँ। ऐसा करना तो वकीलोँ की भाँति अपने किसी पूर्वनिश्चित पक्ष का समर्थन करने का प्रयत्न ही कहा जा सकता है। इस संबंध मेँ दो बातोँ पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है—एक तो आलोचक पर पड़े हुए प्रभाव का और दूसरे ऐसे आलोचकोँ द्वारा प्रस्तुत आलोचना का। आलोचक की दो स्थितियाँ होती हैँ—एक पाठक की, दूसरी विचारक की। कविता पढ़ते समय सबसे पहले वह पाठक की स्थिति मेँ पहुँचता है और कविता का रसास्वाद लेता है। वह हास, शोक, क्रोध, आश्चर्य आदि भावोँ मेँ पूर्णतया रमता है। इस रसावस्था से पृथक् होने पर वह इस बात का विचार करता है कि इस कविता के पढ़ने से मेरे हृदय मेँ इस इस प्रकार की भावनाएँ क्योँ जगीँ, उसमेँ हमारा मन इतना क्योँ लीन हुआ, इस रचना को बारंबार पढ़ने की इच्छा क्योँ होती है, अमुक स्थल पर पहुँचकर चित्त मेँ उद्वेग क्योँ हुआ आदि आदि। यह उसकी विचारक की स्थिति है। ऐसी स्थिति मेँ पहुँचकर यदि आलोचक अपनी रसावस्था का वर्णन

मात्र कर दे, उस प्रकार की अवस्था तक पहुँचाने का कारण तर्क-वितर्क द्वारा प्रस्तुत न करे तो वह विचारक कैसा, समीक्षक कैसा ! तात्पर्य यह कि समीक्षा के लिए कुछ निश्चित सिद्धांतों का होना बहुत आवश्यक है। बिना सिद्धांतों का सहारा लिए उद्गार के रूप में समीक्षा प्रस्तुत करना समीक्षा करना नहीं, मुग्धता का विवरण देना है।

दूसरी बात है इस प्रकार की समीक्षा के अपरिमित रूप धारण कर लेने की। इस पद्धति के अनुसार जितने आलोचक होंगे उतने ही प्रकार की आलोचनाएँ हो जायँगी। कोई तो कवि की प्रशंसा करेगा और कोई उसकी कुत्सा करते न थकेगा। विचार करने से समीक्षकों का प्रभाववादी संप्रदाय भी व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की प्रेरणा का परिणाम मात्र जान पड़ता है। हिंदी में इस प्रकार की मुग्ध भाव से लिखी हुई आलोचनाओं का चलन बढ़ ही रहा है।

यथातथ्य और आदर्श

पाश्चात्य देशों में जब से कथा-कहानियों का विशेष प्रचार हुआ तब से उसके स्वरूप-निर्णय की चर्चा भी धीरे-धीरे होने लगी है। पहले पत्र का आंदोलन जब से बढ़ा तब से साहित्यरचना के संबंध में नए-नए मत या वाद चलने लगे हैं। इन वादों में सबसे मुख्य हैं— आदर्शवाद और यथार्थवाद। पश्चिमी समीक्षकों के अनुसार आदर्श वही माना जाता है जो जीवन में कभी प्राप्त न किया जा सके और यथार्थ वह माना जाता है जो जीवन में प्रत्यक्ष उपस्थित हो। कविता के क्षेत्र में तो वहाँ के काव्य भी आदर्श को ही लेकर अब तक चलते रहे हैं। इधर कुछ दिनों से कथा-कहानियों के सिलसिले में उठे हुए इन वादों के कारण कुछ कविता की पुस्तकें भी यथार्थवादी स्वरूप लेकर मैदान में आई हैं। अब देखना यह चाहिए कि काव्य में यथार्थ का ग्रहण और आदर्श का त्याग किस सीमा तक हो सकता है। यह बात तो पाश्चात्य समीक्षकों को भी माननी पड़ी है कि काव्यगत सत्य जीवनगत सत्य से कुछ पृथक् हुआ करता है। पृथक् कहने का तात्पर्य

यह नहीँ कि वह जीवन से कोई विलक्षण सत्य हुआ करता है। उसका पार्थक्य इसी लिए माना जाता है कि काव्य मेँ जीवन का परिष्कृत रूप आया करता है। हम पहले कह आए हैँ कि काव्य की आधारभूमि लोकस्वीकृत भूमि होती है, व्यक्तिस्वीकृत भूमि नहीँ। यही कारण है कि काव्य मेँ परिष्कृत रूप मेँ जीवन की घटनाएँ संनिविष्ट की जाती हैँ। किसी के व्यक्तिगत जीवन मेँ जितनी घटनाएँ घटित होती हैँ वे सब समाज के काम की नहीँ हो सकतीं। वे सब घटनाएँ एक ही लक्ष्य की ओर जानेवाली होतीँ भी नहीँ। काव्य जो घटनाएँ वर्णन के लिए चुनता है वे किसी निश्चित लक्ष्य तक पहुँचानेवाली अवश्य होती हैँ। 'काव्य का उद्देश्य काव्य ही है' माननेवाले भी इसे अस्वीकृत नहीँ कर सकते। अतः समीक्षकोँ ने जीवनगत सत्य के दो रूप माने। एक को उन्होँने प्रकृत (ऐक्चुअल) कहा और दूसरे को यथार्थ (रियल)। काव्य मेँ यह आवश्यक नहीँ कि जीवन का प्रकृत रूप ही लिया जाय, उसका यथार्थ रूप भी काव्यगत प्रकृत रूप ही है। प्रकृत और यथार्थ मेँ अंतर यह माना गया कि जीवन मेँ जिसकी पूर्ण संभावना हो, चाहे वह सर्वत्र न भी देखा जाय, यथार्थ है। किंतु 'प्रकृत' संभावित नहीँ, वास्तविक होता है। इस प्रकार काव्य मेँ जीवन का परिष्कृत रूप उन्हेँ भी मान्य है, इसे कौन अस्वीकृत कर सकता है ? परिष्कृत रूप की स्वीकृति उन्हेँ 'आदर्श' की ओर ही तो ले जा रही है ?

अब देखना चाहिए कि आदर्श क्या है। जीवन मेँ जैसा स्वरूप होना चाहिए काव्य मेँ उसका निरूपण आदर्श कहा जा सकता है। किंतु आदर्शवादियोँका यह कहना ठीक नहीँ कि आदर्श सदा अप्राप्त रहता है। यदि वह कभी प्राप्त नहीँ हुआ तो उसके प्रति इतना राग क्योँ ? आदर्श वस्तुतः कोई हवाई या अलौकिक वस्तु नहीँ है। वह इसी जीवन मेँ उदात्तवृत्तिवाले महापुरुषोँ मेँ दिखाई देता है। इसीसे भारतीय काव्योँ मेँ उदात्तचरित महापुरुषोँ का ही वृत्त गृहीत होता है। पुराण (प्राचीन इतिवृत्त) या इतिहास (नवीन इतिवृत्त) से उसका संकलन किया जाता है।

पश्चिमी देशों में यथार्थ पर अधिक जोर देने का एक कारण यह भी है कि वहाँ काव्य का लक्ष्य अधिकतर शुद्ध मनोरंजन ही माना जाने लगा है। पर भारतीय परंपरा में काव्य का चरम लक्ष्य रस-संचार और तदुपरि वृत्ति-संस्कार है। जो काव्य का लक्ष्य शुद्ध मनोरंजन ही मानेगा वह जीवन के आदर्श रूप से हटकर उसके सड़े गले अंग को देख दिखाकर भी अपना मनोरंजन करता रह सकता है। जिसका लक्ष्य सौंदर्यानुभूति होगा वह किसी की ठीक ठीक अनुकृति मात्र से प्रसन्न हो सकता है। उसके लिए इसकी आवश्यकता नहीं कि अनुकार्य सद्वृत्त है अथवा दुर्वृत्त। आदर्श और यथार्थ का भेद करके काव्य में उदात्त-वृत्तियों का अवरोध करना उसे अपभ्रष्ट करना भी है।

अब देखना यह चाहिए कि जिन्हें आदर्श कहकर काव्य का आलंबन बनने से वंचित किया जाता है क्या उनके द्वारा प्रदर्शित वृत्तियाँ यथार्थ से सदा हटी रहती हैं? भारतीय काव्यों में राम का चरित्र आदर्श कहा जायगा। गोस्वामी तुलसीदास ने उन्हें अवतार मानकर वर्णित किया है। फिर भी उनका जीवन यथार्थ जीवन से दूर नहीं दिखाई पड़ता। काव्य जिन भावों का 'भावन' करना चाहता है वे राम में प्रकृत रूप में ही दिखाई देते हैं, कृत्रिम, विलक्षण या अद्भुत रूप में नहीं। साधारणतया लोग जीवन में प्रेम, हास, क्रोध, शोक, करुणा, घृणा आदि की जैसी अनुभूति करते हैं वैसी ही अनुभूति उनकी भी है। सीता के प्रेम में वे उद्विग्न होते हैं, लक्ष्मण के शोक में प्रलाप करते हैं, रावण की दुष्टता से खीझते हैं आदि। इतना ही क्यों, उनके चरित्र में वे धब्बे भी दिखाई देते हैं जिनका होना यथार्थवादियों की दृष्टि से बहुत आवश्यक है। जैसे राम ने अपनों का पक्षपात किया है। इसे घोषित करने में परमभक्त तुलसीदास को किसी प्रकार की हिचक नहीं हुई। वे कहते हैं—

जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। पुनि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥

वस्तुतः काव्य में आदर्श का त्याग अव्यवस्था उत्पन्न करनेवाला ही हो सकता है।

अब यह देखना चाहिए कि जीवन का जो सड़ा-गला पक्ष यथार्थवादियों को विशेष प्रिय है क्या उसकी संभावना भी आदर्श काव्यों में कहीं दिखाई देती है? आदर्श पात्रों का स्वरूप और शील अभिव्यक्त करने के लिए आदर्शोन्मुख रचनाओं में स्पष्ट ही दो पक्ष रखे जाते हैं; एक होता है सत्पक्ष और दूसरा असत्पक्ष। इसी असत्पक्ष का विस्तार के साथ ऐसा वर्णन किया जाता है जिससे उसके प्रति घृणा या विरक्ति उत्पन्न हो। विरक्ति जगाने का प्रयोजन होता है सत्पक्ष के प्रति उद्बुद्ध श्रद्धा को अधिकाधिक परिपुष्ट करना। अंत में इन काव्यों का लक्ष्य यही निकलता है कि 'सज्जनवत् आचरण करना चाहिए, दुर्जनवत् नहीं'। काव्य के इस संकेतप्राप्त प्रयोजन पर पहले विचार कर आए हैं।

इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि आदर्शवाद के नाम पर नकली चरित्र उपस्थित किए जाएँ। जहाँ तक संभावना काम कर सकती है और जहाँ तक कोई काव्य लोक की चरम सीमा पार करके शुद्ध अलौकिक नहीं हो जाता वहाँ तक आदर्शवाद जा सकता है। ठीक इसी प्रकार यथार्थवाद का ग्रहण भी वहीं तक हो सकता है जहाँ तक वह सड़े गले या अप्रयोजनीय रूप में नहीं आता। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार काव्य को केवल स्वर्गलोक के विहार से विरत रखना है उसी प्रकार नरक-कुंड में डूबने से भी। फिर भी इतना कहना ही पड़ता है कि आदर्शवाद के नाम पर स्वर्गलोक का विचरण उतना अनपेक्षित नहीं जितना यथार्थवाद के नाम पर नरक-कुंड में डूबना।

आलोचना के प्रकार

अब इसपर विचार करना चाहिए कि आलोचना के कितने रूप देखे जाते हैं और उनमें से शुद्ध साहित्यिक एवं पूर्ण उपयोगी समीक्षा-पद्धतियाँ कितनी हैं। मोटे रूप में तीन प्रकार की आलोचनाएँ दिखाई देती हैं—निर्णयात्मक, तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक। सीधी सादी परिच-

यात्मक आलोचना भी होती है, किंतु स्वरूप के विचार से उसका अंत-र्भाव निर्णयात्मक में हो जाता है। निर्णयात्मक आलोचना वह है जो किसी कवि या लेखक की रचनाओं का विवरण देकर यह भी निर्णय करे कि वह उत्तम, मध्यम और अधम में से किस श्रेणी में रखा जा सकता है। इसमें थोड़ी बहुत तुलना अवश्य निहित रहती है। भले ही कोई दूसरा समकक्ष रचयिता सामने न लाया जाय, किंतु समीक्षक के हृदय में ऐसी मानतुला अवश्य रहती है जो उनका विभाजन करती चलती है। ऐसी आलोचना, सच पूछा जाय तो, रचयिता के ठीक ठीक स्वरूप को व्यक्त करनेवाली नहीं होती। किसी रचयिता में कुछ ऐसी विशेषताएँ अवश्य रहा करती हैं जिनके कारण वह दूसरों से सरलता-पूर्वक पृथक् किया जा सकता है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि उसकी स्थिति स्पष्ट करने के लिए कोई समानशील रचयिता सामने लाया ही जाए। स्थान स्थान पर सरलता और स्पष्टता के साथ उसका स्वरूप समझ लेने के लिए वैसे ही दूसरे कवियों को सामने लाना बुरा नहीं, किंतु आरंभ से लेकर अंत तक एक को दूसरे से मिलाकर केवल तारतम्य दिखलाना काव्यकारों के स्वरूप-बोध में पूर्णतया सहायक नहीं हो सकता। निर्णयात्मक आलोचना अब साधारण आलोचना समझी जाने लगी है। आलोचक-भेद से निर्णय का भेद भी दिखलाई देता है। तुलनात्मक आलोचना भी कुछ स्थितियों में और कुछ दूर तक ठीक दिखाई देती है, पर अधिक आगे बढ़ने पर वह भिन्न भिन्न कवियों की विशेषता का निरूपण करने के बदले उनकी समता या विषमता दिखला-कर ही संतोष कर लेती है। यह कैसे कहा जा सकता है कि दो व्यक्तियों के साम्य और वैषम्य से उनकी विशेषताओं का पूर्णतया पृथक् पृथक् उद्घाटन हो ही जायगा। इसलिए समीक्षाओं की विविधता के विचार से तो ऐसी आलोचनाएँ महत्त्व की हो सकती हैं, किंतु भिन्न भिन्न रच-यिताओं की विशेषताओं के सम्यक् निरूपण के विचार से यदि देखें तो इनसे भी पूर्ति नहीं होती। अतः विश्लेषणात्मक आलोचना की आवश्य-कता पड़ती है। विश्लेषणात्मक आलोचनाएँ लिखनेवाला समालोचक

रचयिता की भिन्न भिन्न विशेषताओं का सूक्ष्मता के साथ उल्लेख करता है। अपनी निरपेक्ष बुद्धि से वह जिस प्रकार उसके गुणों का वर्णन करता है उसी प्रकार दोषों का भी। ऐसी आलोचना लिखने के लिए पांडित्य की भी आवश्यकता होती है और सहृदयता की भी। अपने पांडित्य अर्थात् बुद्धिमत्ता द्वारा आलोचक रचनाओं के बीच में से होकर बराबर मार्ग निकालता रहता है तथा सहृदयता द्वारा कृति में गहराई तक धसता है।

आलोचनाओं के दो स्वरूप खंडनात्मक और मंडनात्मक भी होते हैं। इस प्रकार की अधिकतर समीक्षाएं रचयिता के संबंध में पूर्वनिश्चित मत के रूप में हुआ करती हैं। किसी कवि या लेखक की रचना या उसके संबंध में जैसी धारणा पहले से बँध जाती है उसी के आधार पर खंडनात्मक या मंडनात्मक आलोचनाएँ कर दी जाती हैं। इस प्रकार की आलोचनाओं में अधिकतर द्वेष-बुद्धि या संमानबुद्धि काम किया करती है। ऐसी बुद्धि केवल व्यक्ति के ही संबंध में जगती हो सो नहीं। उसकी रचना से हृदय पर पड़े हुए सुखात्मक या दुःखात्मक प्रभाव के फलस्वरूप भी किसी की रचना या तो बहुत अधिक रुचती है या रुचती ही नहीं। आज दिन जो प्रभाववादी आलोचनाएँ होने लगी हैं उन्हें इन्हीं आलोचनाओं का नवीन, विकसित, विकृत, विस्तृत या परिष्कृत—चाहे जैसा कहें—रूप ही समझना चाहिए। प्राचीन काल में किसी रचयिता के लिए जो थोड़े शब्दों में कोई उक्ति कह दी जाती थी वह भी बहुत कुछ इसी प्रकार की हुआ करती थी।

काव्य और अनुकरण

पश्चिमी देशों में काव्य-रचना का मूल अनुकरण माना जाता है। इस मत के प्रवर्तक अरस्तू हैं। उनका कहना है कि अनुकरण की प्रवृत्ति स्वभावगत होती है। कला की कृति में भी यही अनुकरण कार्यशील रहता है। अनुकरण कहीं वर्ण और आकृति द्वारा किया जाता है और कहीं स्वर द्वारा। कला में लय, शब्द और आलाप इसके साधन हैं।

कहीं एक से और कहीं दो या तीनों के मिश्रण से काम लिया जाता है। वाद्यों में लय और आलाप दो मिलते हैं। नृत्य में केवल लय का प्रयोग होता है। नर्तक अपनी चेष्टाओं द्वारा लय के ही सहारे रीति, भाव और कृति की अभिव्यक्ति करता है। काव्य में आकर कहीं कहीं अनुकरण के समस्त साधनों का प्रयोग किया जाता है। काव्य के साधन ये हैं—लय, आलाप और पद्य। अरस्तू ने अनुकरण के भेद भी माने हैं। उनका कहना है कि अनुकरण अपने प्रकृत रूप में भी आता है, उत्कृष्ट रूप में भी और अपकृष्ट रूप में भी। काव्य के विभिन्न भेदों में उत्कर्ष और अपकर्ष के तारतम्य से ही उसकी स्थिति हुआ करती है। त्रासद नाटक (ट्रेजेडी) में उसका उत्कृष्ट रूप और कामद या हासद नाटक (कामेडी) में उसका अपकृष्ट रूप दिखाई देता है।[1]

नाटकों के प्रंसग में भारतीय शास्त्रों में भी अनुकरण का नाम लिया गया है। धनंजय के अनुसार नाट्य अवस्था की अनुकृति को कहते हैं।[2] उन्होंने नाट्य, नृत्य और नृत्त में भेद किया है। नाट्य रसोद्बोधक माना जाता है। नृत्य में केवल भावों का सहारा लिया जाता है। इसे थोड़ा स्पष्ट करने के लिए यह बतला देने की आवश्यकता है कि रसाश्रय नाट्य में जिन भावों की अभिव्यक्ति होती है वे भाव तद्वत् दूसरे व्यक्तियों के हृदय में उद्‌बुद्ध होते हैं अर्थात् अभिनेता अपने प्रदर्शन द्वारा अनुकार्य तथा दर्शकों का तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होता है। नृत्य करनेवाला केवल भाव का प्रदर्शन करता है अर्थात् वह जिन अंतर्वृत्तियों का प्रदर्शन करता है वे ज्यों का त्यों दर्शकों के हृदयों में उद्‌बुद्ध नहीं होतीं। दर्शक उन्हें देखकर केवल अपनी प्रसन्नता भर व्यक्त कर देता है। जनता में जो 'नकलों' का प्रचार है, धनंजय के अनुसार, वे नृत्य के अंतर्गत ही जाएँगी। इसका नाम धनिक ने 'प्रेक्षणीयक' रखा है। बोलचाल का 'नाच पेखना' 'नृत्य प्रेक्षणीयक'

---

१ देखिए अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' (पोयटिक्स)।

२ अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—दशरूपक।

है। ताल और लय के सहारे जो अभिनय-शून्य चेष्टाएँ की जाती हैं उन्हें नृत्त कहते हैं। शुद्ध नाच यह नृत्त ही है। आगे चलकर नृत्य और नृत्त के दो स्वरूप भी दिए गए हैं। नृत्य को मार्गी और नृत्त को देशी कहा गया है। सार्वदेशिक प्रचार के कारण नृत्य को मार्गी कहते हैं किंतु नृत्त देशभेद से पृथक् पृथक् रूपों में दिखलाई देता है, इसलिए वह देशी कहलाता है।

अरस्तू के इस कथन में कोई संदेह नहीं कि मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति सहज है और बाल्यावस्था से ही दिखाई देती है। मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति अन्य प्राणियों से अधिक देखी जाती है। पशु-पक्षी भी अनुकरण करते हैं किंतु उनका क्षेत्र बहुत परिमित है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि काव्य के निर्माण में अनुकृति का योग अवश्य है। भारतीय आचार्यों की उक्तियों का उनके कथन से मिलान करने पर दोनों एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हुए दिखाई देते हैं। अंतर केवल इतना ही है कि इन्होंने अनुकरण के मूल में मनोवेगों की प्रेरणा मानी है। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में कवि की दो प्रकार की शक्तियाँ बतलाई हैं—एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। इनमें से पहली तो काव्य-निर्माण की शक्ति है और दूसरी जीवन और जगत् की यथार्थ अनुभूति द्वारा भावग्राहक शक्ति। काव्य का निर्माण करते हुए, उसमें भावना का पुट देते हुए स्वयं कवि का हृदय कल्पना द्वारा लक्षित तथा अनुभूत स्थितियों एवं भावों में अपने को स्थित और मग्न करता चलता है। तात्पर्य यह कि वह निरीक्षित जीवन का अनुकरण करता है। अतः स्पष्ट है कि शुद्ध अनुकरण ही काव्य का मूल नहीं है। वे भाव या विभाव कारण हैं जिनकी प्रेरणा से अनुकरण की प्रवृत्ति जगती है।

रोमांटिक और क्लैसिक

इधर अँगरेजी-साहित्य की कृपा से 'रोमांस' और 'रोमांटिक' की विशेष चर्चा सुनाई देती है। 'रोमांटिक' के साथ साथ 'क्लैसिक' नाम भी लिया जाता है। विचार करने से ज्ञान पड़ता है कि रोमांटिक की

मूल प्रेरणा साहित्यिक न होकर सामाजिक है। फ्रांस की राज्यक्रांति के अनंतर वहाँ पर इस प्रकार की धारणा प्रबल हुई कि जो कुछ प्राचीन है वह कुत्सित है। उसे हटा कर नवीनता की स्थापना करनी चाहिए। जागर्तिकाल (रिनेसाँ) के साथ साथ यह धारणा उत्तरोत्तर प्रबल होती गई। फलस्वरूप इसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़े बिना न रहा। साहित्य में भी प्राचीन अवद्य माना जाने लगा और नवीन साधु समझा जाने लगा। इसीलिए एक ओर तो प्राचीन रूढ़ियों, विचारों, शैलियों, भाषाओं आदि में प्रस्तुत काव्यग्रंथ रखे गए और दूसरी ओर, चारों ओर नवीनता से घिरे हुए काव्यग्रंथ। धीरे धीरे, ज्यों ज्यों समय बढ़ता गया त्यों त्यों इन दोनों विभागों का विवेचन भी विभिन्न दृष्टियों से किया जाने लगा। कुछ लोगों ने कहा कि क्लैसिक विचारधारा मनुष्य का संबंध मनुष्य से ही स्थापित करनेवाली है। पर रोमांचक विचार-धारा का क्षेत्र अपरिमित है। वह प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में पहुँचनेवाली है। प्राचीन लौकिक है, नवीन अलौकिक। पहला परिमित साधनों पर आधृत है दूसरा चरम सीमा की खोज करता है। पहला शांति-सुख का अभ्यासी है दूसरा साहस-संपन्न कार्यकलापों से आकृष्ट। पहला रूढ़ियों का प्रेमी है दूसरा विलक्षणता का। एक ओर ऐसे गुण-दोष दिखाई देते हैं जिनका संबंध औचित्य, नाप-जोख, बंधन, सनातन-विचार, आप्तप्रमाण, शांति और अनुभव आदि से है दूसरी ओर ऐसी बातें हैं जो उत्तेजना, शक्ति, अशांति, आध्यात्मिकता, कुतूहल, कष्ट-दायकता, उत्थान, स्वातंत्र्य, प्रयोग और जागर्ति से नाता जोड़ती हैं[1]।

इस प्रकार की भेदकता की स्थापना करने पर भी बहुत से प्राचीन काव्य इन विभाजकों को अपनी परिभाषा के मानदंड से उत्कृष्ट ही दिखाई पड़े। अतः क्लैसिक और रोमांटिक की तुला से पुरानों की भी नाप-जोख की जाने लगी और यह निष्कर्ष निकाला गया कि जहाँ कुतूहल और सौंदर्य-प्रेम की प्रवृत्ति दिखाई पड़े उसकी गणना रोमांटिक

१ देखिए स्काट जेम्स् का 'दि मेकिंग आव् लिटरेचर'।

के अंतर्गत हो। इसलिए स्थूल रूप से रोमांस में तीन बात मुख्य माना जाती हैं—रहस्य की भावना, कुतूहल की बौद्धिक वृत्ति और जीवन की सादगी की प्रवृत्ति।

विचार करने से इन भेदों में कोई गंभीर तत्त्व नहीं दिखाई देता। प्राचीन और नवीन में कालांतर से भेद तो अवश्य हो जाया करता है पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन में जिन आदर्शों का पालन होता है या काव्य के लिए उसके जो आलंबन तथा भाव हुआ करते हैं वे नवीन काव्यों में आकर एकदम बदल जाते हैं। वस्तुतः जो कुछ अंतर हुआ करता है वह प्रथन कौशल या अभिव्यंजना में दिखाई देता है। हिंदी की नवीन काव्यधारा में काव्यगत आलंबन कुछ अवश्य बढ़ गए हैं। किंतु यह नहीं समझना चाहिए कि ये आलंबन सब के सब इससे पहले कभी काव्यबद्ध हुए ही नहीं। जैसे हिंदी की नवीन कविता में आलंबन-रूप से प्रकृति का ग्रहण कोई नई बात नहीं। विदेशी (फारसी) प्रभाव समझिए अथवा कालचक्र की गति कि हिंदी के पुराने रचयिता प्रकृति से धीरे धीरे दूर हटते गए किंतु संस्कृत के पुराने कवियों में ऐसा नहीं था। साधारण और असाधारण का काल्पनिक भेद भी वे नहीं किया करते थे। जिस प्रकार रसाल, जंबू, कमल आदि का वर्णन किया गया है उसी प्रकार अंकोट, इंगुदी, बबूल इत्यादि का भी। जिस प्रकार ऋषि, मुनि आदि के वर्णन किए गए हैं उसी प्रकार कोल, भिल्ल, निषाद आदि के भी।

काव्य और प्रकृति

सुख-समृद्धि के बीच नागरिक जीवन व्यतीत करते हुए राजाश्रित कवि नागरिक व्यक्तियों और नागरिक ऐश्वर्य का वर्णन तो करते थे, पर ग्रामों, पर्वतों, नदियों, झरनों, समुद्र आदि प्राचीन एवं प्राकृतिक विभूतियों की ओर से धीरे धीरे अपनी आँखें फेरने लगे थे। पर प्रकृति के विविध रूपों के बीच अपना जीवन व्यतीत करनेवाले बहुत दिनों तक अपनी आखें बंद नहीं रख सकते थे। परिणाम यह हुआ कि

एलिजाबेथ के समय के अनंतर वहाँ के काव्य-क्षेत्र मेँ जो प्रतिवर्तन हुआ उसके फलस्वरूप 'प्रकृति की ओर लौटो' की पुकार मची। बहुत से कवि प्रकृति की माधुरी पर मुग्ध होकर उसका चित्रण करते हुए सामने आए। अँगरेजी-साहित्य के संपर्क मेँ जब भारतीय भाषाओँ के साहित्य आए तो इनमेँ भी वही पुकार उठ खड़ी हुई। हिंदी मेँ भी धीरे धीरे प्रकृति के ऐश्वर्य पर मुग्ध होने की प्रवृत्ति फिर से जगने लगी। क्योँकि अँगरेजी-कवियोँ की भाँति हिंदी के मध्यकालीन बहुत से कवि राजाश्रय मेँ ही पलते रहे। प्रकृति की ओर से उनमेँ विशेष उदासीनता छा गई थी। राजाश्रय से मुक्त तुलसी ऐसे दो एक सर्वभूतव्यापी हृदय-वाले कवियोँ को यदि छोड़ देँ तो उस काल मेँ ऐसे कवि भी दिखाई देते हैँ जो गाँवोँ की प्राकृतिक विभूति पर मुग्ध होने की कौन कहे वहाँ के व्यवहारोँ से नाक-भौँ हैँ ही सिकोड़ते फिरते हैँ। बिहारी को 'गँवई-गाँव' मेँ गुलाब के इत्र का कोई प्रशंसक नहीँ दिखाई देता। नागरता के नाम को वे रो रहे थे। उनके गुरु केशवदास शास्त्र का निरूपण करते हुए कवि के लिए सामान्य और विशेष नामक अलंकारोँ के अंतर्गत राज्यश्री-भूषण का तो उल्लेख करते हैँ और उसका विस्तार से वर्णन करने की पद्धतियाँ भी निरूपित कर जाते हैँ, किंतु प्रकृति-श्री की ओर से उदासीन ही हैँ। किसी उपवन या वाटिका के वर्णन मेँ बड़े लोगोँ के बागीचोँ मेँ शौकिया तौर पर लगाए जानेवाले नाना प्रकार के वृक्षोँ तथा लताओँ का नाम तो वे गिना गए हैँ, किंतु पर्वतोँ एवं जंगलोँ मेँ पाए जानेवाले तृण-गुल्मोँ, द्रुम-वल्लरियोँ आदि का नाम तक नहीँ लेते। केशवदास की इस कविशिक्षा से प्रभावित होकर पिछले काँटे के बहुत से हिंदी-कवियोँ ने वृक्ष-लताओँ के उत्पत्ति-स्थान का कुछ भी विचार न करके परंपरा-पालन के निमित्त उन पेड़-पल्लवोँ की सूची तो अवश्य दे दी है जो बाग-बगीचोँ मेँ लगाए जाते हैँ पर वर्ण्य देश मेँ पाए जाने-वाले लता-वीरुत् का नाम तक नहीँ लिया है। जैसे वृंदावन के वर्णन मेँ खिरनी, फालसा, लीची आदि का तो उल्लेख है पर करील के कुंजोँ का नाम तक नहीँ, जिनकी शोभा पर मुग्ध होकर भक्तिसागर रसखान

'कलधौत के धाम' तक को निछावर कर देने को प्रस्तुत थे। संस्कृत के पुराने कवि प्रकृति की सच्ची विभूतियों से बहुत दिनों तक पराङ्मुख नहीं हुए। किंतु ज्यों ज्यों समयचक्र उन्हें नगरनिवास के निकट खींच लाया त्यों त्यों प्रकृति की उदासीनता उनमें भी बढ़ने लगी। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, बाण, भारवि आदि तक प्रकृति अपना प्रकृत रूप काव्यक्षेत्र में बहुत कुछ बनाए रही। किंतु श्रीहर्ष तक आते आते प्रकृति की योजना परंपरा का पालनमात्र रह गई। 'नैषध' संस्कृत का अत्यंत उत्कृष्ट काव्यग्रंथ है किंतु प्रकृति के वर्णन उसमें शास्त्रदृष्टि से ही रखे गए हैं, आत्मदृष्टि से नहीं। हिंदी में भी अधिकतर कवि आत्मदृष्टि से नहीं, प्रत्युत शास्त्रदृष्टि से ही प्राकृतिक ऐश्वर्य का निरूपण करते आए हैं।

काव्य में प्रकृति दो रूपों में आती है—प्रस्तुत रूप में और अप्रस्तुत रूप में। प्रस्तुत रूप में प्रकृति का वर्णन स्वच्छंद होता है अर्थात् वह स्वतः आलंबन होती है, किंतु अप्रस्तुत रूप में वह सहायक का रूप धारण करती है। रसों के क्षेत्र में अप्रस्तुत रूप में प्रकृति उद्दीपन के नाम से अभिहित हुई है और अलंकारों के क्षेत्र में उपमान के नाम से। आलंबन के रूप में आनेवाली प्रकृति भी दो प्रकार से निरूपित होती है। कहीं प्रकृति का कोई खंड-दृश्य स्वतः किसी भाव का उद्बोधक होता है और कहीं वर्ण्य व्यक्ति या घटना का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए पीठिका (बैक ग्राउंड) के रूप में उसका उपयोग किया जाता है। प्रकृति का पीठिका के रूप में उपयोग साहित्य की सभी शाखाओं के लिए प्रयोजनीय जान पड़ता है; कविता के अतिरिक्त घटना या कथा-प्रधान रचनाओं में भी वह आवश्यक है। धीरे धीरे यह प्रथा प्रमुख कथाकाव्यों से तो हट ही गई, किंतु कविता में, परंपरा-पालन के रूप में ही सही, कुछ बनी रही। फलस्वरूप हिंदी की नवीन काव्यधारा में प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में पहुँचकर उसकी अनुभूति में पाठकों को मग्न करानेवाले कई कवि दिखाई पड़े। शास्त्रों में रसप्रक्रिया का विवेचन करते हुए प्राकृतिक विभूतियाँ शृंगार के उद्दीपन के रूप में रख दी गई हैं। जिस प्रकार व्यक्ति या वस्तु के मेल में आने से नाना प्रकार के

भावों का उद्रेक होता है उसी प्रकार स्वच्छंद प्रकृति के संपर्क में आने से जो भाव जगता है उसका कोई पृथक् नामकरण ही नहीं किया गया। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि प्रकृति के वर्णन से किसी प्रकार का रस व्यंजित होने की संभावना ही नहीं। यदि भानुभट्ट 'मायारस' की कल्पना कर सकते हैं तो 'प्रकृतिरस' की कल्पना प्रकृति-प्रेमियों के लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं। संसार में लोकेषणा, धनेषणा, पुत्रेषणा नामक वांछाओं की पूर्ति में प्रवृत्त रहनेवाले मायारस के आश्रय होते हैं। प्रकृतिगत भाव की सीमा इससे भी विस्तृत है। संसारी और वीतराग सभी प्रकृति की विभूति पर मुग्ध होते देखे जाते हैं। प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति दोनों में प्रकृति के आलंबनत्व से उत्पन्न मनःस्थिति रसमय ही होती है। यह इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता है।

ज्यों ज्यों मनुष्य मानव-जीवन में उत्तरोत्तर अनुरक्त होता गया त्यों त्यों प्रकृति से विरक्त भी। संसारी हो जाने से वह प्रकृति को बहुत पीछे छोड़ आया। आर्य जातियों में तो प्रकृति का प्रेम संस्कारजन्य होने के कारण बहुत-कुछ बना है किंतु सामी जातियों में शान-शौकत की विशेष बाढ़ आई। आरंभिक वन्य जीवन के कारण जो थोड़ा बहुत प्रकृति-प्रेम उनमें था भी वह भी लुप्त हो गया। काव्य में दो-चार इने-गिने पेड़-पौधे रह गए और दो-चार बोलते पक्षी। पर्वतों, नदियों आदि के रुचिकर वर्णन दिखाई ही नहीं देते। पर्वत तो आपत्ति के प्रतीक माने जाने लगे, बयाबाँ या जंगल उदासी लक्षित कराने लगे। अपनी व्यक्तिगत सत्ता का क्षेम प्रकृति से उन्हें बहुत दूर घसीट ले गया।

इधर प्रकृति की जो पुकार मची उसका फल थोड़ा-बहुत हिंदी की नवीन काव्यधारा में ही दिखाई देता है। गद्य में लिखी जानेवाली रचनाएँ मानव-जीवन के विश्लेषण में प्रवृत्त होने का दावा करने लगीं, प्रकृति से उनका कोई सरोकार नहीं। पुराने उपन्यासों में, यहाँ तक कि तिलिस्मी एवं जासूसी कथा-ग्रंथों तक में, जिनका लक्ष्य घटनाओं का

वैचित्र्य ही दिखाना होता था, लेखक पीठिका के रूप में प्रकृति का वर्णन दिया करते थे। धीरे धीरे उपन्यासों क्या कविता से भी प्रकृति-वर्णन बहुत कुछ उठ गया। थोथे समाजवादी प्रकृति को चाहे बाह्य आवश्यकताओं का साधनमात्र समझते हों किंतु हृदय की भूख तब तक नहीं मिट सकती जब तक प्रकृति अपनी छबि के व्यंजनों से उसकी तृप्ति न करे।

किसी वाद या फैशन के चक्कर में पड़कर प्राकृतिक विभूतियों का निरूपण करने बैठना ठीक नहीं। नगर के परिमित घेरे में रहकर प्रकृति की असंख्य विभूतियों का न तो दर्शन ही किया जा सकता है और न दूसरों को उनके कृत्रिम वर्णन से परितृप्त ही। प्रकृति के खंड-चित्रों को लेकर यों ही कुछ पदावली जोड़ देना और बात है तथा प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म दृश्यों का चित्र खड़ा करना और बात। पहले बतलाया जा चुका है कि प्रकृति के ऊपर हृद्गत भावों का आरोप अथवा अलंकारों का लदाव करके उसका चित्रण करना भी प्रकृति-वर्णन की पद्धति ही है। विशेष अवसरों पर इनकी भी आवश्यकता होती है। किंतु प्रकृति को अपने व्यक्तिगत घेरे में बाँध रखना अथवा चमत्कार दिखाने के लिए लदाव पर लदाव करके उसे ढक देना पूर्ण सहृदयता का परिचय देना नहीं है। जो अपने जीवन के रंगीन शीशे से प्रकृति को देखते हैं या जो अपने कागजी फूल-पत्तों से उसका अनोखा शृंगार करने का उद्योग करते हैं उनकी मति संकुचित है उनकी रुचि असंस्कृत है। कहना नहीं होगा कि हिंदी कि आधुनिक कविता में भी प्रकृति के ऊपर ऐसे लदाव देखे जाते हैं और ऐसे भावों का आक्षेप किया जाता है तथा प्रचुर परिमाण में किया जाता है।

काव्य और रहस्यवाद

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के साथ अध्यात्मवाद का विचार किया जा चुका है। यह काव्य और समीक्षा दोनों के क्षेत्रों में अपना जोर दिखला रहा है। काव्य के क्षेत्र में यह रहस्यवाद, छायावाद के रूप

हिंदी-कविता में छाया। साहित्य या काव्य को ही आध्यात्मिक वस्तु कहना कहाँ तक उचित या अनुचित है इस पर तो विचार हो चुका। रहस्यवाद के रूप में जब यह काव्य की एक शाखा बनकर आता है तब उसकी सीमा कहाँ तक जा सकती है इस पर भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए। संसार में जहाँ तक ज्ञात है उसके आगे और भी कुछ है या नहीं इसकी जिज्ञासा जीवन में विचारशील लोगों को बराबर हुआ करती है। बुद्धि ज्ञात की सीमा के परे अपने निश्चय के लिए अज्ञात तक जाने का प्रयत्न करती है। कहना नहीं होगा कि बुद्धि की यह यात्रा दर्शन-शास्त्र के मार्ग पर होती है। हृदय का योग ज्ञात ही से हो सकता है, अज्ञात से नहीं। किंतु फैशन के रूप में हृदय का वैसा ही संबंध अज्ञात से जोड़ा जाने लगा है जैसा ज्ञात के प्रति हुआ करता है। काव्य में अज्ञात के संबंध में कोई निश्चय करके चलना सांप्रदायिकता है। काव्य तो क्या तत्त्वचिंता में भी 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' कहकर ब्रह्म की जिज्ञासा ही की गई है। किंतु काव्य में जिज्ञासा ने उलटे निश्चय का रूप ले लिया है। प्रेम का आलंबन अब 'कौन' भी होने लगा है। जैसे उर्दू में सूफी कवियों की नकल करनेवाले अधिकतर शायर ज्ञात के प्रति की गई रचना को अज्ञात के प्रति की गई बताया करते हैं, इश्क मजाजी में इश्क हकीकी बतलाते हैं, वैसी ही हिंदी के कवियों की भी मनोवृत्ति हो रही है। अन्य शास्त्रों की बातें काव्य में संकेत के रूप में ही गृहीत हो सकती हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। इस विचार से देखने पर हिंदी के सूफी कवि अपने प्रेमकथा-काव्यों में रहस्यवाद को काव्योपयोगी ढंग से लाए हैं। उनके काव्यों में प्रस्तुत वृत्त प्रेमी नायक-नायिका का ही दिखाई देता है। बीच बीच में तुल्य विशेषणों या प्रतीकों द्वारा अप्रस्तुत रूप में अज्ञात का संकेत भी स्थान स्थान पर करा दिया गया है। सारी कथा जो अप्रस्तुत आध्यात्मिक संकेत देती है वह प्रबंध-ध्वनि के रूप में पृथक् ही है।

रहस्यवाद पर इधर जो नई समीक्षाएँ प्रकाशित हुई हैं उनमें ऐसे कवियों की कृतियों में से भी रहस्यवाद के उद्धरण दिए गए हैं जो

कदाचित् ही रहस्यवादी कहे जा सकें। तुलसी और सूर को भी जो 'रहस्यवादी' कहते या समझते हैं उन्हें क्या कहा जाय? ये तो ललकारकर कहते हैं—"तुलसी अलखहिं का लखै रामनाम जपु नीच" और "निर्गुन अगम विचार जानिकै सूर सगुनलीला-पद गावै।" इन्हें रहस्यवादी कैसे माना जाय?

भक्तों की रचना के आध्यात्मिक अर्थ भी किए जाने लगे हैं। श्रीकृष्ण की मुरली, कमली, माखनचोरी आदि लीलाओं के विलक्षण विलक्षण अर्थ प्रस्तुत किए गए हैं। ये दार्शनिक जीव जनता के काव्य-रसास्वाद में भी बाधा डालने लगे हैं। काव्य की प्रक्रिया में देवी-देवताओं का शृंगार भी शृंगार ही है इसकी घोषणा रस को अलौकिक प्रक्रिया माननेवाले भी डिमडिम नाद से कर चुके हैं। फिर भी न जाने क्यों सूरदास तो सूरदास विद्यापति के पदों के भी आध्यात्मिक अर्थ किए जाते हैं। बात यह है कि पश्चिम से जो हवा चलती है वह पहले बंगाल की खाड़ी में पहुँचती है और वहाँ से पूरब की हवा बनकर 'मानसून' की भाँति हिंदी-प्रदेश में भी घनघटा की छटा छिटकाने लगती है। आध्यात्मिक अर्थ तो अब आधिभौतिक एवं आधिदैविक अनर्थों से मिलकर त्रिताप का रूप धारण कर रहा है।

काव्य और लोकजीवन

काव्य का प्रकृत जीवन से बहुत घनिष्ठ संबंध है। जब काव्य जीवन के वास्तविक पक्ष को छोड़कर बँधे-बँधाए कुछ विशिष्ट पक्षों को लेकर ही चलने लगता है तो आवश्यकता होती है कि वह सामान्य जीवन से फिर संलग्न हो। पश्चिमी देशों में काव्य जब कुछ विशिष्ट वर्गों का आश्रय लेकर चलने लगा तो उसे सामान्य जीवन से संबद्ध करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप जनवादी (प्रोलिटेरियन) उठे। उन्होंने काव्य में साधारण जनता को अधिकाधिक संनिविष्ट करने का बीड़ा उठाया। पश्चिमी देशों में लोकजीवन वैसी स्थिरता नहीं प्राप्त कर सका है जैसी भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही। अतः वहाँ लोक-

जीवन के नए नए स्वरूप कल्पित किए जाते हैँ और उनकी परख की जाती है। वहाँ जीवन के नए नए रूप प्रायोगिक अवस्था मैँ चलते रहते हैँ। एक के दोषपूर्ण सिद्ध होने पर दूसरा परीक्षित होता है। सामंजस्य की ठीक ठीक व्यवस्था न होने से घोर विप्लव या क्रांति के रूप मैँ नए नए स्वरूपोँ का विधान होने लगता है। इधर पश्चिमी देशोँ मैँ जिस प्रकार के आंदोलन चल रहे हैँ उनके प्रभाव से साहित्य मैँ यह भावना भी जोर पकड़ रही है कि काव्य का चरम लक्ष्य साधारण जनता का ही वृत्त-वर्णन होना चाहिए। भारत भी पश्चिमी आंदोलनोँ की प्रयोगशाला बनाया जा रहा है और साहित्य भी ग्रहग्रस्त हो रहा है। काव्य के क्षेत्र मैँ तो यह हवा उतने वेग से नहीँ चली किंतु गद्य के आख्यानोँ मैँ कहीँ कहीँ इसका प्रबल वेग दिखाई देने लगा है। साहित्य का जब जीवन से अखंड संबंध है तो यह आवश्यक है कि वह उसे छोड़कर न चले। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीँ कि साहित्य सांप्रदायिक भावना या किसी वाद के चक्कर मैँ पड़ जाए। हिंदी मैँ मुंशी प्रेमचंद नगरोँ के परिमित घेरे से निकलकर गाँवोँ के विशाल भूखंड पर जा खड़े हुए। यहाँ तक तो बात बनी रही, किंतु जब रूसी साहित्य की नकल पर कुछ लेखक श्रमजीवियोँ के बीच खड़े दिखाई पड़े तो साहित्य सांप्रदायिक विप्लव के गड्ढे मैँ जा गिरा। श्रमिक-जीवन का चित्रण साहित्य के लिए कोई पाप नहीँ। किंतु जीवन की विविधता का विचार करते हुए साहित्य उसके सब रूपोँ को समाहृत करके चलेगा। अतः पूर्ण जीवन मैँ से कोई एक खंड छाँटकर उसी के निरूपण मैँ संलग्न रहना और उसे ही साहित्य का चरम लक्ष्य घोषित करना अनुचित ही नहीँ, अपराध भी है। जिस प्रकार नगर के विलासमय जीवन के या किसी विशेष नागरिक-समुदाय के ही चित्रण मैँ लगा रहना अनुचित है उसी प्रकार साधारण वर्ग के लोगोँ का किसी विशेष भावना से प्रेरित होकर निरूपण करना भी। दोनोँ ही जीवन-रूपी शरीरी के अंग मात्र हैँ। जीवन के किसी एक अंग का ही स्वरूपबोध कराना साहित्य का लक्ष्य नहीँ।

इसी प्रकार किसी विशेष विचारधारा से प्रभावित होकर किसी समुदाय का केवल सत् स्वरूप और दूसरे का केवल असत् स्वरूप सामने लाना धोखा देना है। ऐसा करके जीवन का सच्चा स्वरूप व्यक्त नहीं किया जा सकता। किसी विशेष वर्ग में अच्छे और बुरे सभी प्रकार के लोग हुआ करते हैं। इसलिए एक समुदाय को अच्छा और दूसरे को बुरा कहना बहुतों का कोपभाजन होना तो है ही, काव्य की विभुता भी बिगाड़ना है। विदेशी साहित्य की अनावश्यक नकल शोभा की बात नहीं। भिन्न भिन्न देशों में परिस्थिति-भेद से चाल ढाल, रहन-सहन, आचार-विचार आदि में अंतर हुआ करता है। प्रत्येक देश का साहित्य अपने यहाँ के जीवन के बीच से ही अपना मार्ग निकालता है। अतः भिन्न भिन्न देशों के साहित्य में बाहरी भिन्नता स्पष्ट दिखाई देती है। किंतु ऐसी सामान्य भावभूमियाँ भी हैं जो सभी देशों के जीवन में पाई जाती हैं और काव्य में व्यंजित या अंकित होती हैं। जो लेखक इनकी ठीक ठीक पहचान रखता है वही सार्वभौम रूप में अपने काव्य का निर्माण करने में समर्थ होता है। यदि ये सर्वसामान्य भावभूमियाँ न हों और विभिन्न देशों के साहित्य वहाँ का केवल बाह्य जीवन ही चित्रित करते रहें तो उनकी रचनाएँ परिमित घेरे से आगे नहीं बढ़ सकतीं। भिन्न भिन्न देशों के लोग जो इतर देशों के साहित्य से आनंद उठाते हैं उसका कारण सर्वसामान्य भूमि ही है। सर्वसामान्य भावभूमि क्या है इसका विचार पहले किया जा चुका है, अर्थात् बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक देश में छोटे और बड़े के बीच तथा व्यक्ति और लोक के बीच जो नाना प्रकार के संबंध स्थापित होते हैं वे देशों की भिन्नता होते हुए भी सवत्र एक ही प्रकार के दिखाई देते हैं। माता अपने पुत्रों को प्यार करती है, बच्चे अपने बड़ों को चाहते हैं, लोक का कल्याण करनेवाला जनता द्वारा पूजा जाता है आदि। ये स्थितियाँ और विश्वास सर्वत्र एक से हैं। जीवन के इस सार्वभौम स्वरूप पर दृष्टि रखकर जिनकी वाग्धारा प्रवाहित होगी उनकी रचना किसी देश की छोटी सीमा के भीतर ही लहराती

रहेगी। वह उस महासागर तक पहुँचानेवाली भी होगी जहाँ लोक की विभिन्न विचारधाराओं का पर्यवसान होता है।

हिंदी में आलोचना का उद्भव

अंत में यह देखना चाहिए कि हिंदी में समीक्षा का वाङ्मय इन विदेशी विचारधाराओं से प्रभावित होकर कहाँ तक चला है और क्या इन विचारधाराओं से स्वच्छंद अपनी प्राचीन परंपरा पर भी कोई परिष्कृत रुचि के अनुसार आगे बढ़ा है ? जिस प्रकार काव्य-निर्माण में विदेशी नकल चलती रही उसी प्रकार समीक्षा में भी। कहीं तो अँगरेजी के ग्रंथों से इधर-उधर से एकत्र करके गद्यखंड रखे जाते रहे और कहीं कहीं उन्हीं की नकल पर अपनी भावमयी उक्तियाँ। विदेशी ग्रंथों की अनुकृति पर चलनेवाले अधिकतर अपने यहाँ के साहित्यशास्त्र से कोरे ही दिखाई पड़ते हैं। रस, अलंकार आदि दो-चार नामों के अतिरिक्त वे उनके स्वरूप के संबंध में प्रायः अनभिज्ञ होते हैं। इसीलिए विदेशी समीक्षा की चटक-मटकवाली बातों को चटकीली भाषा में प्रस्तुत करके वे प्रायः यह अवश्य कह दिया करते हैं कि हमारे साहित्य में संकीर्णता है। इस संकीर्णता के दलदल से समीक्षा का शकट निकाल बाहर करना वे अत्यंत आवश्यक समझते हैं। ऐसी पुस्तकों में सौंदर्य, कला आदि की मनमानी एवं मुग्धभाव से लिखी हुई बेढंगी परिभाषाएँ भी दी हुई मिलेंगी और स्वप्नशैली या प्रलापशैली में लिखी हुई समालोच्य ग्रंथ या कवि की प्रशंसा या निंदा। इस प्रकार की आलोचनाओं से उपकार के स्थान पर अपकार अधिक होता है, क्योंकि समीक्षा साहित्य का बुद्धिपक्ष है, अतः उसका शास्त्रसंमत एवं लोकसंमत होना बहुत आवश्यक है। वह विवेचन की शैली से चलती है, हृदय की भाव-शैली से नहीं। ऐसी पुस्तकों की देखादेखी पत्र-पत्रिकाओं में इस प्रकार के बहुत से लेख निकले हैं जिनमें लंबे-लंबे वाक्यों और अनोखे वाग्योगों द्वारा लेख का खोखला ढाँचा मात्र खड़ा कर दिया गया है। प्रभूत शब्द-राशि को झाड़ने-फटकारने पर भी कोई

सार वस्तु प्राप्त न होगी। इनकी अपेक्षा रस, रीति, अलंकार, ध्वनि आदि के पुराने बने-बनाए साँचों द्वारा जिन लोगों ने कवियों या काव्यों की साधारण ढंग से भी परख की है उनमें अपेक्षा कृत अधिक तत्त्व की बातें प्राप्त हो जाती हैं। आरंभ में यह दिखलाया ही जा चुका है कि ये सब कसौटियाँ या पद्धतियाँ काव्य का स्वरूप-बोध कराने या काव्य-निर्माण में सहारा मिलने के लिए निकाली गई थीं और निकालते समय पूर्ण विवेचन के साथ प्रस्तुत की गई थीं। यह अवश्य मानना पड़ता है कि पश्चिमी साहित्य के संपर्क में आने से समीक्षा की दृष्टि कुछ फैली। फल यह हुआ कि समीक्षा की व्याप्ति का सच्चा आभास देनेवाले समीक्षक हिंदी में दिखाई देने लगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के स्वच्छदृष्टि-संपन्न समालोचक पूर्वी पश्चिमी दोनों प्रकार की समीक्षा-पद्धतियों से भली भाँति परिचित दिखाई देते हैं और इस बात को पूर्णतया समझते हैं कि रस, अलंकार या व्यंजनावाली पूर्वी मीमांसा पुष्ट भूमि पर स्थित है। यही कारण है कि वे अपने यहाँ के शास्त्रों में से ही समीक्षा की व्यापक तर्कभूमि और कार्यभूमि निकाल लेते हैं और उसे विदेशीपन से मुक्त रखते हैं। पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र के शब्दों या सिद्धांतों का उल्लेख केवल उनकी विस्तार-सीमा का निर्धारण करने के लिए ही होता है। तात्पर्य यह कि वे परीक्षा के बाद पश्चिमी बातों की सारता या निःसारता देखते या दिखाते चलते हैं। अवसर अवसर पर अपने यहाँ की पुरानी बातों की भी भली भाँति छान बीन कर लेते हैं। हिंदी में इस प्रकार की तर्कसिद्ध गूढ़ गंभीर एवं मार्मिक समीक्षा-पद्धति के प्रवर्तक स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल हैं। जो लोग यह समझते हैं कि उनकी आलोचनाएँ विदेशी समीक्षा-शास्त्र पर आधृत हैं वे भ्रम में हैं। अब तक उनकी जितनी आलोचनाएँ निकली हैं वे भारतीय मानदंड को ही लेकर चली हैं। उनमें स्थान स्थान पर देशी-विदेशी सिद्धांतों का उल्लेख उन उन विषयों का ठीक बोध कराने के लिए अर्थात् देशी-विदेशी का भेद निर्दिष्ट करने के लिए हुआ है। किसी विदेशी समीक्षा-पद्धति से प्रभाविब न होकर उनकी मीमांसा निरपेक्ष

बुद्धि से संग्रह एवं त्याग करनेवाली है। उसने बहुतों को प्रभावित किया है और हिंदी में आज दिन उसी पद्धति के कारण सच्ची समालोचना का मार्ग प्रशस्त भी हो पाया है। उनके अनुकरण पर तत्त्वान्वेषिणी आलोचनाएँ निकलने लगी हैं, जिनमें उन्हीं के विचारों की विशेष छाप दिखाई देती है।

साहित्य का इतिहास

आदिकाल या वीरकाल

हिंदी-साहित्य का आरंभ कब से होता है यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि ऐतिहासिक सामग्री का बहुत कुछ अभाव है। फिर भी कुछ पुराने ग्रंथों के मिलने से यह अनुमान होता है कि पुरानी हिंदी का आरंभ वि० सं० १००० के आरंभ में हो गया होगा क्योंकि उस समय तक अपभ्रंशों की रचना बंद होने लगी थी और देशी भाषा में रचना का आरंभ हो गया था, जो पहले मुक्तक या स्फुट रूप में ही चलती रही। साहित्य का इतिहास आदि, मध्य और आधुनिक भेदों में बाँटा जाता है। यदि रस या वृत्ति के विचार से विभाग किया जाय तो वीर, भक्ति, शृंगार और प्रेम नाम से चार काल-विभाग होंगे। आदिकाल में कई प्रकार की रचनाएँ दिखाई देती हैं, किंतु अधिकतर रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें वीरों की प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं। इसलिए ऐतिहासकों ने इस काल का नाम 'वीरगाथा-काल' रख लिया है। इसकी दोनों सीमाएँ सं० १०५० और १३५० मान ली गई हैं।

रस के विचार से इस काल की रचनाएँ वीररस-प्रधान हैं। वीरों की प्रशस्ति लिखनेवाले भाट या चारण हुआ करते थे। उन दिनों भारत पर मुसलमानों के आक्रमण निरंतर होते रहते थे। अंतिम गुप्त सम्राट् हर्ष की मृत्यु के अनंतर भारत छोटे छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। सबको एक संबंध-सूत्र में बाँधे रहनेवाली सत्ता का सदा के लिए लोप हो गया। परिणाम यह हुआ कि देश पर बाहर से तो आक्रमण हो ही रहे थे भीतर भी पारस्परिक असहनशीलता चरम सीमा को पहुँच

गई। युद्ध लोकरक्षा के लिए न होकर बल या शक्ति के प्रदर्शन के लिए भी होने लगे। इसके फलस्वरूप उत्तरापथ रणचंडी के तांडव का क्षेत्र बना। वीरों का काम अपनी वीरता का आतंक जमाना मात्र रह गया। कवि लोग भी इन्हीं नरेशों का कीर्तिगान करने में लगे। युद्धों के लिए कोई व्याज होना चाहिए। किसी की सुंदर कन्या का पता चलते ही वह माँगी जाती थी और उसके न मिलने पर अपने को बलशाली सिद्ध करनेवाला आक्रमण कर देता था। तात्पर्य यह कि ये युद्ध मूल में प्रेम द्वारा प्रेरित थे। पाश्चात्य देशों में प्रेम और युद्ध (लव एंड वार) की बहुत सी कथाएँ मिलती हैं। हिंदी के आदिकाल की रचनाएँ भी प्रेम और युद्ध को लेकर चलीं।

ये रचनाएँ मुक्तक रूप में प्रस्तुत न होकर प्रबंध रूप में प्रस्तुत हुईं। ये प्रबंध भी दो प्रकार के दिखाई देते हैं। कुछ तो लंबे लंबे जीवनवृत्त लेकर चले और वर्णनात्मक प्रसंगों की योजना द्वारा विस्तार के साथ प्रबंध-धारा बहाने लगे तथा कुछ गान रूप में छोटी सी घटना को रंजक ढंग से वर्णन करने में लगे। पहली श्रेणी के अंतर्गत खुमानरासो, पृथ्वीराजरासो, जयचंदप्रकाश, जयमयंकजसचंद्रिका आदि ग्रंथ आते हैं। दूसरी श्रेणी में बीसलदेवरासो, आल्हा आदि रखे जा सकते हैं।

पृथ्वीराजरासो

पृथ्वीराजरासो को ऐतिहासिक जाली कहते हैं। परंपरा में प्रसिद्ध है कि 'चंद' नाम का पृथ्वीराज का एक दरबारी भाट था, जो शहाबुद्दीन द्वारा पृथ्वीराज के कैद कर लिए जाने पर उनके पीछे गजनी पहुँचा। वहाँ शब्दबेधी बाण के कौशल द्वारा गोरी के मारे जाने पर परस्पर शस्त्राघात से पृथ्वीराज और चंद स्वर्गवासी हुए। चंद के अनंतर उसके पुत्र जल्हन ने उसकी रचना पूर्ण की। प्राप्त पृथ्वीराजरासो में जल्हन द्वारा ग्रंथ की पूर्ति का उल्लेख भी पाया जाता है। पृथ्वीराजरासो में जो ऐतिहासिक घटनाएँ दी गई हैं वे इतिहास से मेल नहीं खातीं। नामों की भी गड़बड़ी पाई जाती है। संवतों का ब्यौरा भी

ठीक नहीं मिलता। भाषा भी बहुत इधर की दिखाई देती है। महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह तक का वृत्तांत उसमें संनिविष्ट है। अतः इस संबंध में दो ही अनुमान किए जा सकते हैं। एक तो यह कि पहले कोई रचना रही होगी जिसमें आगे के चारण या भाट कुछ न कुछ बराबर जोड़ते गए और अंत में इतना बड़ा ग्रंथ प्रस्तुत हो गया। दूसरे यह कि चंद नाम का कोई कवि था ही नहीं। जनश्रुति के अनुसार अमरसिंह ने जब पृथ्वीराज रासो देखने की इच्छा प्रकट की तो भाटों ने एक बहुत बड़ा पोथा उन्हें चमत्कृत करने के लिए प्रस्तुत कर दिया। पृथ्वीराजरासो की अभी पूरी छानबीन नहीं हुई है। पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह ज्यों का त्यों प्राचीन नहीं है। यदि उसमें कोई प्राचीन अंश हो भी तो बदलते बदलते इतना विकृत हो गया है कि उसका मूल रूप निकाल लेना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। भाटों के यहाँ और राजदरबारों में कुछ प्रतियों के पड़े रहने से पृथ्वीराजरासो में फिर भी बहुत नहीं तो कुछ ही प्राचीन रूप बने हुए हैं, किंतु आल्हाखंड की रचना तो स्थानभेद से भिन्न भिन्न रूप धारण कर चुकी है, क्योंकि वह बहुत प्राचीन काल से गेय रूप में चली आ रही है और गानेवाले उसमें यदृच्छा परिवर्तन करते आए हैं।

बीसलदेवरासो

बीसलदेवरासो पृथ्वीराजरासो से पुराना कहा जाता है। इतिहास से इसकी घटनाएँ भी नहीं मिलतीं। इसमें घटनाएँ बहुत कम हैं। अधिकतर भिन्न भिन्न प्रसंगों के वर्णन ही जुड़े हुए हैं। केवल रचनाकाल के आधार पर यह पुरानी रचना कहा जाता है। इसमें रचनाकाल इस प्रकार दिया हुआ है—

बारह से बहोत्तराँ मझारि,
जेठ बदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसायण आरंभइ,
सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि॥

'बहोत्तरहाँ' का अर्थ पहले लोग 'बहत्तर' करते थे और अब 'द्वादशोत्तर'। इस प्रकार यह रचना बारह सै बारह (१२१२) संवत् की मानी जाती है।[1] विग्रहराज चतुर्थ का, जो 'बीसलदेव' भी कहलाता था, एक शिलालेख सं० १२२० का मिलता है। इसलिए माना जाता है कि नरपति नाल्ह इन्हीं का दरबारी भाट रहा होगा जिससे यह 'रसायन' या 'रासो' गाने के लिए प्रस्तुत कर दिया। भाषा मेँ प्राचीन प्रयोग अधिक पाए जाते हैँ। विशेषण और विशेष्य का समानाधिकरण्य, षष्ठी की 'ह' विभक्ति, सप्तमी मेँ इकारांत रूप (मनि, घरि आदि) इसमेँ बहुत पाए जाते हैँ। ध्यान से देखने पर यह मानना पड़ता है कि इसमेँ भी बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैँ किंतु प्राचीनता थोड़ी बहुत बनी रह गई है। अधिक प्रयोग तो मारवाड़ी भाषा के दिखाई देते हैँ जिसमेँ पुराने रूप अब तक चले चल रहे हैँ। इसलिए बीसलदेवरासो पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से कोई बहुत पुष्ट बात नहीँ कही जा सकती। काव्यगत महत्त्व का विचार करते हैँ तो पृथ्वीराजरासो आदि मेँ तो लंबे-चौड़े वर्णनात्मक प्रसंगोँ के बीच कुछ काव्यतत्त्व मिल भी जाता है किंतु बीसलदेवरासो मेँ बिलकुल ही नहीँ या बहुत ही कम। इसलिए जो थोड़ा-बहुत विचार इतिहास की दृष्टि से हो सकता है वह भाषा-संबंधी ही।

स्फुट-रचनाएँ

आदिकाल मेँ उक्त वीर-काव्योँ के अतिरिक्त जो रचनाएँ दिखाई देती हैँ उनमेँ से कुछ जैन साधुओँ की लिखी तत्त्वज्ञान-विषयक हैँ। इनकी गणना पद्यबद्ध होने ही से काव्य के अंतर्गत नहीँ की जा सकती। केवल भाषा के विचार से ही इनका कुछ महत्त्व हो सकता है। अतः

---

१ श्रीगौरीशंकर हीराचंद ओझा ने एक लेख लिखकर इसे भी परकालीन रचना माना है।

इस काल में केवल दो विशिष्ट कवि और बच जाते हैं—एक अमीर खुसरो और दूसरे मैथिल-कोकिल विद्यापति।

अमीर खुसरो ने बहुत सी पहेलियाँ, मुकरियाँ, दुसखुने आदि लिखे तथा नीति की कुछ रचनाएँ की हैं। पहेलियों आदि में खड़ी बोली के पूर्वरूप का आभास मिलता है और नीति की रचनाओं में व्रजभाषा के सर्वसामान्य रूप का। अमीर खुसरो ने 'खालिकबारी' नाम का एक पर्यायवाची कोश भी प्रस्तुत किया था, जिसमें फारसी और हिंदी के शब्द पर्याय रूप में संगृहीत किए गए हैं। इसका उद्देश्य था कि हिंदी जाननेवाले फारसी शब्दों का और फारसी जाननेवाले हिदी शब्दों का ज्ञान प्राप्त करें। खुसरो ने यहाँ की भाषा के लिए 'हिंदी', 'हिंदवी' आदि शब्दों का बराबर व्यवहार किया है। यद्यपि यहाँ की लोकभाषा के लिए 'हिंदी' शब्द का व्यवहार और भी प्राचीन है तथापि खुसरो की रचना द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ की भाषा स्वच्छंद रूप से चल रही थी और उसमें पर्यायवाची शब्दों की पूर्ति के लिए पर्याप्त शब्द पाए जाते थे। अतः जो लोग आज यह कहने लगे हैं कि 'उर्दू' से अरबी-फारसी के शब्द हटाकर और गढ़े हुए संस्कृत शब्द बैठाकर 'हिंदी' बना ली गई है उनकी समझ अवश्य फिर गई है।

मैथिल-कोकिल विद्यापति इस काल के बहुत ही विशिष्ट कवि थे। इन्होंने संस्कृत के जयदेव कवि की परंपरा पर बहुत से गीत बनाए हैं। इन गीतों में शृंगार की अनेक अंतर्दशाओं और प्रेम के आलंबन की अनेक मुद्राओं का ऐसा भावमय निरूपण किया है कि भावुक हृदय उसमें मग्न हुए बिना नहीं रह सकता। विद्यापति ने देशी भाषा और अपभ्रंश दोनों में रचना की है। इनके समय तक अपभ्रंश का प्रचलन केवल साहित्य-भाषा के ही रूप में था। बोलचाल में देशी भाषाएँ आ गई थीं और उनमें साहित्य-रचना भी होने लगी थी। स्वयं विद्यापति अपनी 'कीर्तिलता' में, जो अपभ्रंश में है, लिखते हैं—

देसिल बअना सब जन मिट्ठा।

इससे स्पष्ट है कि वे देशी भाषा की सहज मिठास को माननेवाले थे। उन्हों ने जो अपभ्रंश लिखा उसमें भी मिठास लाने का वैसा ही प्रयास किया है। अपनी भाषा के इस वैशिष्टय पर लक्ष्य करके वे उसी ग्रंथ में लिखते हैं—

बालचंद विज्जावइ-भासा,
दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन-हासा।
ऊ परमेसुर हर-सिर सोहइ,
ई णिच्चइ नाअर-मन मोहइ॥

विद्यापति का यह अपभ्रंश कुछ प्रांतीय रूप भी लिए हुए है। इसलिए कहा जा सकता है कि यह 'मागधी अपभ्रंश' है जो देशव्यापी 'नागर अपभ्रंश' से प्रभावित था।

कभी कभी यह प्रश्न उठा करता है कि विद्यापति हिंदी के कवि समझे जायँ या बँगला के। बंगालियों ने उन्हें अपना कवि सिद्ध करने का घोर प्रयत्न कर रखा है। किंतु विद्यापति हिंदी के ही अधिक निकट दिखाई देते हैं। उनकी रचना मैथिली भाषा में है। जिस प्रकार मागधी प्राकृत से बँगला निकली उसी प्रकार मैथिली भी। किंतु बँगला ने जो रूप धारण किया उसके कारण विद्यापति की रचनाएँ उसके निकट नहीं दिखाई देतीं। 'अवधी' में लिखे गए 'रामचरित-मानस' का पढ़नेवाला विद्यापति की रचना जितनी अधिक समझता है उतनी 'कृत्तिवास' का 'रामायण' पढ़नेवाला नहीं। वस्तुतः हिंदी-साहित्य के अंतर्गत पुरानी साहित्यिक प्राकृतों में से बहुतों के परकालीन साहित्य का समावेश हो जाता है। हिंदी साहित्य जिस प्रकार शौरसेनी प्राकृत से निकली व्रजभाषा और शौरसेनी एवं पैशाची के मेल से उठ खड़ी हुई खड़ी बोली के साहित्य को अपने अंतर्गत समझता है उसी प्रकार शौरसेनी और मागधी के मेल अर्थात् उन दोनों की विशेषताओं को वहन करनेवाली अर्धमागधी से निकली 'अवधी' के साहित्य को भी। इसी प्रकार मागधी से निकली मैथिली का साहित्य भी उसी का साहित्य समझा जायगा, क्योंकि शब्दावली के विचार से वह हिंदी के

ही निकट है। बँगला ने तो अपनी बहन मैथिली से अपने को एकदम पृथक् कर लिया है। ध्यान में रखना चाहिए कि विद्यापति ने जिस मैथिली का व्यवहार किया है वह मैथिली एकदम बोलचाल की भाषा नहीं है। उसका परिष्कृत रूप ही उनकी रचनाओं में दिखाई देता है। यह परिष्कार भी सर्वसामान्य काव्यभाषा व्रज के ढर्रे पर किया गया है। इसलिए विद्यापति की रचनाएँ भाषा और साहित्य दोनों के विचार से हिंदी ही के अंतर्गत आती हैं।

विद्यापति की रचनाओं के संबंध में अधिकतर बंगाली लेखकों ने अध्यात्म की चर्चा उठाई है, अर्थात् यह कहना चाहा है कि वे शृंगार की न होकर अध्यात्म की हैं; स्थूल दृष्टि से उनकी कृति को केवल शृंगार की समझना अपने को भ्रम में डालना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा कहनेवाले स्वयं भ्रम में हैं। विद्यापति शैव थे पर अपनी देशी भाषा की रचनाओं में उन्होंने श्रीकृष्ण और राधिका की प्रेम-लीलाओं का वर्णन किया है। श्रीकृष्ण और राधिका रीतिशास्त्र के ग्रंथों में शृंगाररस के काव्यसिद्ध आलंबन माने गए हैं। अतः विद्यापति के राधाकृष्ण शृंगार या काव्य के देवता हैं, भक्ति के नहीं। विद्यापति की इस आध्यात्मिक विवेचना के अनुकरण पर महात्मा सूरदासजी की रचनाओं के भी विलक्षण आध्यात्मिक अर्थ किए जाने लगे हैं। अध्यात्म पर काव्य ने कभी चढ़ाई नहीं की, किंतु काव्य पर अध्यात्म का यह आक्रमण ईति की भाँति असह्य हो उठा है।

पूर्वमध्यकाल या भक्तिकाल

पृथ्वीराज के साम्राज्य का विध्वंस होने के अनंतर भारत में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो गया। अब तक मुसलमानों के आक्रमण द्रव्यलोभ से ही हुआ करते थे पर अब उसका स्थान राज्यलोभ ने ले लिया। भारत में ज्यों ही शासक के रूप में उनके पैर टिके त्यों ही यहाँ के निवासियों में कुछ कुछ निराशा का संचार होने लगा। इस निराशा का निवारण आवश्यक था। इसके साथ ही जब मुसलमान यहाँ

गए तो इसकी भी आवश्यकता हुई कि कोई सर्वसामान्य मार्ग ऐसा प्रस्तुत हो जिस पर दोनों निर्विरोध चल सकें। इसके लिए कुछ कवि आगे बढ़े। ईश्वर की एकरूपता और मनुष्यों की एकता प्रतिपादित करनेवाले कवि दोनों जातियों में दिखाई पड़े। कुछ ने केवल एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया और कुछ हृदय की निराशा मिटाने में लगे। ईश्वर की भक्ति के कई मार्ग दिखलाए गए। कुछ ने मुसलमानों के एकेश्वरवाद का सहारा लेकर निर्गुण से उसका मेल मिलाया। कुछ मुसलमानों के बीच से ऐसे कवि निकले जिन्होंने पैगंबरी कट्टरपन को त्याग कर चलनेवाले सूफी मत की सर्वग्राही प्रेमानुभूति में जनता को लीन करने का प्रयत्न किया। जब इससे भी काम चलता न दिखाई पड़ा, प्रत्युत समाज में मर्यादा की ठीक ठीक व्यवस्था होती न दिखाई पड़ी, तो कुछ कवियों ने प्राचीन भक्तिमार्ग का आश्रय लिया। इस प्रकार ईश्वर-भक्ति की ओर ले जानेवाले कई मार्गों पर काव्यधारा प्रवाहित होने लगी। आरंभ में निर्गुणमार्गी संत दिखाई पड़े। उनके अनंतर सगुण भक्ति का काव्य के व्याज से प्रतिपादन करनेवाले प्रेम-मूर्ति एवं लोकमूर्ति कवियों की वाग्धारा फूटी। इस प्रकार सं० १३७५ के आस-पास से लेकर सं० १७०० के आसपास तक हिंदी काव्यक्षेत्र में भक्ति की कविताओं का प्राधान्य दिखाई देता है। इसका विभाजन यों किया गया है—
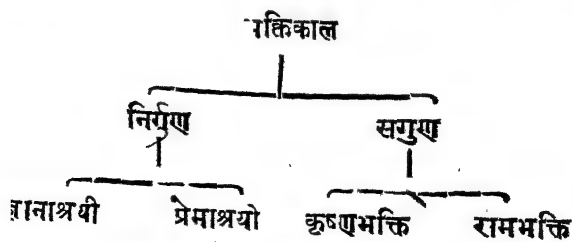
भारतवर्ष में ईश्वर की साधना के कई मार्ग बहुत प्राचीन काल से दिखाई देते हैं—योगमार्ग, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और उपासनामार्ग या

भक्तिमार्ग। इनमें से योगमार्ग और कर्ममार्ग प्राचीन माने जाते हैं। योगवाले तो अपने मार्ग की प्राचीनता वेदों से भी पहले ले जाते हैं। जो भी हो, प्राचीन योगमार्ग का ग्रहण बौद्धधर्म के भीतर उस समय विकृत रूप में किया गया जब उसमें हीनयान और महायान की शाखाएँ फूटीं। महायान में भी वज्रयान और सहजयान नाम के मार्ग निकले। सहजयान की उपासना तांत्रिक रूप में भारत में बहुत दिनों तक चलती रही। यही संप्रदाय बौद्धों के विध्वस्त हो जाने पर भी 'सहजिया' नाम से बना रहा, जिसमें से आगे चलकर नाथपंथ फूटा। नाथपंथ में मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ आदि प्रसिद्ध सिद्ध हो गए हैं। उनके विचारों एवं मतों का राजपूताना, पंजाब आदि प्रांतों में प्रसार हुआ। इन पंथों के भीतर जाति-पाँति का कोई भेद नहीं था। फल यह हुआ कि नीची श्रेणी के लोग, जो शास्त्रीय अध्ययन से कोरे थे, उत्साह के साथ इसकी ओर बढ़े।

निर्गुन-पंथ

सिद्धों एवं निर्गुनियों की परंपरा मिलानेवाले सूत्र का ठीक ठीक पता नहीं चलता। निर्गुण को उपासना के लिए लेकर सर्वसामान्य भक्तिपंथ का आभास देनेवाले महाराष्ट्र के नामदेव माने गए हैं।[१] नामदेव की रचना में दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। प्राचीन भक्ति-संप्रदाय के अनुगमन पर की गई रचनाएँ और नए निर्गुण-पंथ के ढंग की रचनाएँ। इनकी पहले प्रकार की रचनाएँ कदाचित् उस समय की हैं जब ये नए पंथ की ओर मुड़े नहीं थे। अतः ज्ञानमार्गी निर्गुण-शाखा के आदिकवि नामदेव ही निश्चित होते हैं। नामदेव महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त हैं। जिस प्रकार उनके बहुत से अभंग महाराष्ट्री भाषा में पाए जाते हैं उसी प्रकार पद हिंदी में भी। किंतु नामदेव ने निर्गुन-पंथ को कोई व्यवस्थित रूप नहीं दिया। उसे व्यवस्थित रूप में लानेवाले कबीरदास ही जान पड़ते हैं। इनकी रचनाएँ एक प्रकार से

---

१. देखिए शुक्लजी का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास'।

विभिन्न धार्मिक मतों का समन्वित रूप लेकर चलनेवाली हैं। नाथ-पंथियों के प्रभाव से ये भली भाँति प्रभावित हुए। ये स्वामी रामानंद के शिष्य कहे जाते हैं और ऐसी भी प्रसिद्धि है कि शेख तकी ऐसे सूफी फकीर से इनका सत्संग हुआ था। कबीर द्वारा एक बात की पूर्ति अवश्य हुई। नाथपंथियों के योगमार्ग में भक्ति का विधान नहीं था। किंतु कबीर साहब ने अपनी रचनाओं द्वारा ज्ञान और भक्ति दोनों का समन्वित रूप सामने रखा। भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित होने के कारण इनकी रचनाओं में अद्वैतवादी वचन भी मिलते हैं। सूफियों के सत्संग के कारण प्रेमतत्त्वपरक वचन भी पाए जाते हैं। वैष्णव भक्तों का अहिंसावाद भी इनकी रचनाओं में मिलता है। हिंदू और मुसलमानों की एकता स्थापित करने के प्रयत्न में ये विशेष रूप से संलग्न हुए। ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद, प्रेममार्गी सूफी मत, अहिंसाप्रधान प्रपत्तिवादी वैष्णव मत मुसलमानी एकेश्वरवाद और नाथपंथियों का योगमार्ग ये उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर दिखाई देते हैं। इन्होंने अधिकतर नीची श्रेणी के अपढ़ लोगों को प्रभावित करने का प्रयत्न किया। पढ़े-लिखे लोगों पर इनका तथा इसी प्रकार के अन्य निर्गुन-पंथी संतों का वैसा प्रभाव नहीं दिखाई देता। अपढ़ जनता को आकृष्ट करने के लिए योगसाधना और ज्ञानमार्ग की फुटकल बातों को अपनी उलटवाँसियों द्वारा चमत्कारपूर्ण रूप से लक्षित कराने का इन्होंने प्रयास किया था। प्राचीन भक्तिमार्ग ज्ञान और कर्म दोनों के सामंजस्य के साथ चलनेवाला था। कबीर ने ज्ञान को तो ग्रहण किया पर कर्म की वैसी व्यवस्था उनके पंथ में न हो सकी। इसीलिए प्राचीन भक्तिमार्ग के सच्चे स्वरूप को पहचाननेवाले महात्मा तुलसीदास इस कर्महीन निर्गुन-पंथ के संतों को लक्ष्य करके कहते हैं—

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि निंदहिं बेद-पुरान॥

वस्तुतः ये संत बातें तो वे ही कहते थे जो प्राचीन शास्त्रों में पहले ही कही जा चुकी थीं, किंतु पद्धति अवश्य विलक्षण थी। अपने पंथ

को नवीन तथा वेदशास्त्रादि से पृथक् बतलाने के लिए ये उन्हें असत्य कथन करनेवाला भी कह दिया करते थे। ये अपढ़ जनता को यह भी बतलाते थे कि इस निर्गुण-साधना में ऐसी विशेषता है कि साधक सुर, नर, मुनि आदि सबसे बढ़ जाता है। कबीर साहब कहते हैं--

झीनी झीनी बीनी चदरिया।

× × × ×

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी,
ओढ़ि कै मैली कर दीनी चदरिया।
दास कबीर जतन सों ओढ़ी,
जैसी की तैसी धर दीनी चदरिया॥

जो भी हो, कबीर के प्रयत्न से जनता में एकता का भाव अवश्य जगा। यद्यपि इन्होंने भक्ति, प्रेम आदि की भी व्यंजना एवं निरूपण किए तथापि इनमें प्रधानता ज्ञान की ही दिखाई देती है। अतः कबीर आदि संतों का पंथ ज्ञान-प्रधान है। इसीसे इन्हें 'ज्ञानाश्रयी' कहा गया है।

कबीर की सब रचनाएँ शुद्ध काव्य के अंतर्गत आ सकती हैं, इसमें संदेह है। योगसाधना की प्रक्रिया का उल्लेख करनेवाली, नाड़ी, चक्र, सुरत, निरत ब्रह्मरंध्र आदि का विवरण देनेवाली रचनाएँ काव्य के अंतर्गत नहीं मानी जा सकतीं। जिनमें प्रेमतत्त्व का निरूपण है या जिनमें पति-पत्नी, सेव्य-सेवक, पिता-पुत्र आदि लौकिक संकेतों से रहस्य-संकेत किए गए हैं वे ही काव्य के भीतर ली जा सकती हैं।

कबीर ने अपभ्रंश की दोहापद्धति और जनता की गीतपद्धति इन दोनों में प्रचुर रचनाएँ की हैं। इनकी भाषा भी कई प्रकार की देखी जाती है। दोहे आदि में साधु-संतों की वह खिचड़ी भाषा है जिसमें खड़ी बोली का पुराना रूपरंग विशेष दिखाई देता है। गीतों या पदों में सामान्य काव्यभाषा ब्रज का विशेष पुट है। कुछ रचनाएँ पूर्वी भाषा का रंग लिए हुए भी हैं। कबीर की भाषा में पुराने प्रयोग बहुत दिखाई देते हैं इसलिए भाषा की दृष्टि से इनकी रचना का अधि

महत्त्व है। हिंदी की वह स्थिति साफ साफ मिल जाती है जब उसमें संयुक्त क्रियाओं के वर्तमान रूपों से मिलनेवाले रूपों के बनने का लगा लग चुका था। विशेषण-विशेष्य का समानाधिकरण्य भी दिखाई देता है और पुरानी विभक्तियों का प्रयोग भी।

ज्ञानमार्गी शाखा के अंतर्गत कबीर साहब के अनंतर गुरु नानक, दादूदयाल, सुंदरदास आदि संतों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनकी निर्गुन-भावना में थोड़ा थोड़ा भेद भी लक्षित होता है। जैसे गुरु नानक की रचना में 'साकार' की भावना का भी समावेश है। गुरु नानक अटपटी बानी कहकर लोगों को आकृष्ट करनेवाले नहीं थे। कबीर ने जैसी डाँट-फटकार दिखलाई वह भी गुरु नानक में नहीं दिखाई देती। भक्तों के हृदय में जैसी सरलता अपेक्षित होती है वह इनमें पूर्ण थी। फलस्वरूप इनकी रचनाएँ कबीर की रचनाओं की अपेक्षा सरल और सरस हैं। पदों की भाषा में कई भाषाओं का मेल है। ये पंजाब के थे इसलिए काव्यभाषा ब्रज और लोकभाषा खड़ी के अतिरिक्त कहीं कहीं इनकी रचना में पंजाबी का भी मेल है। इनकी रचनाओं का संग्रह 'ग्रंथ साहब' में मिलता है, जिसमें कुछ पद शुद्ध पंजाबी के हैं।

दादूदयाल (सं० १६०१ से १६६०) यद्यपि निर्गुन-पंथ के ही अनुयायी थे तथापि इन्होंने 'दादूपंथ' नाम से एक स्वच्छंद पंथ चलाया। इनमें अंतर्मुखी रहस्य की प्रवृत्ति वैसी नहीं जैसी कबीर में थी। डाँट-डपट की अभिरुचि इन्हें भी नहीं थी। इनकी रचनाएँ प्रेम-भाव से पूर्ण दिखाई देती हैं। जाति-पाँति के निराकरण, हिंदू-मुसलमानों की एकता आदि पर इनके जो पद मिलते हैं वे तर्क-प्रेरित न होकर हृदय-प्रेरित दिखाई देते हैं।

सुंदरदास (सं० १६५३ से १७४६ तक) की रचना सभी संतों की अपेक्षा साहित्यिक है। इनकी रचनाओं में काव्यत्व की मात्रा अन्य संतों की अपेक्षा बहुत अधिक है। ये संतमत की बातों को काव्य के क्षेत्र में लाने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। यही कारण है कि इन्होंने ब्रजभाषा के परिष्कृत रूप का व्यवहार किया है और संतों के पद

और दोहों की शैली छोड़कर कवियों की कवित्त और सवैयावाली शैली ग्रहण की है। उसमें कुछ आलंकारिक चमत्कार का विधान भी कर दिया है। इन्होंने भिन्न भिन्न देशों के आचार-विचार पर कवि के नाते व्यंग्य भी किया है। इन्होंने अटपटी बानी कहीं भी नहीं रखी। नए ढंग का सृष्टि-तत्त्व भी इन्होंने शास्त्रीय ही कहा है। मनमानी योजना इन्होंने कहीं नहीं की। निर्गुण-मत को मानते हुए भी इन्होंने लोकधर्म के विरुद्ध बातें नहीं की हैं।

यद्यपि निर्गुण-मत के अनुसार रचना करनेवाले ज्ञानमार्गी अनेक संत हो गए हैं तथापि औरों में अपनी विशेषताएँ पृथक् पृथक् नहीं दिखाई देतीं। इन संतों ने अपने अलग अलग पंथ भी चलाए हैं। जिनमें से दादूदयाल को परंपरा में आगे चलकर सत्यनामी संप्रदाय निकला। निर्गुन-पंथ में कोई दार्शनिक मतवाद नहीं दिखाई देता। अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि की जो भावनाएँ पहले से चली आती थीं उन्हीं को संतों ने अपने शब्दों में हेर-फेर के साथ रख दिया है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि निर्गुन-पंथ में देशी-विदेशी कई दार्शनिक प्रवृत्तियों का मेल है।

प्रेममार्गी शाखा

भक्तिकाल में दूसरी धारा प्रेममार्गी कवियों की दिखाई देती है। प्रेम-काव्यों का आरंभ अलाउद्दीन के समय में मुल्ला दाऊद की 'नूरक और चंदा' नामक प्रेमकथा से होता है। पदमावत की प्रस्तावना में मलिक मुहम्मद जायसी ने कुछ प्रेमकथाओं का उल्लेख किया है—

विकरम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
मधू पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधे कुँवर खँडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह बियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरवर साधा। उषा लागि अनिरुध बर बाँधा॥

यहाँ प्रेमी और प्रेमिकाओं की चर्चा दृष्टांत के रूप में है। किंतु

इनमेँ से कुछ कथाएँ काव्यबद्ध भी मिली हैँ। यदि विक्रम और अनिरुद्ध की पौराणिक कथाएँ छोड़ भी दी जायँ तो भी मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती ये चार नाम बच रहते हैँ। इनमेँ से मृगावती और मधुमालती का पता चला है। जान पड़ता है कि प्रेम-काव्योँ की यह परंपरा हिंदी मेँ कम से कम उतनी ही प्राचीन है जितनी हिंदी के निर्गुन-पंथी ज्ञानमार्गी कवियोँ की।

प्रेमकाव्योँ मेँ दो धाराएँ स्पष्ट दिखाई देती हैँ—एक शुद्ध प्रेम-काव्य की और दूसरी सूफी रहस्यकाव्य की। हिंदी मेँ प्रेमकाव्योँ का चलन विदेशियोँ द्वारा हुआ हो सो नहीँ। इसकी लड़ी संस्कृत के प्रेम-काव्योँ से जोड़ी जा सकती है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य मेँ भैम-रथी, सुमनोत्तरा, वासवदत्ता आदि कई प्रेमकाव्योँ का उल्लेख किया है। नामोँ से जान पड़ता है कि ये प्रेमकाव्य कल्पित कथावाले ही थे। आगे चलकर बाण की कादंबरी, सुबंधु की 'वासवदत्ता' आदि जो प्रेमकाव्य लिखे गए वे उसी परंपरा मेँ हैँ। इनके अनंतर भी ऐसी ही प्रेमकहानियाँ गद्य मेँ कई लिखी गईँ, जिनका सिलसिला बारहवीँ शती तक चलता रहा। प्राकृत और अपभ्रंशोँ मेँ भी ऐसे कल्पित प्रेमकाव्य अवश्य चलते रहे होँगे। जनता मेँ उन पुरानी प्रेम-कहानियोँ का प्रचार मौखिक रूप मेँ भी हो गया होगा और कथा मात्र रह गई होगी। बीच बीच मेँ अनगढ़ पद्यखंड भी सुनाई पड़ते रहे होँगे। सूफियोँ ने इन्हीँ प्रचलित कहानियोँ को आरंभ मेँ अपनी प्रेम-भावना व्यक्त करने के लिए चुना। यही कारण है कि संस्कृत की प्रेम-कहानियोँ का ढाँचा इनमेँ बहुत कुछ मिल जाता है। योग-संप्रदाय मेँ भी कुछ ऐसी कहा-नियाँ अवश्य चलती रही होँगी जिनमेँ योगमार्ग के भीतर राजाओँ के योगसाधन की चर्चा की गई होगी। गोपीचंद और भर्तृहरि की प्रचलित कहानी से इसका कुछ आभास मिल सकता है। सूफियोँ मेँ सिंहलद्वीप की चर्चा बराबर रहती है। यह योगियोँ की भावना का ही परिणाम है, जो सिंहलद्वीप मेँ पद्मिनी स्त्रियोँ के होने की कल्पना किया करते हैँ। संस्कृत के प्रेमकाव्योँ मेँ शुद्ध प्रेम का ही निरूपण है। अतः वे शुद्ध

साहित्यिक ग्रंथ हैं। किंतु सूफियों में रहस्यवाद की सांप्रदायिक प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। वस्तुतः इन्होंने काव्य का सहारा अपनी प्रेम-भावना के प्रसार के लिए ही लिया। सूफियों के काव्यों में साहित्य के विधि-विधानों का पूरा पूरा समावेश इसी से नहीं हो पाया। प्रेम के दोनों पक्षों संयोग और वियोग के भीतर जितनी साहित्यिक विधियाँ पुराने प्रेमकाव्यों में गृहीत हो चुकी थीं और मौखिक कथाओं में बच रही थीं उन्हीं का ग्रहण इन्होंने किया; जैसे संयोग में नखशिख आदि का और वियोग में बारहमासे आदि का।

काव्य लिखने का ढंग इनका विदेशी ही है। फारसी में प्रेम-काव्यों की मसनवी शैली प्रचलित है; इसी शैली में ये प्रेमकाव्य भी लिखे गए। हाँ, छंद इन्होंने हिंदी के दोहा-चौपाई लिए। दोहे और चौपाइयों की परीक्षा से दिखाई देता है कि पिंगल के नियमों की पूर्ति भी इनके प्रेमकाव्यों में भली भाँति नहीं हो पाई। मात्राओं की न्यूनाधिकता तो है ही, इन्होंने अर्धाली को ही पूरी चौपाई मानकर दो दोहों के बीच कहीं सात, कहीं नौ, कहीं ग्यारह अर्धालियाँ रखी हैं। भारतीय प्रबंध-काव्यों का ढाँचा न लेने से कथाएँ सर्गबद्ध नहीं हैं। जैसे फारसी की मसनवी शैली में बीच बीच में प्रसंगों के शीर्षक रख दिए जाते हैं वैसे ही इन प्रेमकाव्यों में भी।

इन काव्यों में मसनवी शैली पर ईश्वर की वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, शाहेवक्त की प्रशंसा, गुरुपरंपरा, अपने मित्रों आदि का विवरण आरंभ में दिया जाता है। इसके अनंतर कथा आरंभ होती है। प्रत्येक कथा में किसी देश का राजा दूसरे देश की रूपवती राज-कुमारी का रूप-वर्णन सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए योगियों का वेश धारण करके निकल पड़ता है। राजा और राजकुमारी के बीच संबंध जोड़नेवाला कोई पक्षी (प्रायः सुग्गा) हुआ करता है। अंत में अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करके राजा इच्छित राजकुमारी पा जाता है। रनिवास में आने पर कहीं युद्ध से और कहीं अन्य कारणों से राजा की मृत्यु हो जाती है। राजा की परिणीता और प्रेमिका दोनों सती

होती हैं। इस प्रकार सूफियों के प्रेमकाव्य साहित्य की दृष्टि से दुःखांत ही दिखाई देते हैं, किंतु सांप्रदायिक भावना के कारण ये सुखांत ही माने जाने चाहिएँ। क्योंकि इनमें राजा साधक, राजकुमारी ब्रह्मज्योति और पक्षी मध्यस्थ या गुरु निरूपित किया जाता है। मार्ग में पड़नेवाली विघ्न-बाधाएँ साधना में पड़नेवाले प्रत्यूह हैं। इसी से राजा योगियों के वेश में राजकुमारियों को खोजने निकलते हैं। प्रमकथा के लौकिक पक्ष के साथ आत्मा और ब्रह्म के अलौकिक पक्ष की योजना कर लेने से साधक या प्रेमी के राजकुमारी या साध्य तक पहुँचने के पूर्व ही प्रेम की पीड़ा का घोर रूप सामने लाया गया है। यदि केवल लौकिक दृष्टि से विचार करें तो राजकुमारियों द्वारा प्रदर्शित यह पीड़ा कामपीड़ा ही मानी जायगी और प्रबंध की दृष्टि से भोंड़ी होगी, किंतु ब्रह्म की अलौकिक दृष्टि से उसका समाधान हो जाता है।

इन काव्यों में बीच बीच में भी अवसर आने पर पात्रों द्वारा रहस्य-संकेत कराए गए हैं। ये संकेत कुछ तो बहुत चलते हुए दृष्टांत हैं और कुछ सांप्रदायिक धारणाएँ। इहलोक और परलोक को नैहर और ससुराल कल्पित करना अथवा इन्हें हाट मानना चलते दृष्टांत हैं। किंतु सारे जगत् को उसी की सत्ता से प्रोद्भासित कहना या उसका प्रतिबिंब मानना सांप्रदायिक उदाहरण हैं। प्रकाश और अंधकार के रूप में ज्ञान और अज्ञान या मायाच्छन्न जीव और ब्रह्म का संकेत देना तथा अहंकार के त्याग का संकल्प दिखाना आदि सिद्धांतगत प्रतीक हैं। बीच बीच के ऐसे संकेतों में इन्होंने समस्त काव्य में स्वीकृत रूपक या अध्यवसान का ध्यान नहीं रखा है। तात्पर्य यह कि प्रस्तुत के बीच अप्रस्तुत के विभिन्न छोटे छोटे संकेत भी मिलते रहते हैं। इसलिए प्रबंध-काव्य का स्वारस्य नष्ट नहीं होने पाया है। रहस्य का संकेत काव्य में इसी रूप में स्वाभाविक कहा भी जा सकता है। फिर भी इनमें योगियों की साधना के प्रसंग कुछ विवरणों के साथ रखे हुए मिलेंगे। यही नहीं, वस्तुओं की सूची भी स्थान स्थान पर व्यर्थ ही विस्तारपूर्वक जुड़ी हुई है। मुद्रालंकार का विधान तो इनमें अतिरेक को पहुँच गया है।

सूफीमत में ब्रह्म को भावना दो रूपों में की जाती है। कुछ तो उसका 'जमाल' देखते हैं और कुछ 'जलाल'। जमाली ईश्वर की सुंदरता ग्रहण करते हैं और जलाली ऐश्वर्य। भक्ति में प्रेम और श्रद्धा का मेल है। प्रेम का संबंध सौंदर्य से और श्रद्धा का ऐश्वर्य, शक्ति, शील आदि से है। हिंदी के सूफी कवियों ने ब्रह्म की सुंदरता ही ग्रहण की है और उसे प्रेमस्वरूप ही दिखलाया है। अतः इनका स्वरूप श्रीकृष्ण की प्रेम-लक्षणा भक्ति करनेवाले भक्त कवियों का सा ही था। सूफियों के प्रभाव से कृष्णभक्त कवियों में आगे चलकर 'इश्क मजाजी' इतनी बढ़ी कि उनके काव्य प्रेम-व्यापार के कोश हो गए।

जायसी

सूफी कवियों की प्रेमगाथाएँ प्रायः कल्पित हैं, पर मलिक मुहम्मद जायसी ने कल्पित कथा इतिहास के साथ जोड़ दी है। पद्मावत का पूर्वार्द्ध कल्पित कहानी है, किंतु उत्तरार्द्ध में एक तो कवि प्रेमियों के व्यक्तिपक्ष से हटकर लोकपक्ष पर आ गया है और दूसरे कथा अलाउद्दीन और पद्मिनी के ऐतिहासिक आख्यान से जुड़ गई है। इसके कारण पद्मावत अन्य प्रेमकाव्यों से पृथक् ही नहीं, प्रबंध की दृष्टि से उत्कृष्ट भी हो गया है। अन्य सूफी काव्यों में अधिकतर प्रेम, करुणा, श्रद्धा, भक्ति आदि कोमल भाव ही व्यक्त हुए हैं किंतु लोकदृष्टि से समन्वित होकर पद्मावत को कुछ उग्र भाव भी लाने पड़े हैं। युद्ध, उत्साह, क्रोध, खीझ आदि उग्र भावों में यद्यपि कवि वैसी गंभीरता नहीं दिखा सका है जैसी प्रेम, करुणा आदि कोमल भावों में, तथापि इनके विधान से उसमें प्रबंधत्व की अपेक्षित सामग्री थोड़ी बहुत अवश्य जुड़ गई है।

मलिक मुहम्मद में व्यापक तत्त्वदृष्टि भी थी। सूफी सृष्टि को ब्रह्म से वियुक्त कल्पित करते हैं और संसार में जहाँ जहाँ आनंद, सुख आदि दिखाई देते हैं वहाँ वहाँ ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं। जायसी ने शांकर अद्वैत की भाँति आत्मा और ब्रह्म की एकता का भी आभास दिया है।

उन्हों ने पद्मावत के अतिरिक्त 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' नामक दो पुस्तकें तत्त्वज्ञान-विषयक लिखी हैं। इनमें उन्हों ने सहमार्गियों से बढ़कर तत्त्वचिंतन की कुछ बातें कही हैं। सिद्धांत की दृष्टि से तो सूफीमत भारत के विशिष्टाद्वैत-संप्रदाय से मिलता-जुलता है किंतु जायसी ने मायारूप में सृष्टिव्यापार की कल्पना करके अपने को वेदांत के अधिक निकट पहुँचा दिया है।[1]

रहस्यगत पृथक्ता

यहाँ प्रेममार्गी और ज्ञानमार्गी कवियों के रहस्यवाद पर भी विचार कर लेना चाहिए। निर्गुन-पंथ को व्यवस्थित करनेवाले कबीर ने रहस्य की जैसी प्रवृत्ति दिखलाई है वैसी औरों ने नहीं। कबीर ने रहस्य का संकेत या आभास कई लौकिक संबंधों द्वारा व्यक्त किया है। कहीं पिता और पुत्र, कहीं स्वामी और सेवक, कहीं शासक और शासित तथा कहीं पति और पत्नी का संबंध प्रतिष्ठित किया गया है। सूफियों ने केवल प्रिय और प्रेमी का ही संबंध रखा है। कृष्णभक्ति के माधुर्य भाव जैसी ही सूफियों की भी कल्पना थी। अंतर यह है कि भक्ति में ईश्वर पति अर्थात पुरुष और आत्मा पत्नी है, किंतु सूफियों की प्रेमपद्धति में साध्य (ईश्वर) स्त्री और साधक (आत्मा) पुरुष है। बीच में नायिका द्वारा जो संकेत कराए गए हैं उनमें अवश्य भारतीय माधुर्य भाव का सा ही ढाँचा है। वस्तुतः मुसलमानी धर्म में ईश्वर (खुदा) लिंगहीन माना जाता है।

ज्ञानमार्ग में मुक्तकों का ही प्रचार था पर प्रेममार्गी सूफियों ने प्रबंध-काव्यों की पद्धति गृहीत की। इसमें काव्य की दृष्टि से प्रेम की विभिन्न अंतर्दशाओं की व्यंजना का पूर्ण अवकाश था। साधना-पक्ष से साधक की दशाओं का विघ्न-बाधामय रूप प्रदर्शित करने का भी पूरा अवसर उन्हें मिला।

---

१ देखिए स्व० आचार्य रामचंद्र शुक्ल संपादित 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका।

प्रेमकाव्य की परंपरा के मुख्य कवि हैँ—मृगावती के कर्ता कुतबन (सं० १५५०), मधुमालती के रचयिता मंझन (सं० १५६०), पद्मावत के प्रणेता मलिक मुहम्मद जायसी (सं० १५७७), चित्रावली के लेखक उसमान (सं० १६७०), ज्ञानदीप के लेखक शेख नबी (सं० १६७६), हंस-जवाहिर के निर्माता काशिम शाह (सं० १७८८) और इंद्रावती के कवि नूर मुहम्मद (सं० १८०१)। यद्यपि इस प्रकार की बहुत सी रचनाएँ प्रस्तुत हुईँ तथापि उनमेँ वैसी काव्यशक्ति नहीँ दिखाई देती।

सगुण-भक्तिधारा

निर्गुन-पंथ द्वारा देशवासियोँ मेँ एकता का प्रसार अवश्य हुआ। ज्ञानमार्गी संतोँ ने बहुत कुछ पृथक्ता हटाई। प्रेममार्गी सूफियोँ ने हृदयोँ के प्रेमसूत्र जोड़ने का व्यापक प्रयत्न किया। दूसरे शब्दोँ मेँ कबीर आदि से बुद्धि की तो कुछ संतुष्टि हुई, किंतु हृदय की वैसी नहीँ। प्रेममार्गियोँ ने उसका भी प्रयास किया। पूर्ण मनस्तुष्टि के लिए जागरित भाव के निमित्त प्रकृत आलंबन अपेक्षित होता है। यह न ज्ञानपंथ मेँ था, न सूफी प्रेममार्ग मेँ। अतः प्राचीन भक्तिमार्ग की धूमिल पड़ती हुई पद्धति को फिर से स्पष्ट करने और बाह्य एवं आभ्यंतर दोनोँ प्रकार की संतुष्टि के विचार से सगुण-लीला के गीत गाए जाने लगे। एक ओर रामभक्ति गृहीत हुई और दूसरी ओर कृष्णभक्ति। नारायणी या भागवत धर्म भारत मेँ अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है। भक्ति मेँ राम और कृष्ण का भेद प्राचीन काल मेँ नहीँ था। वासुदेव की ही भक्ति चलती थी। इधर हिंदी मेँ भक्त कवि जब सगुण-लीला का वर्णन करने मेँ लगे तो उन्हेँ भिन्न भिन्न महात्माओँ से राम और कृष्ण की भक्ति की प्रेरणा प्राप्त हुई।

व्यास के ब्रह्मसूत्र पर स्वामी शंकराचार्य ने अपना भाष्य लिखकर जब से अद्वैत का प्रतिपादन किया और जगत् को मिथ्या एवं उसमेँ प्रतीत होनेवाली सत्यता को माया कहा, तब से इसका भी प्रयत्न

लगा कि जगत् ब्रह्म की सत्ता के भीतर ही दिखाई दे। प्राचीन काल मेँ ज्ञान, भक्ति और कर्म के जो पृथक् पृथक् मार्ग थे उनमेँ से शंकर ने ज्ञान का ही विशिष्ट रूप मेँ प्रतिपादन किया। यद्यपि लोक-व्यवहार मेँ उन्होँ ने निर्गुण के अतिरिक्त सगुण की सत्ता भी स्वीकृत की और उसके साथ भक्ति को भी थोड़ा सा अवकाश दिया, तथापि जो मार्ग प्रस्तुत किया गया वह शुद्ध ज्ञान का ही मार्ग था, उसमेँ कर्म और भक्ति दोनोँ ही के लिए पूर्ण अवकाश नहीँ था। फलस्वरूप ज्ञान की उसी चरम कोटि तक भक्ति को भी ले जाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अन्य महात्माओँ ने व्याससूत्र पर भाष्य लिखकर भक्ति के लिए अवकाश कर लिया।

रामभक्ति-शाखा

स्वामी रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर 'श्री-भाष्य' लिखकर विशिष्टाद्वैत-मत का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार ब्रह्म चित् और अचित् दो सूक्ष्म विशेषताओँ से युक्त माना गया। सूक्ष्म चित् से स्थूल चित् अर्थात् जीव की और सूक्ष्म अचित् से स्थूल अचित् अर्थात् जगत् की उत्पत्ति मानी गई। इस प्रकार जगत् को भी ब्रह्म के भीतर ही मान लेने से भक्ति का प्रकृत आलंबन खड़ा हो गया। रामानुजाचार्य ने श्री-संप्रदाय की प्रतिष्ठा की और प्राचीन भक्तिमार्ग के अनुसार नारायण या विष्णु की उपासना चलाई। इन्हीँ की शिष्य-परंपरा मेँ रामानंदजी हुए। रामानंद ने यद्यपि श्री-संप्रदाय की ही दीक्षा ली तथापि अपनी भक्ति-पद्धति कुछ विशेष प्रकार की रखी। इन्होँने नारायण या विष्णु की भक्ति के स्थान पर विष्णु के ही अवतार लोकरक्षक राम की उपासना चलाई। राम की भक्ति पहले भी चलती थी, विष्णु के जैसे और रूप चलते थे वैसे ही रामरूप भी। किंतु इन्होँने विष्णु के अन्य अवतारोँ या रूपोँ मेँ से रामरूप को विशेष महत्त्व दिया। इन्हीँ के चेले थे निर्गुन-पंथ के प्रवर्तक कबीर और इन्हीँ के शिष्य हुए भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास, जिन्होँने अनेक शैलियोँ मेँ 'रामचरित' लिखकर लोक-मानस मेँ रामभक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा की।

तुलसीदास

तुलसीदास ने रामानंद द्वारा गृहीत राम का रूप अपनी विविध रचनाओं से अत्यधिक चमकाया। उन्होंने श्रव्यकाव्य की सभी चलती पद्धतियों में रामचरित गाया। वीरकाल की भाटोंवाली छप्पय, कवित्त, सवैया की पद्धति पर 'कवितावली' बनाई। छप्पय और सवैया भी उस समय कवित्त ही कहे जाते थे। विद्यापति और सूरदास आदि की गीत-पद्धति पर राम-गीतावली, कृष्ण-गीतावली तथा विनयपत्रिका लिखी। अपभ्रंश-काल से चली आती नीति की दोहा-शैली पर 'दोहावली' की रचना की। सूफी कवियों द्वारा गृहीत चौपाई-दोहावाली पद्धति पर 'राम-चरित-मानस' का प्रणयन किया। ग्रामगीतों के ढर्रे पर संस्कारों के अवसर पर गाने योग्य सोहरों में जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल और रामलला-नहछू निर्मित हुए। साहित्य में तुलसी को दो भाषाएँ दिखाई पड़ीं। एक तो ब्रज और दूसरी अवधी। ब्रज काव्य की सर्वसामान्य भाषा थी और अवधी का प्रयोग जायसी आदि प्रबंध-काव्यकर्ताओं ने किया था। 'रामचरित-मानस' में इन्होंने सूफियों से भाषागत विशेषता भी उत्पन्न की। उसे ठेठ रूप में न रखकर परिष्कृत भी किया अर्थात् साहित्यिक बनाया। पर संस्कारों के अवसर के अनुकूल लिखी गई पार्वती-मंगल आदि पोथियों में अवधी का ठेठ रूप ही रखा गया है जिसे लोग 'पूरबी अवधी' कहते हैं।

तुलसीदास रामभक्ति को वैसा ही सर्वसुलभ मानते हैं जैसे अन्न और जल। इन्होंने भक्तिमार्ग को न तो ज्ञानमार्ग का विरोधी माना है, न कर्ममार्ग का। वे 'मानस' के आरंभ में ही लिखते हैं—

मुदमंगलमय संतसमाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥
रामभगति जहँ सुरसरिधारा। सरसइ ब्रह्मविचार-प्रचारा॥
बिधिनिषेधमय कलिमलहरनी। करमकथा रबिनंदिनि बरनी॥
हरिहर-कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल-मुद-मंगल-देनी॥

भक्ति के साथ ज्ञान और कर्म दोनों का मेल हो जाने से प्राचीन

काल से चले आते त्रिविध मार्गों का बहुत ही सुंदर समन्वय हो गया है। तुलसीदास ने इस प्राचीन भक्तिमार्ग को ग्रहण करते हुए अन्य प्राचीन मार्गों से निरर्थक विरोध का प्रसंग कहीं उपस्थित ही नहीं किया। निर्गुन-पंथियों का विरोध इसलिए किया कि वे प्राचीन भक्ति-मार्ग को न मान अपना स्वतंत्र मार्ग चलाकर नेता बनना चाहते थे।

उन्हों ने ज्ञानमार्ग को कठिन कहकर ही सबके लिए अनुपयुक्त माना है। 'मानस' के सप्तम सोपान में वेद स्तुति करते हुए कहते हैं—

जो ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन-जस नित गावहीं॥

वे ज्ञान के साथ भक्ति को आवश्यक समझते हैं क्योंकि बिना भक्ति के चित्त को वैसी स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती जैसी उसके रहते हुए। 'ज्ञान-दीपक' और 'भक्ति-मणि' का लंबा-चौड़ा रूपक बाँधकर इसी बात का प्रतिपादन किया है। अतः उनका मत है—

जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुरदुर्लभपदादपि परत हम देखत हरी॥

इतना होने पर भी उन्हों ने स्पष्ट घोषणा की—

भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा।
तदपि मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सुनु सोउ बिहंगबर॥

समन्वय की यह प्रवृत्ति केवल सिद्धांत-पक्ष में ही नहीं थी, व्यवहार में भी थी। 'मानस' का मंगलाचरण करते हुए उन्हों ने कविप्रथा के अनुसार गणेश और सरस्वती की वंदना तो की ही, साथ ही शिव, विष्णु आदि देवों की भी वंदना की। यद्यपि तुलसीदास अपने भक्ति-संप्रदाय की दृष्टि से राम को परात्पर ब्रह्म ही मानते थे और उनको 'बिधि हरि संभु नचावनहारे' ही कहते थे, तथापि लोक में समन्वय स्थापित करने के विचार से वे राम और शिव को एक ही मानते थे और शिव को 'सेवक स्वामि सखा सियपिय के' घोषित करते थे। समन्वय की ही यह प्रवृत्ति थी कि 'राम-गीतावली' लिखने पर 'कृष्ण-गीतावली' भी लिखी और 'जानकी-मंगल' बनाकर 'पार्वती-मंगल' भी

बनाया। पौराणिक पंचदेवोपासना का विचार उन्होंने स्थान स्थान पर रखा है। विनयपत्रिका के आरंभ में गणेश, सूर्य, शिव, शक्ति, विष्णु सबकी प्रार्थना की गई है। समन्वय की इस प्रवृत्ति को अब चाहे हम उनकी व्यक्तिगत विशेषता मानें चाहे उनके स्मार्त वैष्णव होने का फल समझें।

तुलसीदास ने भक्ति के साथ काव्य का अनोखा मेल कर दिया है। बहुत से स्थानों पर तो सहसा यह लक्षित ही नहीं होता कि ऐसा काव्य के विचार से लिखा गया है। 'मानस' में ऐसा विशेष दिखाई देता है। मंगलाचरण में दुर्जनों की भी स्तुति की गई है। लोग विचारेंगे कि ऐसा भक्ति के उद्रेक से किया गया है। किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है शास्त्र में प्रबंध-काव्य में दुर्जनों की स्तुति (व्याजनिंदा) मंगलाचरण का अंग मानी गई है। धनुषयज्ञ के अवसर पर यज्ञभूमि में राम को लोग अनेक रूपों में देखते हैं। ईश्वरावतार होने के कारण ही नहीं, काव्य में उल्लेख (अलंकार) की पद्धति पर ऐसी ही योजना होती है। जो अलंकार नहीं जानते वे इसे भगवल्लीला ही समझेंगे।

तुलसीदास ने काव्य की वह भूमि ली है जो सबके अनुकूल पड़ती है। मर्यादा की प्रतिष्ठा का कारण यह भी है। शृंगार के अवसरों पर वे बहुत ही सतर्क रहते हैं। शास्त्र की दृष्टि से शृंगार में पूर्वराग की भी प्रतिष्ठा की जाती है। जनक की पुष्पवाटिका में गुरु विश्वामित्र के पूजन के लिए राम जब पुष्प लेने जाते हैं तभी सीता भी वहाँ आ जाती हैं। परस्पर एक दूसरे को देखने से उनके हृदयों में पूर्वराग जगता है। सीता भी लता-ओट में राम की छबि देखती हैं और राम का मन भी क्षुब्ध होता है। लक्ष्मण से वे मन के क्षोभ की चर्चा यों करते हैं—

तात जनकतनया यह सोई। धनुषयज्ञ जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखी लेइ आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥

प्रबंध में ही नहीं मुक्तक-रचना में भी मर्यादा सुरक्षित है। ग्राम-वधूटियाँ सीता से राम का परिचय पूछती हैं—

काल से चले आते त्रिविध मार्गों का बहुत ही सुंदर समन्वय हो गया है। तुलसीदास ने इस प्राचीन भक्तिमार्ग को ग्रहण करते हुए अन्य प्राचीन मार्गों से निरर्थक विरोध का प्रसंग कहीं उपस्थित ही नहीं किया। निर्गुन-पंथियों का विरोध इसलिए किया कि वे प्राचीन भक्ति-मार्ग को न मान अपना स्वतंत्र मार्ग चलाकर नेता बनना चाहते थे।

उन्हों ने ज्ञानमार्ग को कठिन कहकर ही सबके लिए अनुपयुक्त माना है। 'मानस' के सप्तम सोपान में वेद स्तुति करते हुए कहते हैं—

जो ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन-जस नित गावहीं॥

वे ज्ञान के साथ भक्ति को आवश्यक समझते हैं क्योंकि बिना भक्ति के चित्त को वैसी स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती जैसी उसके रहते हुए। 'ज्ञान-दीपक' और 'भक्ति-मणि' का लंबा-चौड़ा रूपक बाँधकर इसी बात का प्रतिपादन किया है। अतः उनका मत है—

जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुरदुर्लभपदादपि परत हम देखत हरी॥

इतना होने पर भी उन्हों ने स्पष्ट घोषणा की—

भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा।
तदपि मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सुनु सोउ बिहंगबर॥

समन्वय की यह प्रवृत्ति केवल सिद्धांत-पक्ष में ही नहीं थी, व्यवहार में भी थी। 'मानस' का मंगलाचरण करते हुए उन्हों ने कविप्रथा के अनुसार गणेश और सरस्वती की वंदना तो की ही, साथ ही शिव, विष्णु आदि देवों की भी वंदना की। यद्यपि तुलसीदास अपने भक्ति-संप्रदाय की दृष्टि से राम को परात्पर ब्रह्म ही मानते थे और उनको 'बिधि हरि संभु नचावनहारे' ही कहते थे, तथापि लोक में समन्वय स्थापित करने के विचार से वे राम और शिव को एक ही मानते थे और शिव को 'सेवक स्वामि सखा सियपिय के' घोषित करते थे। समन्वय की ही यह प्रवृत्ति थी कि 'राम-गीतावली' लिखने पर 'कृष्ण-गीतावली' भी लिखी और 'जानकी-मंगल' बनाकर 'पार्वती-मंगल' भी

बनाया। पौराणिक पंचदेवोपासना का विचार उन्होंने स्थान स्थान पर रखा है। विनयपत्रिका के आरंभ में गणेश, सूर्य, शिव, शक्ति, विष्णु सबकी प्रार्थना की गई है। समन्वय की इस प्रवृत्ति को अब चाहे हम उनकी व्यक्तिगत विशेषता मानें चाहे उनके स्मार्त वैष्णव होने का फल समझें।

तुलसीदास ने भक्ति के साथ काव्य का अनोखा मेल कर दिया है। बहुत से स्थानों पर तो सहसा यह लक्षित ही नहीं होता कि ऐसा काव्य के विचार से लिखा गया है। 'मानस' में ऐसा विशेष दिखाई देता है। मंगलाचरण में दुर्जनों की भी स्तुति की गई है। लोग विचारेंगे कि ऐसा भक्ति के उद्रेक से किया गया है। किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है शास्त्र में प्रबंध-काव्य में दुर्जनों की स्तुति (व्याजनिंदा) मंगलाचरण का अंग मानी गई है। धनुषयज्ञ के अवसर पर यज्ञभूमि में राम को लोग अनेक रूपों में देखते हैं। ईश्वरावतार होने के कारण ही नहीं, काव्य में उल्लेख (अलंकार) की पद्धति पर ऐसी ही योजना होती है। जो अलंकार नहीं जानते वे इसे भगवल्लीला ही समझेंगे।

तुलसीदास ने काव्य की वह भूमि ली है जो सबके अनुकूल पड़ती है। मर्यादा की प्रतिष्ठा का कारण यह भी है। शृंगार के अवसरों पर वे बहुत ही सतर्क रहते हैं। शास्त्र की दृष्टि से शृंगार में पूर्वराग की भी प्रतिष्ठा की जाती है। जनक की पुष्पवाटिका में गुरु विश्वामित्र के पूजन के लिए राम जब पुष्प लेने जाते हैं तभी सीता भी वहाँ आ जाती हैं। परस्पर एक दूसरे को देखने से उनके हृदयों में पूर्वराग जगता है। सीता भी लता-ओट में राम की छवि देखती हैं और राम का मन भी लुब्ध होता है। लक्ष्मण से वे मन के क्षोभ की चर्चा यों करते हैं—

तात जनकतनया यह सोई। धनुषयज्ञ जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखी लेइ आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा।'

प्रबंध में ही नहीं मुक्तक-रचना में भी मर्यादा सुरक्षित है। ग्राम-व[धूटियाँ]
सीता से राम का परिचय पूछती हैं—

सादर बारहिँ बार सुनाइ चितै तुम त्योँ हमरो मन मो हैँ।
पूछति ग्रामबधू सिय सौँ कहौ साँवरे से सखि रावरे को हैँ ।।

यहाँ 'चितै तुम त्यौँ' पद ध्यान देने योग्य हैँ। राम जब देखते हैँ तो सीता की ओर ही, उन ग्राम-वधूटियों की ओर नहीँ। मर्यादा का इतना ध्यान रखने पर भी 'रामलला-नहछू' के अल्प शृंगार की लोगों ने कड़ी टीका की है। उसमें दशरथ लोगों को कामुक दिखाई पड़ते हैँ। ऐसा कहनेवाले यह नहीँ समझते कि 'रामलला-नहछू' की रचना किस लिए की गई है? उपनयन एवं विवाहगत नहछू के अवसर पर गाने के लिए यह रचना हुई है। उनका लक्ष्य था कि साधारण जनता अश्लील गानों के स्थान पर राम के गीत गाए। तुलसी सब प्रकार की रुचिवालों के अनुरूप रामचरित प्रस्तुत करना चाहते थे। अतः संस्कारों के अवसर पर गाए जानेवाले पदों में भी रामचरित गाया गया। इसी से साधारण जनता की रुचि का भी कुछ ध्यान उन्हें रखना ही पड़ा; कुछ विनोदपूर्ण बातेँ जोड़नी ही पड़ीँ—

काहेँ को रामजिउ साँवर लछिमन गोर हो।
परि गा रानि कौसिलहिँ जानहुँ भोर हो ।।

तुलसी ने सब प्रकार की रुचिवालों का ध्यान बराबर रखा है। विनय-पत्रिका मेँ संस्कृतगर्भित पदावली संस्कृत-प्रेमियों या पंडितों को आकृष्ट करने के लिए है। कोमल और उग्र दोनों प्रकार के भावों के अनुकूल शब्दयोजना रखने से उसका आकर्षण कोमलकांत पदावली मेँ निर्मित 'गीतगोविंद' से कहीँ बढ़ गया है। अलंकारानुरागियों के लिए दोहावली मेँ चमत्कारपूर्ण दोहे भी रखे गए हैँ। उन्होंने उच्च नीच, बाल-वृद्ध, युवक-युवती सभी की रुचि का विचार रखा, इसमेँ रत्ती भर भी संदेह नहीँ।

यही नहीँ प्रबंध, मुक्तक तथा पद्य-निबंध के रूप मेँ उन्होंने कई प्रकार की रचनाएँ कीँ। अतः विविधता के विचार से हिंदी मेँ इनके ऐसा समर्थ कवि दूसरा नहीँ। सूरदास मुक्तक लिख सकते थे, प्रबंध नहीँ। जायसी ने प्रबंध-काव्य अवश्य लिखा, पर वे भली भाँति प्रेम-वृत्ति

ही का निरूपण कर सकते थे। जीवन की विविध परिस्थितियों एवं भावों की अनेकरूपता उनमें भी कहाँ। केशवदास चमत्कार दिखा सकते थे, पर 'मानस' जैसी भावों की गहराई उनकी रचना में डूबने पर भी नहीं मिलती। अतः तुलसीदास को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानना उचित ही है।[1]

अन्य कवि

रामभक्ति-शाखा में अधिक कवि नहीं हुए। यदि भक्ति का विचार करें तो इस शाखा के अंतर्गत तीन ही और प्रधान कवि दिखाई देते हैं—स्वामी अग्रदास, नाभादास और प्राणचंद चौहान। अग्रदास (सं० १६३२) ने राम के ध्यान पर कुछ रचनाएँ लिखी हैं। इन्होंने राम का कोमल रूप ही ग्रहण किया है। भाषा इनकी अपरिष्कृत है। नाभादास (सं० १६५७) अग्रदास के शिष्य थे। इन्होंने 'भक्तमाल' में २०० भक्तों का चमत्कार-बोधक चरित्र छप्पय छंद में लिखा है। उपास्य के नाम, रूप, लीला और धाम सबका इन्होंने वर्णन किया है। इनकी फुटकल रचनाएँ अधिक नहीं मिलतीं। कृष्णभक्ति शाखा के कवियों की रीति, पर इन्होंने भी प्रेमलक्षणा भक्ति थोड़ी-बहुत दिखलाई है। प्राणचंद चौहान ने 'रामचरित' पर कई नाटक लिखे। तुलसीदास ने रामचरित रूपक-पद्धति पर नहीं प्रस्तुत किया था। इन्होंने अपनी रचना द्वारा उसकी पूर्ति कर दी।

इन कवियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे लोग भी दिखाई देते हैं जिन्होंने रामकथा पर रचना तो की, पर उनकी रचनाएँ भक्ति के अंतर्गत ली जा सकती हैं, इसमें संदेह है। जैसे हृदयराम (सं० १६८०) का हनुमन्-नाटक। यह नाटक अधिकतर संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर अनुवाद रूप में प्रस्तुत हुआ है। रामभक्ति के भीतर हनुमद्भक्ति भी आ जाती है। हनुमानजी पर कई छोटी छोटी रचनाएँ हुई हैं।

---

१ देखिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत 'तुलसीदास'।

कृष्णभक्ति-शाखा

कृष्णभक्ति-शाखा की रचनाओं का आरंभ हिंदी में वल्लभाचार्य के समय से होता है। वल्लभाचार्य ने प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता) पर भाष्य लिखे हैं। ब्रह्मसूत्र पर इनका भाष्य 'अणुभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्हों ने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। यह माना कि ब्रह्म में दो प्रकार की अचिंत्य शक्तियाँ होती हैं—आविर्भाव की और तिरोभाव की। उसके सत्, चित् और आनंद तीन स्वरूप हैं। वह अपनी शक्तियों द्वारा जगत् के रूप में परिणत भी हो जाता है और उससे परे भी रहता है। वह अपने स्वरूप का कहीं आविर्भाव और कहीं तिरोभाव किए रहता है। जीव के रूप में उसका सत् और चित् आविर्भूत रहता है और आनंद तिरोभूत। जड़ में सत् ही आविर्भूत रहता है और शेष दोनों स्वरूप तिरोभूत।[1] इस प्रकार इन्हों ने शांकर अद्वैत को मायावाद से शुद्ध करके अपने मत का प्रतिपादन किया। अतः इनका मत 'शुद्धाद्वैत' कहलाया। इन्हों ने भी कृष्ण को परब्रह्म माना और उन्हें दिव्य गुणों से संपन्न 'पुरुषोत्तम' कहा। उनके लोक को व्यापी वैकुंठ बतलाया और गोलोक को उस व्यापी वैकुंठ का एक खंड, जिसके अंतर्गत वृंदावन, यमुना, गोवर्धन, निकुंज आदि सभी नित्य हैं। इन्हीं में भगवान् गोचारण, रासक्रीड़ा आदि लीलाएँ नित्य किया करते हैं। जीव यदि इस नित्य लीला में प्रविष्ट हो जाय तो उसे परम गति प्राप्त होती है। जीव का इस नित्यलीला में प्रवेश भगवान् के अनुग्रह या पोषण ही से हो सकता है। इस भगवदनुग्रह को पोषण या पुष्टि मानने से ही वल्लभाचार्य का चलाया हुआ मार्ग 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। इनके मत और मार्ग का विश्लेषण करने से यह लक्षित होता है कि "शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक। वल्लभाचार्य ने बात उलटकर सगुण को ही असली पारमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप

---

१ देखिए शुक्लजी कृत 'हिंदी-साहित्य का इतिहास'।

कहा।"[१] भक्ति के भीतर पूज्य-बुद्धि या श्रद्धा और सौंदर्य-बुद्धि या प्रेम का मिश्रण होता है। वल्लभ-संप्रदाय में उसका एक ही अंश अर्थात् प्रेम का ग्रहण हुआ। अतः इनकी भक्ति 'प्रेमलक्षणा भक्ति' कहलाती है। वल्लभाचार्य के पुत्र और शिष्य विट्ठलनाथ हुए। इन्हों ने वल्लभाचार्य के अधूरे अणुभाष्य की पूर्ति की। इन्हीं ने कृष्णलीला का गान करने के लिए आठ कवियों का चुनाव 'अष्टछाप' के नाम से किया था; जिनके नाम हैं—सूरदास, नंददास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी और चतुर्भुजदास।

सूरदास

अष्टछाप के कवियों में शिरोमणि हुए सूरदास। संस्कृत में जयदेव ने 'गीतगोविंद' लिखकर काव्य में जो गीतों की परंपरा चलाई उसका अनुगमन देशी भाषा के काव्यों में भी हुआ। सब से पहले गीतपद्धति पर मैथिल-कोकिल विद्यापति ने देशी वाणी में अपनी बहुत सी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उन्हीं के अनुगमन पर कृष्णभक्ति-शाखा के हिंदी-कवियों में भी गीतों का विशेष प्रचार हुआ। गीतों की छानबीन करने से स्पष्ट पता चलता है कि कुछ तो लौकिक गीत हैं और कुछ साहित्यिक। लौकिक गीतों में वाङ्मय की प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है। जनता के बीच गाए जानेवाले गीत बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। निर्गुण-धारा के कवियों ने भी गीतपद्धति में अपनी बहुत सी रचनाएँ की हैं। कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने भी गीतपद्धति पकड़ी और उसमें विशेष रूप से साहित्यिक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। विद्यापति और सूरदास के गीतों में अंतर दिखाई देता है। विद्यापति ने गीतों में श्रीकृष्ण का साहित्य-परंपरा में स्वीकृत रूप ही लिया है। भक्ति के उपास्य देवता के रूप में श्रीकृष्ण और राधिका के गीत उन्हों ने नहीं गाए। सूरदास की रचनाएँ भक्ति को लेकर चलीं। उनके भगवद्विनय के बहुत से पद पृथक् मिलते हैं। भगवल्लीला का वर्णन करते हुए भी अंतिम चरण में सूरदास

---

१ वही, पृष्ठ १६३।

ने श्रीकृष्ण को प्रभु, स्वामी आदि विशेषणों से बराबर स्मरण किया है। यह कह चुके हैं कि इस शाखा में भगवान् की प्रेमलक्षणा भक्ति ही गाई गई है। अतः इन कवियों के लिए श्रीकृष्ण का उतना ही जीवन पर्याप्त था जितना वृंदावन और उसके अनंतर मथुरा-प्रवास में व्यतीत हुआ। महाभारत में युद्ध-संचालक के रूप में धर्म की सच्ची व्यवस्था करनेवाले श्रीकृष्ण के लोकरक्षक रूप का ग्रहण इसमें नहीं हो सका। वृंदावन में भी दुष्टों के दलन का जो प्रभाव उपस्थित किया गया उसमें क्रोध, उत्साह आदि उग्र भावों का सम्यक् विधान नहीं दिखाई देता। अतः कृष्णभक्त कवियों की रचनाएँ एकांगी हुईं और उनमें श्रीकृष्ण का एकांत जीवन ही विविध छटाओं के साथ गाया गया।

प्रश्न है कि क्या सूर की भक्ति सख्यभाव की थी? सूर ने विनय के जितने पद लिखे उनमें तो सेव्य-सेवक-भाव की ही प्रतिष्ठा है। उन्होंने भगवान् के लिए प्रभु, स्वामी आदि शब्दों का व्यवहार किया है। अतः साहित्य की दृष्टि से उनकी भक्ति सख्यभाव की नहीं लक्षित होती। भक्ति के दो अवयवों (श्रद्धा और प्रेम) में से विशेषतः एक (प्रेम) ही के ग्रहण करने से उनकी भक्ति के स्वरूप में कोई अंतर नहीं पड़ा है। यद्यपि वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने से अष्टछाप के सभी कवियों ने श्रीकृष्ण की बाललीला का कुछ न कुछ वर्णन किया है तथापि सूरदास का सा न तो उनमें विस्तार ही है और न वह गहराई ही। उनमें अधिकतर यौवनलीला का ही ग्रहण हुआ है। अन्य कृष्णभक्त कवियों में तो बाललीला की रचना है ही नहीं। सूर ने बाल और यौवन दोनों लीलाओं का वर्णन समान अभिनिवेश के साथ किया है।

यदि काव्य की दृष्टि से देखें तो सूर के समक्ष वर्णन-सामग्री अधिक नहीं थी किंतु श्रीकृष्ण के नटखट जीवन का सहारा लेकर उन्होंने बाललीला के अंतर्गत अनेक प्रसंगों की उद्भावना की। यौवनलीला में भी वृंदावन के उन्मुक्त जीवन में रहने के कारण नवीन प्रसंगों के लिए बहुत अधिक विस्तृत काव्यभूमि निकल आई है। कृष्ण और गोपियों का प्रेम केवल सुंदरता के आग्रह से प्रस्फुटित नहीं हुआ था। उनकी

क्रीड़ाएँ एक दूसरे के जीवन का अंग बन गई थीं। बहुत दिनों तक साथ साथ रहने के कारण उन लोगों का प्रेम परिपुष्ट होता गया और वह इतना पक्का हो गया कि जीवन भर न छूटा। इसी लिए गोपिकाएँ उद्धव से कहती हैं कि 'लड़िकाई को प्रेम कहौ अलि! कैसे छूटै।" यदि यह प्रेम केवल सुंदरता की भूमि पर स्थित होता तो कदाचित् उसमें वैसी तीव्रता न होती जैसी उसके संसर्गगत होने से दिखाई देती है। वर्ण्य सामग्री के अतिरिक्त जब उद्दीपक सामग्री का विचार करते हैं तो यमुना के कछार, व्रज के वन, करील के कुंज आदि प्राकृतिक विभूतियाँ उनके चतुर्दिक फैली दिखाई देती हैं। ये उद्दीपक सामग्रियाँ भी वर्ण्य के ही अंतर्गत हैं, उनसे पृथक् नहीं। अतः बाहरी उद्दीपनों का विधान करने के लिए कवि को कोई कृत्रिम प्रयास नहीं करना पड़ा। अब रहे आलंबन-गत उद्दीपन। इन उद्दीपनों की संख्या भी परिमित है। श्रीकृष्ण की अनेक चेष्टाएँ, उनका त्रिभंगी रूप, उनकी नटखटपने की बातें, उनकी मुरली की तान आदि का अनेक भंगिमाओं के साथ उल्लेख किया गया है। सूर ने वर्ण्य सामग्री कृष्णजीवन में उतनी अधिक नहीं पाई जितनी सूरसागर ऐसे प्रकांड ग्रंथ के लिए अपेक्षित थी। अतः उन्हें प्रत्येक प्रसंग के अनुरूप नवीन उद्भावनाएँ करने की आवश्यकता पड़ी और इसमें संदेह नहीं कि उन्हों ने अनेकानेक मार्मिक एवं नूतन उद्भावनाएँ कीं। प्रबंध का लंबा-चौड़ा मैदान न मिलने पर भी सूर ने जो अनेक पद विभिन्न अवसरों के गाए वे उनकी नवीन कल्पना कर सकने की प्रबल शक्ति के परिचायक हैं। नवीनोद्भावना के अतिरिक्त सूर ने अपनी रचनाओं का विस्तार अप्रस्तुत की योजना द्वारा भी किया है। एक एक प्रसंग पर उन्हों ने जितने पद लिखे हैं उनमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टांत आदि साम्यमूलक अलंकारों के व्याज से एक पर एक अप्रस्तुत लादे गए हैं। इस प्रकार जीवन के छोटे से दायरे में भी उन्हों ने कहने-सुनने के लिए बहुत लंबी-चौड़ी काव्यभूमि प्रस्तुत कर ली है। एक एक प्रसंग ही नहीं, एक एक वस्तु और एक एक अवयव पर ही उनकी न जाने कितनी उक्तियाँ हैं। इन उक्तियों में पार्थक्य की स्थापना करना सरल काम नहीं

ने श्रीकृष्ण को प्रभु, स्वामी आदि विशेषणों से बराबर स्मरण किया है। यह कह चुके हैं कि इस शाखा में भगवान् की प्रेमलक्षणा भक्ति ही गाई गई है। अतः इन कवियों के लिए श्रीकृष्ण का उतना ही जीवन पर्याप्त था जितना वृंदावन और उसके अनंतर मथुरा-प्रवास में व्यतीत हुआ। महाभारत में युद्ध-संचालक के रूप में धर्म की सच्ची व्यवस्था करनेवाले श्रीकृष्ण के लोकरक्षक रूप का ग्रहण इसमें नहीं हो सका। वृंदावन में भी दुष्टों के दलन का जो प्रभाव उपस्थित किया गया उसमें क्रोध, उत्साह आदि उग्र भावों का सम्यक् विधान नहीं दिखाई देता। अतः कृष्णभक्त कवियों की रचनाएँ एकांगी हुई और उनमें श्रीकृष्ण का एकांत जीवन ही विविध छटाओं के साथ गाया गया।

प्रश्न है कि क्या सूर की भक्ति सख्यभाव की थी? सूर ने विनय के जितने पद लिखे उनमें तो सेव्य-सेवक-भाव की ही प्रतिष्ठा है। उन्हों ने भगवान् के लिए प्रभु, स्वामी आदि शब्दों का व्यवहार किया है। अतः साहित्य की दृष्टि से उनकी भक्ति सख्यभाव की नहीं लक्षित होती। भक्ति के दो अवयवों (श्रद्धा और प्रेम) में से विशेषतः एक (प्रेम) ही के ग्रहण करने से उनकी भक्ति के स्वरूप में कोई अंतर नहीं पड़ा है। यद्यपि वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने से अष्टछाप के सभी कवियों ने श्रीकृष्ण की बाललीला का कुछ न कुछ वर्णन किया है तथापि सूरदास का सा न तो उनमें विस्तार ही है और न वह गहराई ही। उनमें अधिक-तर यौवनलीला का ही ग्रहण हुआ है। अन्य कृष्णभक्त कवियों में तो बाललीला की रचना है ही नहीं। सूर ने बाल और यौवन दोनों लीलाओं का वर्णन समान अभिनिवेश के साथ किया है।

यदि काव्य की दृष्टि से देखें तो सूर के समक्ष वर्णन-सामग्री अधिक नहीं थी किंतु श्रीकृष्ण के नटखट जीवन का सहारा लेकर उन्हों ने बाललीला के अंतर्गत अनेक प्रसंगों की उद्भावना की। यौवनलीला में भी वृंदावन के उन्मुक्त जीवन में रहने के कारण नवीन प्रसंगों के लिए बहुत अधिक विस्तृत काव्यभूमि निकल आई है। कृष्ण और गोपियों का प्रेम केवल सुंदरता के आग्रह से प्रस्फुटित नहीं हुआ था। उनकी

क्रीड़ाएँ एक दूसरे के जीवन का अंग बन गई थीं। बहुत दिनों तक साथ साथ रहने के कारण उन लोगों का प्रेम परिपुष्ट होता गया और वह इतना पक्का हो गया कि जीवन भर न छूटा। इसी लिए गोपिकाएँ उद्धव से कहती हैं कि 'लड़िकाई को प्रेम कहौ अलि ! कैसे छूटै।" यदि यह प्रेम केवल सुंदरता की भूमि पर स्थित होता तो कदाचित् उसमें वैसी तीव्रता न होती जैसी उसके संसर्गगत होने से दिखाई देती है। वर्ण्य सामग्री के अतिरिक्त जब उद्दीपक सामग्री का विचार करते हैं तो यमुना के कछार, व्रज के वन, करील के कुंज आदि प्राकृतिक विभूतियाँ उनके चतुर्दिक फैली दिखाई देती हैं। ये उद्दीपक सामग्रियाँ भी वर्ण्य के ही अंतर्गत हैं, उनसे पृथक् नहीं। अतः बाहरी उद्दीपनों का विधान करने के लिए कवि को कोई कृत्रिम प्रयास नहीं करना पड़ा। अब रहे आलंबन-गत उद्दीपन। इन उद्दीपनों की संख्या भी परिमित है। श्रीकृष्ण की अनेक चेष्टाएँ, उनका त्रिभंगी रूप, उनकी नटखटपने की बातें, उनकी मुरली की तान आदि का अनेक भंगिमाओं के साथ उल्लेख किया गया है। सूर ने वर्ण्य सामग्री कृष्णजीवन में उतनी अधिक नहीं पाई जितनी सूरसागर ऐसे प्रकांड ग्रंथ के लिए अपेक्षित थी। अतः उन्हें प्रत्येक प्रसंग के अनुरूप नवीन उद्भावनाएँ करने की आवश्यकता पड़ी और इसमें संदेह नहीं कि उन्हों ने अनेकानेक मार्मिक एवं नूतन उद्भावनाएँ कीं। प्रबंध का लंबा-चौड़ा मैदान न मिलने पर भी सूर ने जो अनेक पद विभिन्न अवसरों के गाए वे उनकी नवीन कल्पना कर सकने की प्रबल शक्ति के परिचायक हैं। नवीनोद्भावना के अतिरिक्त सूर ने अपनी रच-नाओं का विस्तार अप्रस्तुत की योजना द्वारा भी किया है। एक एक प्रसंग पर उन्हों ने जितने पद लिखे हैं उनमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टांत आदि साम्यमूलक अलंकारों के व्याज से एक पर एक अप्रस्तुत लादे गए हैं। इस प्रकार जीवन के छोटे से दायरे में भी उन्हों ने कहने-सुनने के लिए बहुत लंबी-चौड़ी काव्यभूमि प्रस्तुत कर ली है। एक एक प्रसंग ही नहीं, एक एक वस्तु और एक एक अवयव पर ही उनकी न जाने कितनी उक्तियाँ हैं। इन उक्तियों में पार्थक्य की स्थापना करना सरल काम नहीं।

पर सूर ने इस कठिनाई को भी पार किया। नेत्र, मुरली, पीतांबर, त्रिभंग मुद्रा, मोरमुकुट आदि पर उनकी असंख्य उक्तियाँ हैं। कवि वर्ण्य सामग्री के अभाव की पूर्ति उक्तियों के विविध प्रकार के विधानों द्वारा किया करते हैं। उक्तियों का ऐसा विधान वही कर सकता है जिसकी ज्ञानराशि और निरीक्षणशक्ति बहुत अधिक हो। सूर का उक्ति-विधान उनकी इस शक्ति का प्रमाण है। संयोगपक्ष में जैसे बालकों की अनेक वृत्तियों का सूक्ष्मता के साथ निरूपण हुआ है वैसे ही युवा और युवतियों की विविध रंगमयी कामवृत्तियों का भी। संयोग में प्रिय सामने रहता है अतः प्रेमी की वृत्ति बहिर्मुखी रहती है। वह अपने प्रिय की रूपछटा, मुद्रा आदि पर मुग्ध होता है, उसके संयोग-सुख से आनंद-लाभ करता है। हास्य और विनोद की वृत्ति भी सुलभ रहती है। सूरसागर के संयोगपक्ष में इन सबका पूर्ण समावेश है। आलंबन और आश्रय दोनों के विचार से प्रणय में नेत्रों का बहुत अधिक व्यापार दिखाई देता है। सूर ने जो बहुत सी नयनोक्तियाँ कही हैं उसका रहस्य यही है। नयनोक्तियों पर विशेष जमकर कहने का कारण उनकी आँखों का बंद होना भी है। वियोगपक्ष में पहुँचकर तो कवि ने अपना हृदय-कोश ही उन्मुक्त कर दिया है। यद्यपि संयोग में भी चपलता, उमंग, अभिलाष, विनोद, क्रीड़ा आदि का बहुत ही प्रभावकारी वर्णन है तथापि वियोग में पहुँचकर प्रेमी की वृत्ति के अंतर्मुखी हो जाने के कारण हृदय की अनेक अंतर्वृत्तियों को व्यंजित करने की आवश्यकता उपस्थित हुई है और सूर ने इन अंतर्वृत्तियों का बहुत ही गंभीरता के साथ वर्णन किया है। वियोग में पहुँचकर सगुण और निर्गुण की सुगमता और दुर्गमता भी सामने लाई गई है, ज्ञान तथा योग से भक्ति का पार्थक्य भी भली भाँति लक्षित कराया गया है। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि जिस 'भागवत' को आधार बनाकर कवि ने श्रीकृष्णलीला का वर्णन किया उसमें उद्धव-प्रसंग के अंतर्गत सगुण-निर्गुण के वाद-विवाद की चर्चा क्या संकेत भी नहीं है। फिर भी कवि ने सगुण निर्गुण और ज्ञान-भक्ति के भेद की चर्चा चलाई है। इसका कारण है लोकदशा।

ज्ञानमार्गी संतों का भक्तिविरोधी जो निर्गुण-पंथ चल रहा था उसका प्रतिरोध करने की आवश्यकता उस समय के भक्त कवियों को प्रतीत हुई। तुलसी ने भी 'मानस' में ऐसा किया है। अयोध्या के दाशरथी राम को निर्गुण ब्रह्म सिद्ध करना 'मानस' का उद्देश्य है, अतः उसमें जितने श्रोता-वक्ता रखे गए हैं वे एक ही प्रकार का संदेह करते हैं। ग्रंथ के उपसंहार में काकभुशुंडि द्वारा ज्ञान और भक्ति का जो विवेचन कराया गया है वह भी साद्देश्य है।

निर्गुण और सगुण के विवेचन में तर्कपद्धति से काम न लेकर हृदय की भावपद्धति से काम लिया गया है। इतना ही नहीं वियोग-दुःख के बीच कृष्ण के मित्र उद्धव को पाकर गोपियों की विनोद-वृत्ति भी जगी है। प्रिय के प्रति जिस हास की व्यंजना होनी चाहिए वह नके तद्रूप मित्र को पाकर उन्हीं के प्रति व्यंजित हुई है। वियोग में वृत्ति अंतर्मुखी होती है। इसी से विरह की दश दशाएँ भाव-प्रधान कही गई हैं। वियोग में सूर ने जो 'भ्रमरगीत' गाए उनमें व्रज-वधूटियों के अनुरूप वाङ्मय का बहुत ही विस्तृत और उदार स्वरूप रखा गया है। बात बात में लोकोक्तियों की चर्चा करना स्त्रियों की प्रवृत्ति होती है। सूर इसे भी नहीं भूले हैं। सूर की समस्त विशेषताओं पर दृष्टि रखकर यह कहना ठीक ही है—

तत्व तत्व सब अँधरा कहिगा, कठवै कही अनूठी।

अर्थात् सूर ने प्रेम के प्रसंग की इतनी बातें कह दीं कि अन्य कवियों की उस प्रसंग की उक्तियाँ जूठी जान पड़ती हैं।

सूर की भाषा चलती हुई है। 'चलती' कहने से तात्पर्य उस भाषा से है जिसमें अन्य बोलियों या प्रांतों के प्रयोग भी खप सकें। इनकी भाषा में स्थान स्थान पर शिथिलता भी है। यद्यपि इसका गौण कारण रचनाओं का दूसरों के द्वारा लिखा जाना भी है तथापि मुख्य कारण है गीतों का प्रतिज्ञाबद्ध रूप में नैत्यिक निर्माण। भावों की पुनरुक्ति का भी यही कारण है।

'सूरसागर' के अतिरिक्त इन्होंने 'साहित्य-लहरी' में 'दृष्टिकूटक'

पद भी लिखे हैं। इस प्रवृत्ति का बीज विद्यापति की रचनाओं में वर्तमान है। अच्छा ही हुआ कि सूर ने ऐसी अधिकतर क्लिष्ट रचनाओं को छाँटकर अलग ही कर दिया। सूरसागर में भी यत्र तत्र कुछ दृष्टि-कूटक पद हैं, पर वैसे कड़े नहीं जैसे 'साहित्य-लहरी' में।

नंददास

सूर के अतिरिक्त अष्टछाप के दूसरे प्रसिद्ध कवि हैं नंददास। इनके संबंध में कहा जाता है कि 'और सब गढ़िया नंददास जड़िया'। नंददास की रचना में शब्दों का जड़ाव ऐसा ही है जिससे भाव दमक उठे हैं। इनकी भाषा सूर से विशेष मधुर और प्रांजल है। कृष्णलीला के कुछ रसमय प्रसंगों पर इन्होंने अपनी मधुर शैली में पद्य-निबंध लिखे हैं जिनमें से 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' की विशेष प्रसिद्धि है। एक में संयोगपक्ष और दूसरे में वियोगपक्ष की अंतर्वृत्तियों का निरूपण है। रासपंचाध्यायी में कथा तो भागवत से ही ली गई है, किंतु कवि ने वर्णन अपने ढंग पर किया है। इसमें नवीन प्रसंग की कोई उद्भावना नहीं। किंतु 'भँवरगीत' के उद्धव-गोपी-संवाद में काव्य की भावपद्धति छोड़कर प्रायः तर्कपद्धति ग्रहण की गई है। इनका यह पद्य-निबंध सूर के 'भ्रमरगीत' से विशेष महत्त्व रखता है। प्रबंध का गुण आ जाने से इसमें रसात्मकता कुछ विशेष आ गई है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि सूर के भ्रमरगीत में अधिक उक्तियाँ गोपियों की ही हैं, उद्धव का मुख बहुत कम खुला है। किंतु इनके पद्य-निबंध में गोपी-उद्धव-संवाद उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में बहुत दूर तक चला गया है। संवाद की सधी योजना के कारण तर्क रसात्मकता में अधिक बाधा नहीं डाल सका।

कृष्णभक्ति-शाखा में बहुत अधिक कवि हुए। उनमें से बहुतों की स्वच्छंद विशेषताएँ भी हैं। भक्ति एवं शैली के स्वरूप के कारण जिनमें भिन्नता दिखाई देती है उनमें से केवल दो, मीराबाई और रसखान, का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

मीराबाई

भक्ति के स्वरूप के विचार से मीराबाई का विशेष महत्त्व है। उन्होंने पति-पत्नी की भावना से भगवद्भक्ति की थी। भक्ति के विचार से यद्यपि वे कृष्णभक्तों में ही आती हैं किंतु उन पर निर्गुन-पंथ का भी प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। मीराबाई पर कबीर के ज्ञान और सूफियों के प्रेम दोनों का प्रभाव पड़ा। उनमें योग की झलक निर्गुन-पंथ के प्रभाव के ही कारण दिखलाई देती है। ज्ञान का प्रभाव तो कृष्णभक्तों पर उतना नहीं पड़ा, पर आगे चलकर वे सूफी मत से कुछ अवश्य प्रभावित हुए। सखी-भाव की उपासना का कारण सूफियों की प्रेमलक्षणा भक्ति ही है। रहस्य और गुह्य की भावना का प्रसार इसी से विशेष हुआ। जिसमें और आगे चलकर नागरीदास, कुंदनशाह आदि प्रमुख कवि हुए।

मीरा श्रीकृष्ण के अतिरिक्त संसार में किसी पुरुष का अस्तित्व नहीं मानती थीं। दांपत्य या मधुरभाव की यह चरम सीमा है। मीराबाई के इस क्षेत्र में आने से इसका प्रमाण मिल जाता है कि भक्ति की व्याप्ति बहुत दूर तक थी और इसमें किसी प्रकार का अधिकार-अनधिकार या भेदभाव नहीं रह गया था। मीरा की रचना की विशेषता है तल्लीनता। जैसी तल्लीनता उसमें है वैसी अन्य भक्तों की रचना में कम दिखाई देती है। मीरा में ऐसी लीनकर्त्री वृत्ति माधुर्यभाव अर्थात् पति-पत्नी-भाव के कारण ही आई है। प्रेम के विचार से पतिपत्नी का अनुराग सर्वतोधिक लीन करनेवाला होता है। औरों की तरह मीरा ने भी गोपाल-रूप की उपासना की थी।

रसखान

कृष्णभक्तों में रसखान बहुत ही सरस-हृदय कवि हुए। उपास्य के नाम, रूप, लीला, धाम चारों के प्रति जैसे उद्गार परम भक्तों के हुआ करते हैं वैसे ही रसखान के हैं। इनकी मधुर उक्तियों के ही कारण मधुर रचना का सामान्य नाम 'रसखान' पड़ गया। इन्होंने अधिकतर

प्रेम का संयोगपक्ष ही लिया है। इनकी कुछ रचनाएँ प्रेममार्ग का निरूपण करनेवाली भी हैं। रसखान ने अपने को शाही घराने का बतलाया है। इनके भक्ति में आने से सिद्ध हो जाता है कि कृष्णभक्ति ने अपनी प्रफुल्लता का प्रसार बहुत दूर तक कर लिया था। भक्ति की धारा में अवगाहन करने के लिए विधर्मी भी उत्कंठित होने लगे थे। उनके लिए कोई रोक-छेंक भी नहीं थी। अन्य भक्तों से इनकी प्रणाली भी भिन्न है। कृष्णभक्ति की अधिकांश कविता गीतशैली में लिखी गई किंतु इन्होंने कवित्त और सवैयों की शैली पकड़ी। कवित्तों से सवैयों की संख्या अधिक है। इन्होंने व्यंजना-पद्धति भी सीधी-सरल रखी है, जिसे वक्रोक्ति-पद्धति के प्रतिपक्ष में स्वभावोक्ति-पद्धति कह सकते हैं। मधुरता का कारण है शब्दावली का चुनाव। शब्द चुनते हुए व्रज के रूपों का विशेष ध्यान रखा गया है। शुद्ध व्रजभाषा लिखनेवाले कवियों में रसखान का भी मुख्य स्थान है। ये उदार वृत्तिवाले भक्त थे, इसी से शिव, गंगा आदि की भी स्तुति इन्होंने बिना किसी भेदभाव के की।

भक्तिकाल में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिनकी रचनाएँ भक्ति के नाते नहीं साहित्य के नाते महत्त्वपूर्ण हुई हैं; जैसे नरोत्तमदास, गंग आदि। इनमें से केवल दो (नरोत्तमदास और गंग) का बहुत ही संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

नरोत्तमदास

नरोत्तमदास की दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—सुदामाचरित्र और ध्रुवचरित्र। इनमें से सुदामाचरित्र बहुत प्रचलित है। यह छोटा सा बहुत ही भावपूर्ण खंडकाव्य है। इसमें कथा कहने के लिए दोहा और भाव-व्यंजना तथा वर्णन के लिए मुख्यतः कवित्त और सवैया रखे गए हैं। सुदामा की दरिद्रता और श्रीकृष्ण की उदारता दोनों का कवि ने अतीव सहृदयतापूर्ण चित्र खींचा है। दांपत्य और वात्सल्य प्रेम की व्यंजनाएँ तो बहुतों ने कीं, किंतु सख्य प्रेम की कम ने। इन्होंने इसकी व्यंजना ही नहीं की, विविध वृत्तियों का मर्मज्ञतापूर्ण विधान भी

किया। इनका एक एक छंद भावमय है। भाषा भी बहुत ही सधी और मँजी हुई है। चमत्कारपूर्ण उक्तियों के विधान में कवि नहीं लगा है। रसखान की सी ही स्वभावोक्ति-पद्धति इनकी भी है। वक्रता के फेर में ये भी नहीं पड़े। कवि की दृष्टि भावों को ही व्यक्त करने में विशेष रही है। संवादों के विचार से भी इनकी योजना बहुत ही मुग्धकारिणी है। इससे जान पड़ता है कि कवि अत्यधिक भावुक या सहृदय व्यक्ति था। हिंदी के प्रबंध-काव्यों में छोटा सा सुदामाचरित्र अपनी विशेषता लिए पृथक् ही दिखाई देता है।

गंग

पुराने कवियों में गंग का भी नाम बहुत है। 'दास' ने अपने 'काव्यनिर्णय' में तुलसी के साथ इन्हें भी सुकवियों का सरदार लिखा है[1] और भाषा की गति-विधि की परख रखनेवाले कवियों में उत्तम माना है। भाटों की कवित्त-शैली प्रसिद्ध है। गंग ने अपने आश्रय-दाताओं की प्रशस्ति ओजपूर्ण शब्दों में गाई है। इसमें संदेह नहीं कि भावानुकूल शब्दावली का प्रयोग करने में गंग अद्वितीय थे। उत्साह का चित्र इन्होंने अत्यंत ओजपूर्ण शब्दों में खींचा है। इनकी रचनाओं के समक्ष वीररस के और कवियों की रचनाएँ बहुत शिथिल दिखाई देती हैं। भूषण की कविता के प्रसार का कारण लोकमान्य आलंबन का चुनाव था। अन्यथा ओज के विचार से गंग की रचनाओं के समक्ष उनकी रचनाएँ भी कुछ फीकी दिखाई देती हैं।

उत्तर-मध्यकाल या शृंगारकाल

प्रेमलक्षणा भक्ति में शृंगार को हाथ-पैर फैलाने का पूरा अवसर मिला। अपभ्रंशकाल की शृंगारी प्रवृत्ति, जो समय पाकर दबी हुई थी, धीरे धीरे सिर उठाने लगी। शृंगार की रचनाएँ बराबर होती आई हैं। आदिकाल में विद्यापति की रचनाओं की चर्चा हो चुकी है। भक्तिकाल

---

1 तुलसी गंग दुवौ भए सुकबिन के सरदार।

में स्वयं सूरदास ने राधाकृष्ण के शृंगार का भक्ति-मिश्रित वर्णन किया। फल यह हुआ कि कवि भक्ति की आड़ लेकर शृंगार की रचनाओं में प्रवृत्त होने लगे। उन्हों ने शृंगार-वर्णन को 'राधिका-कन्हाई के सुमिरन' का बहाना बना लिया और घोर शृंगार की रचनाएँ चल पड़ीं। यद्यपि शृंगार की रचनाएँ सं० १६०० के आसपास से ही स्वच्छंद रूप में दिखाई पड़ती हैं तथापि १६०० से १७०० तक उसका प्रस्तावनाकाल ही समझना चाहिए। शृंगार की प्रवृत्ति एक तो रीतिशास्त्र का सहारा लेकर बढ़ी, दूसरे भक्तिकाल की अधिकतर फुटकल रचनाओं के परिणाम-स्वरूप सूफियों के प्रबंध-काव्य की ओर न जाकर मुक्तकों की ओर लपकी। नायिकाभेद और अलंकार का निरूपण इसी से उपयुक्त दिखाई पड़ा। नायिकाभेद या रसनिरूपण पर जो रचनाएँ हुईं वे तो शृंगारमय थीं ही, अलंकार-निरूपण में भी उदाहरण-स्वरूप शृंगार की ही रचनाएँ अधिक परिमाण में निर्मित हुईं।

सं० १५९८ में कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' नाम की और उसी समय के आसपास मोहन मिश्र ने 'शृंगारसागर' नाम की पोथियाँ शृंगार की ही लिखीं, जिनमें रसनिरूपण किया गया है। स्वयं सूरदास ने 'साहित्य-लहरी' में दृष्टिकूट के कितने ही पद ऐसे रखे हैं जिनके अंत में किसी नायिका का नाम और उसका लक्षण एवं किसी अलंकार का नाम और उसका लक्षण निकलता है। इन पदों में शृंगारलीला ही गाई गई है। रहीम ने भी बरवै-नायिकाभेद लिखा। केशव ने रसिकप्रिया का निर्माण किया और सेनापति ने भी कवित्त-रत्नाकर में शृंगार की ही तरंगें लहराईं। सं० १७०० के आसपास भक्ति की रचनाएँ प्रायः बंद हो गईं और शृंगार की रचनाएँ प्रचुर परिमाण में होने लगीं।

शृंगारकाल में दो प्रकार के कवि स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक वे जो रीति का सहारा लेकर शृंगार की रचना करते थे, दूसरे वे जो रीतिमुक्त स्वच्छंद रचना करनेवाले थे। रीतिबद्ध रचना करनेवालों में भी दो प्रकार के कवि दिखाई पड़ते हैं। कुछ तो रीतिशास्त्र का कोई लक्षण-ग्रंथ लिखने बैठते थे और उसके उदाहरणों के रूप में अपनी शृंगार की रचना

प्रस्तुत करते थे और कुछ स्फुट रचनाएँ ही करते थे लक्षणग्रंथ नहीं बनाते थे, पर उन पर रीति का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। रीतिमुक्त रचना करनेवालों की रचनाएँ रीति की पद्धति पर नहीं चली हैं। वे उनके स्वच्छंद उद्गार हैं। अधिक संख्या रीति का अनुगमन करनेवालों की ही है और जो श्रृंगार की रचना करनेवाले नहीं थे वे भी रीति का ही सहारा लेकर चले। इसी से ऐतिहासिक इसे 'रीतिकाल' कहते हैं। उत्तर-मध्य-काल को 'रीतिकाल' कहना ठीक ही है। पर रीतिकाल में अपनी स्वच्छंद उद्भावना दिखानेवाला कोई नहीं हुआ। वस्तुतः ये लोग रीति के आचार्य न होकर कविमात्र थे। संस्कृत से रीति की पकी-पकाई सामग्री लेकर ये अपनी कवित्वशक्ति का ही प्रदर्शन करना चाहते थे। अतः वर्ण्य इनके पास श्रृंगार ही था। रीतिकाल कहने से इनकी रचनाओं के विभाजन का कोई मार्ग नहीं मिलता। पर श्रृंगारकाल कहने से स्पष्ट विभाग दिखाई पड़ते हैं। अतः इसे वर्णन-प्रणाली के विचार से रीति-काल न कहकर वर्ण्य के विचार से श्रृंगारकाल कहना अधिक सुविधा-जनक प्रतीत होता है। इसका विभाग यों होगा—
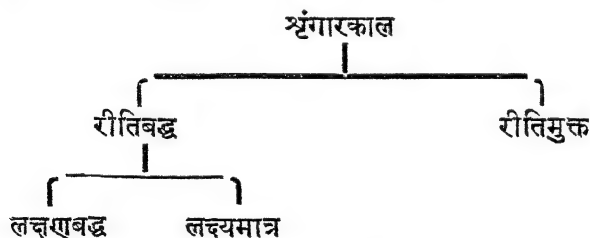
प्रस्तावनाकाल के कवि

श्रृंगार के प्रस्तावनाकाल में कई कवि हुए जिनमें से केवल तीन प्रमुख कवियों की प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया जाता है—

केशवदास

केशवदास ने लक्षण-ग्रंथ ही नहीं, लक्ष्य-ग्रंथ भी लिखे हैं। केवल श्रृंगार की ही नहीं, अन्य रसों की भी रचनाएँ की हैं। मुक्तक ही नहीं

प्रबंध भी लिखे हैं। इनके ग्रंथों के नाम ये हैं—वीरसिंहदेव-चरित्र, रतनबावनी, कविप्रिया, रामचंद्रचंद्रिका, रसिकप्रिया और विज्ञानगीता। वीरसिंहदेव-चरित्र और रतनाबावनी में वीररसपूर्ण रचनाएँ हैं। वीरसिंहदेव-चरित्र प्रबंधकाव्य है, किंतु प्रबंध-काव्य के गुण पूर्ण मात्रा में इसमें नहीं पाए जाते। इनके प्रसिद्ध प्रबंध-काव्य रामचंद्रचंद्रिका में भी प्रबंधत्व परिपूर्ण नहीं है। प्रबंध-काव्य के लिए कथा का क्रमबद्ध और अवसर के अनुकूल विस्तार-संकोच अपेक्षित होता है। रामचंद्रचंद्रिका में यह बात वैसी नहीं जैसी होनी चाहिए। वस्तुतः केशवदास दरबारी जीव थे। इसी लिए जितनी बातें दरबार के अनुकूल पड़ती थीं उन्हीं का वर्णन इन्हों ने विस्तार के साथ किया है। अपने पांडित्य का प्रदर्शन भी इनमें प्रधान था। यह रामचंद्रचंद्रिका में स्थान स्थान पर दिखाई देता है। शास्त्रसंपादन की इच्छा इन्हें बराबर रही।

पहले कह आए हैं कि महाकाव्य वर्णन-प्रधान होता है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि केवल वर्णनों पर ही दृष्टि रखकर कवि चले और वर्ण्य विषयों का ठीक ठीक निरूपण न हो या वर्णनों के लिए कथा की क्रमबद्धता का त्याग कर दिया जाय। संस्कृत में पिछले काँटे का प्रबंध-काव्य श्रीहर्ष का 'नैषध' है। उसमें कथाभाग बहुत थोड़ा है। इसलिए वर्णन ही प्रधान दिखाई देता है। किंतु श्रीहर्ष ने वर्ण्य विषयों के साथ तादात्म्य की प्रतीति नहीं खोई है। कवि का निरीक्षण इतना सूक्ष्म और व्यापक है कि उन वर्णनों का पढ़नेवाला उनसे ऊबता नहीं। किंतु केशवदास के वर्णन वैसे मार्मिक नहीं हुए हैं। सच बात तो यह है कि ये चमत्कारवादी कवि थे। स्थान स्थान पर चमत्कार दिखलाना ही इनका लक्ष्य था। चमक-दमक के चक्कर में अधिक रहने से ही प्रबंध-काव्य के अन्य आवश्यक गुणों का ध्यान इन्हें विशेष नहीं था। अतः यह कहने में कोई संकोच नहीं कि केशवदास में भावपक्ष प्रधान नहीं। अपनी रचना में कलापक्ष की प्रधानता के कारण ये ही अकेले नहीं हैं। ये संस्कृत के पंडित थे और इन्हों ने जिन जिन ग्रंथों को अपना आदर्श बनाया वे चमत्कारपूर्ण उक्तियों से लदे हुए थे। परिसंख्या, विरोधाभास, उत्प्रेक्षा,

श्लेष आदि अलंकारों की जैसी भरमार रामचंद्रचंद्रिका में दिखाई पड़ती है वैसी उसके आदर्शग्रंथ बाण की 'कादंबरी' में भी। अंतर इतना ही है कि कादंबरीकार ने जिन जिन दृश्यों, स्थानों आदि का वर्णन किया है उनकी विशेषताओं का ध्यान भी बराबर रखा है, पर केशव ने चमत्कार के फेर में विशेषताओं का ध्यान बहुत कुछ त्याग दिया है। इसके अतिरिक्त प्रबंध के बीच अनावश्यक उपदेशात्मक प्रसंगों का जोड़ना ठीक नहीं जान पड़ता, पर केशव इससे कहीं भी विरत नहीं हुए, यहाँ तक कि संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक का आधार लेकर जो 'विज्ञानगीता' लिखी उसमें भी इस प्रकार के प्रसंग कई जोड़ दिए।

ऐसा होते हुए भी रामचंद्रचंद्रिका में एक गुण विशेष ध्यान देने योग्य है। यह है संवादों का उपयुक्त विधान। इन्होंने संस्कृत के कई ऐसे नाटक देखे थे जो रामाख्यान पर थे। फल यह हुआ कि रामचंद्रचंद्रिका में संवादों की इन्होंने बहुत ही अच्छी योजना की। कई प्रसंग तो अनुवाद करके ही रखे हुए हैं। नाटकों का आधार लेने से और कथाभाग को छोड़ देने से संवाद के वक्ताओं के नाम इन्हें पद्य से पृथक् रखने पड़े हैं। इनमें भी ध्यान देने योग्य संवाद राजनीतिक प्रसंग के ही हैं। कुछ पात्रों का चरित्र भी इन्होंने विशेष रूप में लक्षित कराया है। उत्तरार्द्ध में लव-कुश की उक्तियाँ विशेष मार्मिक बन पड़ी हैं। पर ऐसे प्रसंग इतने बड़े काव्य में थोड़े ही दिखाई देते हैं। शैली देखते हैं तो उसमें भी विविध प्रकार के छंदों के उदाहरण प्रस्तुत करने की ही प्रवृत्ति है। प्रबंध-काव्य में धारा चला करती है। इस धारा को बनाए रखने में छंद भी सहायक होते हैं। यही कारण था कि कवि लोग एक सर्ग में प्रायः एक ही छंद का प्रयोग करते थे। केवल अंत में दो-चार छंद बदल दिए जाते थे। किंतु रामचंद्रचंद्रिका में छंदों का परिवर्तन इतना शीघ्र और इतने अधिक रूपों में किया गया है कि एकरसता आ ही नहीं पाती। अतः प्रबंध-काव्य के विचार से रामचंद्रचंद्रिका समर्थ रचना नहीं दिखाई देती। कथाक्रम यथावश्यक न होने से वह मुक्तक उक्तियों का संग्रह-ग्रंथ जान पड़ती है

लक्ष्य-ग्रंथों को छोड़कर लक्षण-ग्रंथों की ओर देखते हैं तो वहाँ भी अवधानता नहीं दिखाई पड़ती। इन्हों ने काव्यकल्पलतावृत्ति, काव्यादर्श आदि के अनुगमन पर 'कविप्रिया' नाम से कविशिक्षा की एक अच्छी पुस्तक प्रस्तुत की। किंतु उसमें भी कोई अपनी सूझ नहीं। उलटे अलंकार (विशेष)[1] के निरूपण में उलटी-सीधी बातें भी आ गई हैं। कविप्रिया से यह अवश्य हुआ कि निरीक्षण की शक्ति न रखनेवालों या उससे भागनेवालों के लिए भी काव्य-परंपरा का ज्ञान सुलभ हो गया। कवि केवल पुस्तक पढ़कर ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होने लगे, उन्हों ने स्वतः निरीक्षण करना छोड़ ही दिया। दक्षिणापथ के वर्णन में उत्तरापथ के वृक्षों की उद्धरणी करना या उत्तरापथ के वर्णन में दक्षिणापथ के वृक्षों की नामावली देना अथवा मथुरा में मेवे के पौधे लगाना केशव की ही जमाई हुई परिपाटी का परिणाम है।

'रसिकप्रिया' में इन्हों ने नायिकाभेद और थोड़ा सा रसों का भी परिचय दिया है। किंतु इसमें शृंगार की रसराजता विलक्षण ढंग से प्रमाणित की गई है। इन्हों ने संस्कृत की ही सारी सामग्री ली है। जहाँ कहीं अपनी ओर से कुछ करने का हौसला दिखलाया है वहीं इन्हें धोखा हुआ है। संस्कृत की पूरी सामग्री भी ठीक ठीक नहीं ली जा सकी। हाँ, 'रसिकप्रिया' को देखते हुए मानना पड़ता है कि केशव में प्रसंग-कल्पना की शक्ति थी अवश्य। काव्यभाषा से भी ये भली भाँति परिचित थे। रसिकप्रिया की पद्धति पर ही यदि इनकी सारी रचनाएँ होतीं तो भी ये 'कठिन काव्य के प्रेत' होने से बच जाते। सच बात तो यह है कि कुछ कारणों से इन्हें महाकाव्य लिखने का उत्साह हुआ; रसधारा में पाठक को मग्न करने के विचार से नहीं, पांडित्य-प्रदर्शन के विचार से। इसी

---

१ 'कविप्रिया' में 'अलंकार' शब्द के भीतर सारी काव्यसामग्री गृहीत हुई है। उसमें अलंकार के दो भेद किए गए हैं—सामान्य और विशेष। 'सामान्य' के अंतर्गत वर्ण्य वस्तु (मैटर) और विशेष के अंतर्गत वर्णन-प्रणाली (फॉर्म) या प्रकृत अलंकार रखे गए हैं।

लिए रामचंद्रचंद्रिका की रचना बेढंगी हो गई। शब्द भी इन्हों ने संस्कृत के कुछ अधिक रखे और कहीँ कहीँ अप्रचलित तक। वे कहते भी तो थे—

> भाषा बोलि न जानहीँ जिनके कुल के दास।
> भाषा-कबि भो मंदमति तेहि कुल केसवदास॥ —कविप्रिया।

रहीम

अब्दुर्रहीम खानखाना अकबरी दरबार के प्रसिद्ध कवियोँ मैँ से थे। यह वह समय था जब कविता की वाग्धारा राजा और रईसोँ को भी काव्य करने के लिए खीँच रही थी। स्वयं अकबर हिंदी मैँ कविता करता था और उसके बड़े बड़े मुसाहिब भी। रहीम बहुरंगी रचना करनेवाले कवि थे। आपने संस्कृत मैँ भी रचना की है और कई भाषाओँ के मिश्रण से 'भाषा-समक' मैँ भी। किंतु इनकी प्रसिद्धि नीति के मुक्तक दोहोँ और बरवै-नायिका-भेद के लिए विशेष है। कुछ लोगोँ की धारणा है कि बरवै छंद रहीम के समय से चला है। इसके संबंध मैँ किंवदंती है कि इनके किसी सेवक की पत्नी ने विदेश जानेवाले अपने पति से निम्न-लिखित छंद मैँ प्रेमरक्षा की प्रार्थना की—

> प्रेमप्रीति कर बिरवा चलेउ लगाइ।
> सीँचन कै सुधि लीन्हेउ मुरझि न जाइ॥

यह छंद रहीम को इतना पसंद आया कि इन्होँने इस छंद मैँ छोटा सा नायिकाभेद लिख डाला और इस छंद मैँ आए हुए 'बिरवा' शब्द के अनुसार इसका नाम 'बरवै' रख दिया। किंतु है यह कपोल-कल्पना ही। क्योँकि रहीम से पहले होनेवाले कृपाराम ने (सं० १५९८) अपनी 'हिततरंगिणी' मैँ, जो छोटा सा रसग्रंथ है, बरवै छंद का व्यवहार किया है। वस्तुतः यह बहुत दिनोँ से चला आ रहा है और जनता का छंद है। यह भी कहा जाता है कि तुलसी ने बरवै छंद मैँ 'रामायण' रहीम की ही देखादेखी प्रस्तुत किया। बहुत पुराने समय से जन-समाज मैँ प्रचलित इस छंद की मधुरता के कारण ही साहित्यिक भी इसकी ओर

मुड़े। बरवै में पूरबी अवधी का ही प्रायः व्यवहार होता है। इससे यह अवध प्रांत का छंद जान पड़ता है।

रहीम ने नीति की बहुत सी रचनाएँ कीं पर उसके कारण इन्हें केवल सूक्तिकार समझना ठीक नहीं। साधारण नीतिकार जैसी रचनाएँ करता है उससे इनकी रचनाएँ भिन्न हैं। सबसे मुख्य बात यह है कि साधारण नीति लिखनेवाले यदि दृष्टांत, उदाहरण आदि का सहारा लेते हैं तो प्रायः जीवन के सामान्य तथ्यों का ही ग्रहण करते हैं, विशेष की ओर झुकते ही नहीं। यदि झुकते भी हैं तो मार्मिक दृष्टांत नहीं चुनते। रहीम ने जीवन के अधिकतर विशेष तथ्यों का ग्रहण किया है और उसका मार्मिक से मार्मिक पक्ष सामने रखा है। इससे स्पष्ट है कि कवि की केवल बुद्धि ही कार्यशील नहीं है, मन भी सजग है। रहीम की रचनाओं का अत्यधिक प्रचार इसी मार्मिकता के कारण हुआ।

सेनापति

सेनापति हिंदी के कवीश्वरों में से थे। इनकी रचनाएँ दो प्रकार की दिखाई देती हैं। एक तो अलंकारों के चमत्कार से परिपूर्ण और दूसरी वर्णनात्मक, जो प्रायः अलंकारों के लदाव से मुक्त हैं। यद्यपि इन्हें श्लेष का विशेष अनुराग था तथापि इनका श्लेष-चमत्कार औरों से निराला है। केवल शब्द-साम्य लेकर ही इन्होंने ऐसी रचना नहीं की। इनकी भंगपद श्लेष की भद्दी रचनाएँ बहुत थोड़ी हैं। अर्थश्लेष के जैसे उदाहरण 'कवित्त-रत्नाकर' में हैं वैसे लक्षण-लक्ष्य के काव्यग्रंथों में भी नहीं। केशव ने भी श्लेष का चमत्कार दिखाया है पर उनमें अधिकतर शब्द-साम्य है और साथ ही वह सफाई नहीं जैसी इनमें। इसका भी कारण है। श्लेष का काव्योपयोगी चमत्कार दिखाने के लिए भाषा पर अच्छा अधिकार होना चाहिए। सेनापति का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। इसका पता श्लेष की रचनाओं से तो मिलता ही है, इनकी वर्णनात्मक रचनाओं से भी मिलता है। इनकी ऐसी रचनाएँ षट्ऋतुओं पर हैं। उनमें भी इन्होंने कहीं कहीं श्लेषपरक उक्तियाँ रखी हैं। पर ऐसी भी

कई मुक्तक रचनाएँ हैं जिनमें या तो उन ऋतुओं का उद्दीपन के रूप में वर्णन किया गया है या स्वच्छंद रूप में उनकी विशेषताओं या उनके प्रभाव का मार्मिक अभिव्यंजन। सेनापति ने ऋतुओं को केवल उद्दीपन के ही रूप में नहीं देखा, आलंबन के रूप में भी निरखा। इन्होंने आत्मप्रशंसा भी की है। इनकी शक्ति देखकर उसे इनकी गर्वोक्ति मात्र नहीं समझ सकते।

लक्षणकार

यद्यपि हिंदी में रीतिग्रंथ केशव से भी पहले लिखे गए, किंतु कवि-शिक्षा की समस्त आवश्यक सामग्री से युक्त कविप्रिया नाम की पुस्तक विस्तार के साथ प्रस्तुत करनेवाले हिंदी के प्रथम आचार्य वे ही माने जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि केशव ने कविप्रिया लिखकर काव्य-रचना करनेवालों का मार्ग सुगम किया, पर काव्यरूढ़ि में विशेष संलग्न रहने के कारण केशव के अनुगमन पर चलनेवाले अपनी दृष्टि खो बैठे। यद्यपि केशव का प्रभाव हिंदी में बहुत दिनों तक व्याप्त रहा तथापि अन्य रीतिग्रंथ लिखनेवाले इनके अनुगामी नहीं हुए। केशव ने कविप्रिया में उन लोगों का अनुगमन किया है जो काव्य में चमत्कार को प्रधान माननेवाले पुराने आचार्य हैं। हिंदी के अन्य लक्षण-ग्रंथकारों ने संस्कृत के उत्तरकालीन आचार्यों का अनुगमन किया क्योंकि भामह, दंडी, वामन आदि प्राचीन आचार्यों का चमत्कारवादी संप्रदाय मंमट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि उत्तरकालीन आचार्यों के प्रयत्न से दब चुका था। ये लोग रस अथवा ध्वनि को काव्य में प्रधान माननेवाले थे। अलंकार काव्य की शोभा करनेवाले धर्म माने जाते थे।

हिंदी के इन कवियों की शास्त्रीय पक्ष पर दृष्टि ही नहीं थी। तत्त्व की बात यह है कि ये ग्रंथ शास्त्रचर्चा और विवेचन की दृष्टि से लिखे ही नहीं जाते थे। अधिकतर प्रणेताओं का उद्देश्य शास्त्र के बहाने रचना-कौशल का प्रदर्शन ही था। इनके लिए यही बहुत बड़ी बात थी कि ये संस्कृत-ग्रंथों को ठीक ठीक समझकर हिंदी में यथावत् उतार देते। किंतु

संचारी बहुत अधिक धूम मचाए हुए था। अब यह प्रमाणित हो चुका है कि देव ने अपने 'भावविलास' में और बहुत सी बातों के साथ 'छल' संचारी भी वहीं से लिया है। उन्होंने रसतरंगिणी का नाम तक नहीं लिया। पर ग्वाल कवि ने अपने 'रसरंग' में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।[१] भानुभट्ट की इन दोनों पुस्तकों ने हिंदी के रीतिग्रंथों को बहुत प्रभावित किया। संस्कृत में नायिकाओं के अंगज, स्वभावज, अयत्नज अट्ठाईस अलंकार माने जाते हैं, किंतु हिंदी में 'हाव' के नाम से केवल दस अयत्नज चेष्टाओं का ही ग्रहण हुआ है। यह भी भानुभट्ट के अनुगमन का परिणाम है। उन्होंने हाव नाम से अपनी 'रसतरंगिणी' में इन्हीं दस का उल्लेख किया है। साथ ही इन हावों को उन्होंने स्थितिभेद से अनुभाव और उद्दीपन दोनों के अंतर्गत स्वीकृत किया है। हिंदी में केवल एक ही ग्रंथ ऐसा देखने में आया है जिसमें भानुदत्त की यह बात ठीक ठीक समझकर उल्लिखित हुई है। यह है गुलाम नबी का रसप्रबोध।[२] काव्य के अंग क्या प्रत्यंग मात्र का वर्णन या निरूपण करनेवाले ग्रंथ भी लिखे गए; जैसे नखशिख, षट्‌ऋतु, बारहमासा आदि के ग्रंथ नायिकाभेद या शृंगार के भीतर तथा चित्रमीमांसा, यमकविलास आदि अलंकार के अंतर्गत। कुछ लोगों ने शृंगारियों की दिनचर्या भी लिखी; जैसे अष्टयाम। कुछ विभिन्न जाति की स्त्रियों को वर्ण्य नायिका या आलंबन के रूप में रखकर ग्रंथ लिखने लगे; जैसे जातिविलास। किंतु शास्त्र की दृष्टि से ऐसे ग्रंथों का विशेष महत्त्व नहीं। विभिन्न जाति की स्त्रियों को आलंबन रूप में रखना अन्यत्र भले ही उपयुक्त हो किंतु लक्षण-ग्रंथों

---

१ भानुदत्तजू ने लिख्यो रसतरंगिनी माँहि।
नूतन इक औरो बनत छल संचारी चाहि॥ —प्रथम उमंग, १८९।

२ तन बिभचारिन बिछिति है, ये सब सात्विक भाव।
भावै परगट करन हित गने जात अनुभाव॥
नारी औ नर करत हैं जो अनुभाव उदोत।
ते वै दूजे और कों नित उद्दीपन होत॥—२७५, ७६।

मेँ यह दोष ही है। अतः दास ने इनको दूती बनाकर दोष का कुछ परिमार्जन करने की चेष्टा की।[1]

दशांग काव्य लिखनेवालोँ ने भी शास्त्र का सूक्ष्म विवेचन समझने मेँ भूलेँ की हैँ। नई उद्भावना तो दूर रहे, मूल ग्रंथोँ को ठीक ठीक उतार देना भी उन लोगोँ के लिए कठिन था। फिर भी कुछ ऐसे अवश्य हुए हैँ जिन्होँ ने अपनी उद्भावना के लिए हाथ-पैर मारे हैँ; जैसे दास। भिखारीदास ने 'काव्यनिर्णय' मेँ 'तुक' का नया विचार किया है जो और किसी ग्रंथ मेँ नहीँ पाया जाता। अलंकारोँ का स्थूल वर्ग बाँधने का भी उन्होँ ने प्रयास किया है, जो विशेष लाभदायक नहीँ है।

लक्ष्यकार

कुछ कवि ऐसे भी दिखाई देते हैँ जिन्होँ ने कोई रीतिग्रंथ तो नहीँ लिखा पर रीति की छाप जिनकी कविता मेँ पर्याप्त दिखाई देती है; जैसे बिहारी, नेवाज, प्रीतम, रसनिधि, दीनदयाल गिरि, पजनेस आदि। इनकी गणना रीतिबद्ध रचयिताओँ मेँ ही होनी चाहिए। बिहारी ने तो अपनी रचना रीति से इतनी बद्ध रखी है कि रीति की पूरी परंपरा से परिचित न रहनेवाला इनकी कुछ रचनाओँ का ठीक ठीक अर्थ ही नहीँ लगा सकता। ऐसे कवियोँ की रचनाएँ रस, नायिकाभेद या अलंकारोँ के भीतर सरलता से बाँटी जा सकती हैँ।

बिहारी

नायिकाओँ तथा अलंकारोँ के वे मुख्य भेद जो मुक्तक-रचना मेँ निपुणता के साथ खप सकते थे बिहारी ने अपनी रचना मेँ खपाए हैँ। जैसे विदग्धा, खंडिता, अभिसारिका आदि नायिकाओँ के चलते भेद गृहीत हुए वैसे ही साम्यमूल या वैषम्यमूल अलंकार भी। कुछ चमत्कार मात्र उत्पन्न करनेवाले अलंकार भी वैचित्र्य-प्रदर्शन के लिए रख दिए गए हैँ। बिहारी ने अपनी मुक्तक-रचना द्वारा यह भली भाँति प्रमाणित कर दिया

१ देखिए 'शृंगारनिर्णय'।

कि रीतिबद्ध रचना कारीगरी के साथ किस प्रकार की जा सकती है। बिहारी में ध्यान देने योग्य तीन बातें दिखाई देती हैं। एक है चेष्टाओं और उक्तियों का विधान, जिसके अंतर्गत नायिकाओं के हावों का चित्रण भी आ जाता है। दूसरी है उनकी व्यवस्थित भाषा। व्रजभाषा की इतनी अधिक रचनाओं के भीतर जिन दो-चार कवियों की भाषा-विषयक क्षमता ध्यान देने योग्य है उनमें एक बिहारी भी हैं। बिहारी की भाषा में व्यंजकता पूर्ण परिमाण में दिखाई देती है। इन्होंने "अरथ अमित अति आखर थोरे" को पूर्णतया प्रमाणित कर दिया। तीसरी है विदेशी प्रभाव को भारतीय पद्धति के भीतर ही ग्रहण करना। जुगुप्साव्यंजक विदेशी पद्धति से बिहारी ऐसे प्रभावित नहीं हुए कि अपनापन खो बैठते। उन्होंने भारतीयता के मेल में ही विदेशी रंग-ढंग रखा है। इन सबके अतिरिक्त बिहारी ने कल्पना और उड़ान दोनों की उक्तियाँ मानोरंजक रूप में प्रस्तुत की हैं। यद्यपि काव्य की दृष्टि से कल्पना का जितना महत्त्व है उतना उड़ान का नहीं, किंतु उड़ान की पद्धति बहुत दिनों से भारतीय मुक्तक-रचना में आ चुकी थी, और उसका पालन करना परिस्थितिवश उस समय के कवि के लिए अनिवार्य हो गया था। दरबारों और रसिकों के बीच उड़ान भरनेवाले कवियों का ही विशेष मान हुआ करता था। ये कवि किसी दूसरे लोक के पक्षी तो नहीं होते थे, किंतु पंख लगाकर उड़ते अवश्य थे और बहुत दूर तक उड़ते थे। शास्त्रविद्या के पारंगतों को यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि इन लोगों की उड़ान अनुमानाश्रित होती थी और इन रचनाओं में वस्तुव्यंजना का ही प्राधान्य हुआ करता था। बिहारी के आगमन ने हिंदी-साहित्य-धारा में अनूठा प्रवाह उत्पन्न कर दिया। उसी प्रवाह में बहनेवाले और भी कितने ही दिखाई पड़े। पर उस बूँद से भेंट औरों को कहाँ। शृंगारकाल में बिहारी-सतसई जितनी अधिक देखी-सुनी पढ़ी-लिखी गई उससे उसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। बिहारी की रचना को लेकर साहित्य-रसिकों द्वारा पृथक् वाङ्मय ही निर्मित हुआ, जैसे तुलसी की रचना को लेकर भक्तों द्वारा। तुलसी की रचना काव्य और धर्म

दोनों का योग लेकर चली थी, किंतु बिहारी की रचना शुद्ध काव्य के सहारे। फिर भी उसका जितने बड़े दायरे में पठन-पाठन हुआ उससे सिद्ध है कि शुद्ध साहित्यिक रचना ने जनता के मन में भी घर बना लिया था। यद्यपि बिहारी की रचना के प्रसार का कारण शृंगारिक लोकरुचि भी थी तथापि उसमें वह विशेषता पूर्ण और समुचित मात्रा में है जो साहित्यिक रचना के लिए अपेक्षित होती है। यह विशेषता है काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष का तुल्ययोग। लोकरुचि कहीं तो भाव पर मुग्ध होनेवाली होती है और कहीं कला या कारीगरी पर। इसी लिए जो कवि दोनों का तुल्ययोग नहीं कर पाते वे भावप्रधान और कलाप्रधान रचनाओं को पृथक् पृथक् प्रस्तुत करने का उद्योग करते हैं। किंतु इन दोनों पक्षों के तुल्ययोग से संघठित होनेवाली रचना साहित्य की उस उच्च भूमि पर पहुँच जाती है जहाँ से उसके वैचित्र्य के दर्शन सबको हो सकते हैं।

रीतिमुक्त

अब रीतिमुक्त रचना करनेवालों की ओर आइए। प्रेम के इन स्वच्छंद गायकों का साहित्य के इतिहास में विशेष महत्त्व है। भक्तिकाल के भीतर रसखान भी कुछ इसी प्रकार के गायक हो गए हैं। शृंगार-काल में घनानंद, ठाकुर, बोधा, आलम-शेख और द्विजदेव ऐसे ही गायकों में से थे। इनमें अपनी अलग अलग विशेषताएँ हैं और वे ऐसी हैं जो इस काल के दूसरे वर्ग के कवियों के बाँटे नहीं पड़ीं, यहाँ तक कि बिहारी के भी नहीं।

घनानंद

इनमें से सबसे अधिक आकर्षक रचना घनानंद की है। ये वस्तुतः प्रेम के पपीहे थे। इनकी रचनाओं में वियोग की अंतर्दशाओं, प्रेम की अनेकानेक अंतर्वृत्तियों, रूप-व्यापार के वैचित्र्यपूर्ण चित्रों भाषा की वाग्योगमयी शक्तियों, विरोध की चमत्कारोत्पादक उक्तियों आदि का ऐसा गंभीरता के साथ विधान किया गया है कि 'नेह की पीर' को 'हिय

आँखों' से देखने वाले ही इसे भली भाँति समझ सकते हैं।[1] हिंदी की नवीन कविता में अँगरेजी से उधार ली हुई विदेशी लाक्षणिकता, विरोध-मूलक उक्तियाँ, प्रच्छन्न रूपकों आदि पर निछावर होनेवाले बहुत से कलाकार, यदि उन्हें सचमुच कलाकार कहा जा सके, दिखाई देते हैं। पर वे हिंदी के पुराने भांडार को 'हिय की आँखों' क्या, फूटी आखों भी नहीं देखना चाहते। किंतु यदि वे अपनी किसी प्रकार की आँख से भी घनानंद की लाक्षणिकता, विरोधात्मकता, प्रच्छन्नरूपकता आदि देख लेते तो, सबकी राम जाने, जानकार तो कम से कम सात समुद्र पार जाकर उधार-व्यवहार करने की आवश्यकता न समझते। घनानंद ने ऐसे बढ़ बढ़कर प्रयोग किए हैं जैसे प्रयोगों का साहस, साहसी से साहसी नवीन कवि बिना हिचक के नहीं कर सकता, किसी ने किया ही है कहाँ।

ठाकुर

ठाकुर नाम से हिंदी में कम से कम तीन कवि प्रसिद्ध हैं और संयोग की बात कि तीनों की रचनाएँ बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। केवल भाषा की सूक्ष्म पहिचान से ही यदि इनको अलग किया जा सके तो कदाचित् किया जा सके, अन्यथा इनकी रचनाओं को पृथक् करने में बहुतों को धोखा हो चुका है। इन ठाकुरों में से एक जैतपुर (बुंदेलखंड) के हैं, जिनकी रचना अधिक परिमाण में मिलती है। बुंदेलखंड भारतवर्ष में ऐसा प्रदेश है जहाँ भारतीय संस्कृति के चिह्नों की रक्षा करने के प्रयत्न का बंधन अब भी सब पर लगा हुआ है। यह बंधन नियम का नहीं; समाज का है, हृदय का है। त्योहारों के मनाने का जैसा अपूर्व उत्साह उधर दिखाई देता है वैसा इधर नहीं, नगरों में क्या गाँवों में भी। यही कारण है कि बुंदेलखंड के कवि इन त्योहारों की समारोहच्छटा का बड़े चाव से वर्णन करते हुए पाए जाते हैं। अखती (अक्षयतृतीया) बरसाइत (वट-सावित्री), गनगौर (गणपति-गौरी) के मेले और त्योहार पूर्ण उमंग के साथ उधर होते हैं और भावसंपन्न व्यक्ति उन पर निछावर भी

---

[1] समुझै कविता घनआनँद की हिय-आँखिन नेह की पीर तकी।

होते रहते हैं। ठाकुर ने इन सबका वहुत ही प्रभावकारी वर्णन किया है। ध्यान देने की दूसरी बात है ठाकुर का लोकोक्ति विधान। स्त्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वे बात बात में लोकोक्ति, दृष्टांत आदि का व्यवहार करती हैं। इन्होंने उनकी इस विशेषता पर दृष्टि रखकर लोकोक्ति-वाङ्मय का वहुत ही काव्योपयोगी व्यवहार अपनी रचना में किया है। लोकोक्ति का चमत्कार जैसा इस कवि ने दिखाया वैसा हिंदी के किसी दूसरे कवि ने नहीं। इस लोकोक्ति-योजना में विशेषता यह है कि यह प्रसंगानुकूल होने के अतिरिक्त अर्थगत भी है। इन्होंने सवैया छंद का ही अधिकतर व्यवहार किया है। उसके तीन चरणों में जो बात जमाई गई है वह चौथे चरण की लोकोक्ति द्वारा अर्थ की ऐसी ऊँची और विस्तृत भूमि पर स्थित दिखाई देती है जो हृदय के लिए विशेष आकर्षक और भावक के लिए विशेष मुग्धकारिणी होती है।

आलम और शेख

आलम और शेख दोनों ही स्वच्छंद प्रेम के गायक हैं। इनमें से शेख की रचना में आलम की अपेक्षा विशेष माधुर्य एवं कोमलता पाई जाती है। इनकी विशेषता है हृदयपक्ष और कलापक्ष दोनों का वैसा ही तुल्य-योग जैसा बिहारी में देखा जाता है। हृदयपक्ष का पलड़ा कुछ विशेष झुका हुआ है। जीवन की वास्तविक अनुभूतियाँ सच्चे कवि को काव्य की उस उच्च भूमि पर पहुँचा देती है जिसके विना कवित्व नीरस रहा करता है। आलम और शेख में प्रसंग-कल्पना की विशेषता के अतिरिक्त अर्थभूमि उत्पन्न करने की वह शक्ति है जिससे कवि अपने को दूसरों से पृथक् कर लेने में समर्थ होता है। इनकी विशेषता यह है कि उड़ान भरने पर भी उसके पीछे वह भावभूमि बराबर दिखाई देती है जिसके बिना भावुक हृदयों का रंजन नहीं हो सकता।

बोधा

बोधा कुछ नया रंग-ढंग लेकर चलनेवाले स्वच्छंद गायक थे। इनकी अधिकतर रचनाएँ प्रेममार्ग का निरूपण करनेवाली हैं, फिर भी 'प्रेमपीर'

की वह सचाई इनमें पाई जाती है जो उन्मुक्त कवि के लिए अपेक्षित है। जैसे कुछ रीतिबद्ध रचना करनेवाले फारसी की बाजारू प्रेमपद्धति से प्रभावित हुए वैसे ही रीतिमुक्त बोधा भी। इनकी रचना में घनानंद, ठाकुर आदि की सी गहराई तो नहीं मिलती किंतु भाव बहुत ही सीधे और सरल ढंग से व्यक्त किए गए हैं। ये अधिकतर वैचित्र्य के चक्कर में नहीं पड़े हैं। भाषा इनकी विदेशी शब्दों के कुछ अधिक आ जाने से प्रांजल नहीं रह गई है। असल में इनकी रचना में दो प्रकार की भाषाएँ मिलती हैं। एक तो ब्रज के परंपरागत रूप को लेकर चलनेवाली और दूसरी अरबी-फारसी का सहारा लेकर खड़ी होनेवाली । इनकी ब्रजभाषा की रचनाएँ विशेष अनुभूतिपूर्ण और मार्मिक हैं, किंतु चलती भाषा के खड़े रूप की रचनाएँ कुछ प्रखर हैं और आशिकी रंग-ढंग विशेष लिये हुए हैं।

द्विजदेव

द्विजदेव की विशेषता इनके ऋतुवर्णन में दिखाई देती है। हिंदी में रीतिबद्ध रचना करनेवाले शास्त्र में गिनी-गिनाई सामग्री के आधार पर ही ऋतुवर्णन करते रहे हैं, किंतु द्विजदेव ने अपनी आखों से भी काम लिया है। इन्होंने ऋतुओं के अनुकूल विभिन्न समयों, पक्षियों, वृक्षों, लताओं आदि का अत्यंत प्रभावकारी वर्णन किया है। हिंदी में इनकी रचना इस दृष्टि से अनूठी है । वर्ण्य विषय के अनुरूप छंदों का चुनाव भी किया गया है। उक्तियों पर इन्होंने वैचित्र्य भी लादा है, किंतु केवल चमत्कार दिखलाने के लिए नहीं, उसमें भावप्रवणता भी है। बल्कि यों कह सकते हैं कि वैचित्र्य भावव्यंजना में सहायक होकर आया है; वर्ण्यों का रूप निखारने के लिए, उन्हें ढकने के लिए नहीं। यही बात भाषा में भी दिखाई देती है। रीतिबद्ध रचना करनेवाले तो अनेक कवि हुए किंतु भाषा की ओर ध्यान देनेवाले मतिराम, दास, पद्माकर आदि कुछ थोड़े ही कवि दिखाई देते हैं। प्रेम के इन स्वच्छंद गायकों में से बोधा को छोड़कर औरों ने हिंदी की लक्षक या व्यंजक शक्ति पूर्णतया प्रमाणित कर दी है। द्विजदेव ने भाषा में जैसी सफाई दिखाई है वह आगे चल-

उल्लेख किया गया है उनमें से भूषण को छोड़कर शेष ने वीर-कथा-काव्य ही लिखे हैं। यदि वीरकाल से इन रचनाओं की परंपरा मिलाई जाय तो मानना पड़ेगा कि यह वीरकाव्य का द्वितीय उत्थान था। इसकी विशेषता यह थी कि वीरकाल की रचनाओं की भाँति प्रेम के साहचर्य में वीररस न आकर अपने शुद्ध रूप में ही आया है। वीररस की रचनाओं का तृतीय उत्थान आगे चलकर आधुनिक काल में दिखाई पड़ता है, जिसमें देश तथा प्राचीन वीर नायकों पर वीररस की कुछ रचनाएँ निर्मित हुईं।

इस काल में नीति लिखनेवाले कुछ सूक्तिकार या पद्यकार भी हुए। जिनमें प्रमुख वृंद, गिरिधर कविराय, सम्मन आदि हैं। वृंद तथा सम्मन ने दोहे में नीति के तथ्य लिखे और गिरिधर ने कुंडलिया में। कुछ भक्त भी हुए हैं जिनमें भक्तिमिश्रित शृंगार चरम सीमा को पहुँचा; जैसे नागरीदास में।

आधुनिक काल या प्रेमकाल

आधुनिक काल का आरंभ सं० १९०० से समझना चाहिए। गद्य का इस काल में विशेष प्रसार हुआ और अत्यधिक रचनाएँ गद्य में ही लिखी गईं। इसलिए इतिहासकार इसे 'गद्यकाल' नाम से अभिहित करते हैं। यदि शैली के विचार से कहा जाय तो बाहुल्य की दृष्टि से 'गद्यकाल' नाम ठीक है, किंतु वर्ण्य विषय या मनोवृत्ति का विचार करके इसे 'प्रेम-काल' कहना सुभीते का जान पड़ता है। इस काल में क्या गद्य क्या पद्य, शुद्ध साहित्य की सभी शाखाओं में प्रेम की ही प्रधानता दिखाई देती है। उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता सभी प्रेमवृत्ति की ही मुख्यता से व्यंजना करते हैं। 'प्रेम' ऐसा व्यापक नाम लेने से इसके अंतर्गत दांपत्य प्रेम के अतिरिक्त देशप्रेम, प्रकृतिप्रेम, संततिप्रेम, मित्रप्रेम, ईशप्रेम आदि सभी का ग्रहण हो सकता है; ससीम और असीम दोनों के प्रेम अंतर्भूत हो जाते हैं।

इस काल में स्पष्ट तीन युग दिखाई देते हैं—आदि, मध्य और प्रस्तुत; जिन्हें क्रमशः भारतेंदु-युग, द्विवेदी-युग और वर्तमान-युग कहना

चाहिये। भारतेंदु-युग मेँ प्रेमवृत्ति दांपत्य रति से आगे बढ़कर प्रकृतिप्रेम, देशप्रेम तक आ गई थी। कुछ रचनाएँ भगवत्प्रेम की भी हुईं। द्विवेदी-युग मेँ देशप्रेम और प्रकृतिप्रेम पर अत्यधिक रचनाएँ हुईं, दांपत्य प्रेम पीछे ही छूट गया। वर्तमान युग मेँ प्रकृति, देश आदि की ससीम प्रेमवाली रचनाएँ कम हुईं, असीम के प्रेम की रचनाओं का बाहुल्य हुआ। आदि-युग को भारतेंदु-युग इसलिए कहा गया कि उस समय के लेखकों पर भारतेंदु हरिश्चंद्र की प्रवृतियों और प्रेरणा का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। मध्य युग को द्विवेदी-युग कहने का कारण यह है कि उस युग के अधिकतर लोग पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी की प्रवृत्तियों का अनुगमन करनेवाले या उनके दिखाए मार्ग पर स्वच्छंद रूप से बढ़नेवाले दिखाई देते हैं। प्रस्तुत युग मेँ कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखाई देता जो सभी शाखाओं का अकेले प्रेरक हो। यदि प्रभाव और नियमन का विचार करें तो स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ही ऐसे दिखाई देते हैं जिनका अंकुश सभी मानते थे। पर उनका सबसे अधिक प्रभाव गद्य के क्षेत्र में आलोचना मेँ ही दिखाई देता है। अतः इसे वर्तमान युग कहना ही संगत प्रतीत होता है।

भारतेंदु-युग

उन्नीसवीं शती के आरंभ मेँ हिंदी मेँ भारतेंदु का उदय हुआ। यह अभूतपूर्व घटना हुई। उन्हीं के समय से हिंदी-साहित्य नवीनता का रंग पकड़ चला। अँगरेजी शासन के प्रतिष्ठित हो जाने से बहुत सी प्राचीन रूढ़ियाँ समाज से हटाई जा रही थीं, सुधार के आंदोलन उत्तर भारत मेँ जोरों से चल रहे थे। समाज के विचारों मेँ परिवर्तन हो चला था। बंगाल अनुकरण मेँ सबसे आगे रहा है। विदेशी साहित्य के अनुगमन पर वहाँ नई कही जानेवाली गति-विधि लक्षित होने लगी थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र एक ओर तो अँगरेजी से प्रभावित हुए, दूसरी ओर अँगरेजी की अनुकृति को लेकर चलनेवाली बंगला से। इन्हों ने हिंदी मेँ देशकालानु-रूप नवीनता का विधान करने का प्रयास किया। बात यह थी कि एक

उल्लेख किया गया है उनमें से भूषण को छोड़कर शेष ने वीर-कथा-काव्य ही लिखे हैं। यदि वीरकाल से इन रचनाओं की परंपरा मिलाई जाय तो मानना पड़ेगा कि यह वीरकाव्य का द्वितीय उत्थान था। इसकी विशेषता यह थी कि वीरकाल की रचनाओं की भाँति प्रेम के साहचर्य में वीररस न आकर अपने शुद्ध रूप में ही आया है। वीररस की रचनाओं का तृतीय उत्थान आगे चलकर आधुनिक काल में दिखाई पड़ता है, जिसमें देश तथा प्राचीन वीर नायकों पर वीररस की कुछ रचनाएँ निर्मित हुईं।

इस काल में नीति लिखनेवाले कुछ सूक्तिकार या पद्यकार भी हुए। जिनमें प्रमुख वृंद, गिरिधर कविराय, सम्मन आदि हैं। वृंद तथा सम्मन ने दोहे में नीति के तथ्य लिखे और गिरिधर ने कुंडलिया में। कुछ भक्त भी हुए हैं जिनमें भक्तिमिश्रित शृंगार चरम सीमा को पहुँचा; जैसे नागरीदास में।

आधुनिक काल या प्रेमकाल

आधुनिक काल का आरंभ सं० १९०० से समझना चाहिए। गद्य का इस काल में विशेष प्रसार हुआ और अत्यधिक रचनाएँ गद्य में ही लिखी गईं। इसलिए इतिहासकार इसे 'गद्यकाल' नाम से अभिहित करते हैं। यदि शैली के विचार से कहा जाय तो बाहुल्य की दृष्टि से 'गद्यकाल' नाम ठीक है, किंतु वर्ण्य विषय या मनोवृत्ति का विचार करके इसे 'प्रेम-काल' कहना सुभीते का जान पड़ता है। इस काल में क्या गद्य क्या पद्य, शुद्ध साहित्य की सभी शाखाओं में प्रेम की ही प्रधानता दिखाई देती है। उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता सभी प्रेमवृत्ति की ही मुख्यता से व्यंजना करते हैं। 'प्रेम' ऐसा व्यापक नाम लेने से इसके अंतर्गत दांपत्य प्रेम के अतिरिक्त देशप्रेम, प्रकृतिप्रेम, संततिप्रेम, मित्रप्रेम, ईशप्रेम आदि सभी का ग्रहण हो सकता है; ससीम और असीम दोनों के प्रेम अंतर्भूत हो जाते हैं।

इस काल में स्पष्ट तीन युग दिखाई देते हैं—आदि, मध्य और प्रस्तुत; जिन्हें क्रमशः भारतेंदु-युग, द्विवेदी-युग और वर्तमान-युग कहना

चाहिये। भारतेंदु-युग में प्रेमवृत्ति दांपत्य रति से आगे बढ़कर प्रकृतिप्रेम, देशप्रेम तक आ गई थी। कुछ रचनाएँ भगवत्प्रेम की भी हुईं। द्विवेदी-युग में देशप्रेम और प्रकृतिप्रेम पर अत्यधिक रचनाएँ हुईं, दांपत्य प्रेम पीछे ही छूट गया। वर्तमान युग में प्रकृति, देश आदि की ससीम प्रेमवाली रचनाएँ कम हुईं, असीम के प्रेम की रचनाओं का बाहुल्य हुआ। आदि-युग को भारतेंदु-युग इसलिए कहा गया कि उस समय के लेखकों पर भारतेंदु हरिश्चंद्र की प्रवृत्तियाँ और प्रेरणा का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। मध्य युग को द्विवेदी-युग कहने का कारण यह है कि उस युग के अधिकतर लोग पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी की प्रवृत्तियों का अनुगमन करनेवाले या उनके दिखाए मार्ग पर स्वच्छंद रूप से बढ़नेवाले दिखाई देते हैं। प्रस्तुत युग में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखाई देता जो सभी शाखाओं का अकेले प्रेरक हो। यदि प्रभाव और नियमन का विचार करें तो स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ही ऐसे दिखाई देते हैं जिनका अंकुश सभी मानते थे। पर उनका सबसे अधिक प्रभाव गद्य के क्षेत्र में आलोचना में ही दिखाई देता है। अतः इसे वर्तमान युग कहना ही संगत प्रतीत होता है।

भारतेंदु-युग

उन्नीसवीं शती के आरंभ में हिंदी में भारतेंदु का उदय हुआ। यह अभूतपूर्व घटना हुई। उन्हीं के समय से हिंदी-साहित्य नवीनता का रंग पकड़ चला। अँगरेजी शासन के प्रतिष्ठित हो जाने से बहुत सी प्राचीन रूढ़ियाँ समाज से हटाई जा रही थीं, सुधार के आंदोलन उत्तर भारत में जोरों से चल रहे थे। समाज के विचारों में परिवर्तन हो चला था। बंगाल अनुकरण में सबसे आगे रहा है। विदेशी साहित्य के अनुगमन पर वहाँ नई कही जानेवाली गति-विधि लक्षित होने लगी थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र एक ओर तो अँगरेजी से प्रभावित हुए, दूसरी ओर अँगरेजी की अनुकृति को लेकर चलनेवाली बंगला से। इन्होंने हिंदी में देशकालानु-रूप नवीनता का विधान करने का प्रयास किया। बात यह थी कि एक

ओर समाज जीवन को लिए दिए व्यावहारिक पथ में बहुत आगे बढ़ आया था और दूसरी ओर हिंदी-काव्य शृंगार की केवल पद्यबद्ध रचना लिए बहुत पीछे छूट गया था। उस पिछड़े हुए साहित्य को जीवन से जोड़ देने की बड़ी आवश्यकता थी। भारतेंदु ने यही किया।

इन्होंने नवीन भावों की अभिव्यक्ति के लिए पहले गद्य की ओर झाँका। व्रज में गद्योपयुक्त शक्ति, सामग्री और साहित्य का अभाव दिखाई पड़ा। खड़ी बोली तब तक व्यवहार ही में न रहकर ग्रंथों तक में प्रयुक्त हो चुकी थी। अतः इन्हें गद्य के लिए भाषा तो मिल गई, पर उसके स्वरूप का निर्णय करना आवश्यक था। हिंदी का संस्कृत से परंपरागत संबंध है। अतः भारतेंदु ने अपनी स्वच्छ दृष्टि से संस्कृतमिश्रित खड़ी को ही गद्य का वास्तविक स्वरूप ठहराया। पहले का जो गद्य दिखाई पड़ा उसमें वह शक्ति और सामर्थ्य पूर्ण मात्रा में नहीं मिली जो चलती भाषा के लिए अपेक्षित होती है। मुंशी सदासुखलाल का गद्य यद्यपि भाषा की प्रकृति के अनुरूप ही चला था तथापि उसमें पंडिताऊपन अधिक था। शास्त्रचर्चा का काम तो वह दे सकता था पर साहित्य-रचना के लिए उतना पर्याप्त नहीं था। इंशा अल्ला खाँ का गद्य, जो 'रानी केतकी की कहानी' में दिखलाई पड़ा, लखनऊ के घेरे में बद्ध था। उसमें सिवा लखनवी बेगमों की घर-गृहस्ती की बोलचाल व्यक्त करने के और कोई शक्ति नहीं थी। लल्लूलाल का प्रेमसागरवाला गद्य व्रजभाषापन और कविता के ढंग की अनुप्रासांत पदावली से युक्त था। पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त वह व्यावहारिक शिष्ट भाषा का काम नहीं चला सकता था और न साहित्य की विभिन्न शाखाओं में प्रयुक्त होकर रोचक ही बना रह सकता था। सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा अपेक्षाकृत अच्छी थी किंतु उसमें भी पूरबीपन और पुरानेपन का समयानुरूप त्याग नहीं था। अतः भारतेंदु ने ऐसा गद्य प्रस्तुत किया जो वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं के अनुरूप परिवर्तित होने में समर्थ हुआ।

भाषा के अनंतर साहित्य की ओर दृष्टि ले जाते ही इन्हें दिखाई पड़ा कि श्रव्यकाव्य की रचना तो बहुत हो चुकी पर दृश्यकाव्य के मैदान में

सन्नाटा है। 'नाटक' नामधारी कुछ पुस्तकें तो लिखी जा चुकी हैं पर उनमें से कुछ तो पद्यबद्ध ही हैं और कुछ संस्कृत के केवल अनुवाद-रूप में। तब तक राजा लक्ष्मणसिंह की 'शकुंतला' के अतिरिक्त ठीक-ठिकाने का कोई नाटक संस्कृत से भी अनूदित नहीं हुआ था। अच्छे अच्छे नाटकों से परिचित होने के लिए कई भाषाओं से अनुवाद करने की आवश्यकता थी। अतः सबसे पहले इन्होंने अनुवाद में ही हाथ लगाया। संस्कृत, बँगला और अँगरेजी तीनों से इन्होंने अच्छे अच्छे नाटकों का उल्था किया। साथ ही कुछ मौलिक रूपक भी प्रस्तुत किए। दृश्यकाव्य का संबंध रंगशाला से है। बिना खेले उसकी उपयोगिता प्रमाणित नहीं हो सकती, इसलिए इन्होंने नाटकों के अभिनय की भी व्यवस्था की। भारतेंदु ने स्वयं तो साहित्य की सेवा की ही, अपने मित्रों, अनुयायियों, प्रेमियों आदि को भी साहित्य की ओर खींचा। फल यह हुआ कि उस समय के सभी हिंदी-लेखक मौलिक नाटक लिखनेवाले, अन्य भाषाओं से नाटकों का अनुवाद करनेवाले और अभिनय में योग देनेवाले दिखाई देते हैं। काशी में ही नहीं, प्रयाग और कानपुर में भी नाटक-मंडलियाँ बनीं। यहीं तक न रह कर भारतेंदु पत्र-पत्रिकाओं की ओर भी गए। उनके मित्रों ने भी इनका अनुगमन किया। अतः हिंदी में उस समय कई पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होने लगीं जिनमें विभिन्न विषयों पर निबंध तो प्रस्तुत हुए ही भाषा एवं शैली के अनेक रूप भी दिखाई पड़े। तात्पर्य यह कि भारतेंदु के समय में साहित्य की भिन्न भिन्न शाखाओं के फूटने का अवसर मिला और वे सिंच-सिंचाकर हरी-भरी भी दिखाई देने लगीं। भारतेंदु-युग के हिंदी-लेखकों की सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी सजीवता। सबके सब बड़े ही आनंदी जीव थे; जीवन में भी और साहित्यकार के रूप में भी। इस युग में पद्य के क्षेत्र में ब्रज का प्रायः अखंड साम्राज्य था। गद्य में खड़ी भली भाँति प्रतिष्ठित ही नहीं हो गई, उसने रूप-रंग और प्रवाह प्राप्त कर लिया। वर्ण्य विषय नए नए एवं समय के दिखाई देने लगे। इसका कारण था अधिकतर पत्र-पत्रिकाओं

अवतारणा। रसों और भावों के विचार से देशप्रेम एवं हास्य के अतिरिक्त क्रोध एवं घृणा के लिए भी कुछ भूमि प्रस्तुत हुई। समाज-सुधार की चर्चा भी साहित्य में दिखाई देने लगी। ब्रज की परंपरा से प्राप्त शृंगारी रचनाओं का लोप तो नहीं हुआ किंतु उनका परिमाण अवश्य कम हो गया। कविता रीतिबद्ध पद्धति छोड़कर रीति-मुक्त मार्ग पर चलने लगी। स्वयं भारतेंदु की रचनाएँ घनानंद, आलम, ठाकुर आदि प्रेमोन्मत्त गायकों के ढर्रे पर चलीं। दृश्यकाव्य में भी विधि-विधान के विचार से कुछ थोड़े से परिवर्तन किए गए। संस्कृत के नाटकों में एक अंक के भीतर विभिन्न दृश्यों की योजना नहीं होती थी, पर भारतेंदु ने 'गर्भांक' नाम से अंकों के अंतर्विभाग भी कर डाले।

खड़ी बोली गद्य का प्रसार

अब देखना चाहिए कि खड़ी बोली गद्य में निर्विरोध कैसे गृहीत हो गई। खड़ी ब्रज की ही तरह प्राचीन बोली है। ब्रज का उद्भव शौरसेनी प्राकृत और उससे उद्भूत नागर अपभ्रंश से हुआ। खड़ी का उद्भव भी नागर अपभ्रंश से ही हुआ किंतु वह पैशाची प्राकृत से भी प्रभावित है। अतः ब्रज और खड़ी दोनों बहनें हैं। उनके रूपों और व्याकरण से भी यह प्रमाणित होता है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि मुसल-मानों के आने से पूर्व भी खड़ी बोली का अस्तित्व था, यद्यपि उसमें साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था। उत्तरकालीन अपभ्रंश में शब्दों के जो रूप दिखाई देते हैं उनसे ब्रज और खड़ी दोनों के शब्दरूपों का आभास मिलता है। अपभ्रंश में मुक्तक रचनाएँ सभी प्रदेशों के कवि करते थे। खड़ी के प्रांत में रहनेवाले कवियों की रचनाओं में उसके पूर्वरूप का आभास स्पष्ट है। यद्यपि प्राकृतों के बाद देशभेद से अपभ्रंशों का नामकरण नहीं हुआ तथापि देशभेद से उनके स्वरूपों में अंतर अवश्य हुआ। विद्यापति ठाकुर के अवहट्ठ (अपभ्रष्ट=अपभ्रंश) से यह प्रमाणित हो जाता है। यद्यपि उसका ढाँचा नागर अपभ्रंश का ही है तथापि उसमें मागधी या पूरबी प्रयोग पर्याप्त पाए जाते हैं। अतः उसे

मागधी या पूरबी अपभ्रंश ही समझना चाहिए। पश्चिमी अपभ्रंश की रचनाओं में भी ऐसा ही भेद था। यह अंतर ऐसा ही था जैसा शुद्ध ब्रज और बुंदेली-मिश्रित ब्रज में आगे चलकर दिखाई देता है। बुंदेली-मिश्रित ब्रज का अच्छा नमूना केशव की रामचंद्रचंद्रिका में मिलता है। खड़ी का प्राचीन काल में अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए अपभ्रंश के निम्नलिखित दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) भल्ला हुआ जो मारिया बहिणि महारा कंत।
(२) अद्धा बलया महिहि गय अद्धा फुट्टि तडत्ति।

इसके अनंतर खड़ी योगमार्गी साधुओं की फक्कड़ी भाषा में दिखाई देती है। यद्यपि योगमार्गियों का मूलस्थान पहले पूरब में था तथापि जनता में अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए ये पश्चिम के राजपूताने, पूरबी पंजाब, दिल्ली आदि प्रदेशों में बराबर घूमा करते थे। यद्यपि इनकी जो रचनाएँ मिलती हैं वे स्वयं इनके द्वारा लिखी नहीं हैं, इनके शिष्यों द्वारा लिखी गई हैं तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि भाषा का ढाँचा शिष्यों ने एकदम नहीं बदल डाला। इसी से आगे चलकर कबीर की रचना में सधुक्कड़ी खड़ी बोली के कुछ विकसित रूप का प्रमाण मिलता है; जैसे—"कबीर मन निर्मल भया जैसे गंगा-नीर।"

अकबर के समय में गंग कवि ने 'चंद-छंद-बरनन की महिमा' नाम की गद्यपुस्तक खड़ी बोली में ही प्रस्तुत की थी। इससे स्पष्ट है कि खड़ी में गद्य की पुस्तकें लिखने की रुचि लोगों में उत्पन्न हो गई थी। परिष्कृत खड़ी बोली गद्य के जिन सर्वप्रथम लेखक का पता चलता है वे रामप्रसाद निरंजनी (सं० १७९८) हैं, जिन्होंने 'भाषा-योगवासिष्ठ' नामक पुस्तक लिखी।

भारत के विभिन्न प्रांतों में पृथक् पृथक् बोलियाँ व्यवहार में चल रही थीं, किंतु दिल्ली-दरबार के आसपास की भाषा राजधानी के निकट की भाषा होने के कारण वहाँ बसे हुए लोगों के लिए मुसलमानी शासनकाल में स्वभावतः सुलभ और आकर्षक हुई। विदेशियों को भी जनता से व्यवहार करने के लिए वहाँ की टूटी-फूटी भाषा बोलने का

अभ्यास करना ही पड़ा। फल यह हुआ कि राजधानी और उसके आसपास की हाटों के बीच सर्वत्र बोलचाल में खड़ी सुनाई पड़ने लगी। राज्य के सभी देशी-विदेशी कार्यकर्ता वहाँ की उस बोली का अभ्यास कर लेते थे और राजधानी से दूर नियुक्त होने पर भी उसे साथ लगाए रखते थे। यही कारण है की दिल्ली के आसपास के कवि जब रचना करने बैठते तो परंपरागत काव्यभाषा व्रज का तो व्यवहार करते ही, बोलचाल की खड़ी से भी काम लेते। खुसरो द्वारा दो प्रकार की भाषाओं के व्यवहार का रहस्य यही है। उन्होंने भावरंजित कविता तो व्रज में लिखी, पर मुकरियाँ, पहेलिया, चुटकुले, दो सखुने आदि बुझौवल और खेल-तमाशे की हलकी चीजें खड़ी में। उन्होंने फारसी और हिंदी-शब्दों का एक पर्यायवाची कोश 'खालिकबारी' भी प्रस्तुत किया, जिसमें पर्यायों के बीच खड़ी की बोलचाल के शब्द भी रखे हुए हैं।[1]

मुसलमान स्वभावतः हिंदी या हिंदुई राजधानी की बोली को ही समझते थे और उसे ही बोलते भी थे। अतः व्रज के कवि काव्य में मुसलमानों का प्रसंग आने पर उनकी बोली का आभास देने के लिए खड़ी का पुट दे दिया करते थे। भूषण, सूदन, चंद्रशेखर वाजपेयी आदि सभी कवियों ने ऐसा किया है। धीरे धीरे खड़ी का सहारा लेकर और फारसी के शब्दों से मिलकर एक नई भाषा ही खड़ी होने

---

१ इस प्रकार के कई कोशों का निर्माण हुआ। 'खालिकबारी' तो हिंदी अर्थात् खड़ी बोली में लिखी गई है, पर कुछ ग्रंथ संस्कृत में भी बने। अकबर के समय में 'पारसी-प्रकाश' नाम का कोश संस्कृत में ही लिखा गया, जो पंडितों को फारसी से परिचित कराने के उद्देश्य से रचित जान पड़ता है। यह कृष्णदास का बनाया हुआ है और बाराणसी संस्कृत-यंत्रालय से सं० १६२३ में लीथो मे छपकर प्रकाशित भी हो चुका है। नमूने के लिए नीचे एक श्लोक उद्धृत किया जाता है—

> दीपालये तु ताकः स्यात् शूले दर्द इतीरितः।
> आतशस्तु भवेद्वह्नौ श्वाला तस्य शिखासु च॥

लगी, जिसका नाम बाजारू होने के कारण 'उर्दू' पड़ा और आरंभ में जिसका संबंध अधिकतर मुसलमानों से ही रहा। इसी से व्यवहार के योग्य जितने पद या प्रयोग थे उनसे अधिक खड़ी की शब्द-संपत्ति उर्दू में नहीं जा सकी, वहाँ अधिक की समाई ही नहीं थी। उधर खड़ी अपने जन्मस्थान की जनता के बीच अपना ठेठ रूप लिए और अपनी परंपरा से अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के बंधन से बँधी पृथक् ही पड़ी रही, उसकी अरबी-फारसी से भेंट कहाँ। साधु-संतों की फक्कड़ी भाषा में अरबी-फारसीमिश्रित और संस्कृतमिश्रित रूप लिए हुए खड़ी के जो दो ढर्रे मिलते हैं उसका कारण यही है। विदेशियों के सुभीते के लिए वे पहला रूप रख देते थे और जनता की सुविधा के लिए दूसरा। वे अपने भजनों द्वारा जैसे और प्रांतों के शब्द पश्चिम में पहुँचाते वैसे ही पश्चिमी अर्थात् खड़ी के शब्दों को पूरब में। इस प्रकार खड़ी बोली धीरे धीरे उत्तरापथ में फैल चली।

इसी समय एक घटना ऐसी घटित हुई जिसने खड़ी बोली का प्रसार सारे उत्तरापथ में भली भाँति कर दिया। यह घटना थी मुगल-साम्राज्य का पतन। इसके परिणाम-स्वरूप मुसलमानों के अड्डे लखनऊ और मुर्शिदाबाद हुए। राजधानी के उजड़ जाने से वहाँ की व्यापारी जातियाँ भी पूरब की ओर फैलीं और धीरे धीरे वहाँ जाकर बस गईं। ये जातियाँ वहाँ की बोली भी अपने साथ लिए गईं। व्यापारियों से व्यवहार करने में उनकी भाषा का अनुकरण लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः खड़ी पहले हाट में और धीरे धीरे आगे चलकर सामाजिक कार्यों में भी सुनाई पड़ने लगी। उपदेशक धर्मचर्चा इसी बोली में करने लगे। अतः खड़ी अरबी-फारसी से बहुत कुछ बची हुई अपनी परंपरा से बँधी रही। धर्मोपदेश, धर्म-चर्चा, सामाजिक व्यवहार आदि में सर्वत्र या तो ठेठ अथवा तद्भव शब्दों का व्यवहार होता था या आवश्यकतानुसार संस्कृत-शब्दों का। दूसरी ओर अरबी-फारसी से लदकर वही खड़ी 'उर्दू' नाम से कृत्रिम भाषा बनी और अधिकतर शायरी के काम में आने लगी। उसका

जनता से संबंध टूट गया। उस समय अदालतों में भी फारसी का ही साम्राज्य था। इसलिए यह कहना कि मुसलमानों के हिंद में कदम रखते ही उर्दू बी इनके साथ लग गईं, ठीक नहीं।

उत्तरापथ में ही नहीं दक्षिणापथ में भी धीरे धीरे खड़ी का प्रसार होने लगा। यह बताया जा चुका है कि उत्तर के योगमार्गी एवं निर्गुन-पंथी साधुओं ने अपने उपयोग के लिए सधुक्कड़ी भाषा बना रखी थी; जिसमें हिंदी की कई बोलियों का मिश्रण था, पर प्रधानता ब्रज या खड़ी की ही थी। दक्षिणी प्रांत के साधुओं में भी पारस्परिक संपर्क से उसका धीरे धीरे प्रसार होने लगा। उत्तर के व्यापारी भी दक्षिण के विभिन्न व्यापारिक नगरों में बसने लगे। अतः हाट में जिस बोली का व्यवहार अव्यवस्थित एवं अशुद्ध रूप में होने लगा वह खड़ी ही थी। संप्रति बंबई, मद्रास आदि प्रधान व्यापारिक नगरों में हाटों के बीच जो खड़ी बोली सुनी जाती है उसका कारण यही है।

अब यह विचारने की आवश्यकता है कि खड़ी के स्थान पर ब्रज के गद्य का प्रसार क्यों नहीं हुआ। ब्रज बहुत दिनों से वस्तुतः पद्य में प्रयुक्त होती चली आ रही है। गद्य में उसका वैसा प्रयोग हुआ ही नहीं। ब्रज के गद्य का व्यवहार होता अवश्य था, पर अधिकतर यह व्यवहार या तो धार्मिक प्रसंगों में होता या पुराने ग्रंथों की टीका में। साधारणतः धार्मिक प्रसंग में वैसी बातें नहीं आतीं जिनकी गद्य अपेक्षा करता है। कुछ महात्माओं की चमत्कारबोधक कथाएँ भी ब्रज-गद्य में लिखी गईं पर उसमें भी चलतापन नहीं दिखाई देता। व्याकरण की कोई निश्चित व्यवस्था न होने से ब्रज-गद्य को व्यवस्थित और साधु रूप प्राप्त न हो सका। टीकाओं में तो गद्य की और भी दुर्व्यवस्था थी। संस्कृत-टीकाओं के अनुकरण पर चलने के कारण भाषा का रूप निखर न सका। इस प्रकार ब्रज का गद्य व्यावहारिक न बन सका। उधर खड़ी का प्रसार बहुत दूर तक हो चुका था और वह केवल बोल-चाल की भाषा न रहकर लिखा-पढ़ी की भाषा भी हो चली थी। अतः गद्य के लिए बिना किसी विरोध के उसी का ग्रहण हो गया। आरंभ में

पद्यभाग व्रज में ही और गद्य खड़ी में चलता रहा; पर और आगे चल-कर पद्य में भी खड़ी का प्रयोग होने लगा।

आरंभ में खड़ी जब पद्य में ली गई थी तो वह हल्की चीजों के लिखने में ही प्रयुक्त होती थी। गंभीर विषयों के अनुरूप वह कम से कम पद्य में नहीं समझी गई। लावनी, गजल आदि लिखनेवाले ही इसका व्यवहार करते रहे। व्रज के काव्यों में भी हँसी के लिए इसका उपयोग होता रहा और मुसलमानों के प्रसंग में ही यह आती रही। भारतेंदु-युग तक अधिकांश पद्य-रचना व्रज में ही चलती रही, यद्यपि कभी कभी इसका भी व्यवहार कर लिया जाता था।

खड़ी के गद्य का विकास

यह कहा जा चुका है कि खड़ी के सुव्यवस्थित स्वरूप का सर्वप्रथम जो पता लगता है वह रामप्रसाद निरंजनी (सं १७९८) के 'भाषा-योगवासिष्ट' में ही। ये पटियाला-दरबार के कथावाचक थे। इनकी शैली जैसी व्यवस्थित थी भाषा वैसी ही प्रांजल। इनके अनंतर सं० १८१८ में पं० दौलतराम ने 'पद्मपुराण' का अनुवाद खड़ी में किया। यह ७०० पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है। इसकी भाषा निरंजनीजी की भाषा से कुछ घट कर है। किंतु इससे यह तो प्रमाणित ही हो जाता है कि खड़ी के गद्य का कई सौ वर्षों से लिखा-पढ़ी में प्रयोग होता चला आ रहा था। इसी प्रकार की और भी छोटी-मोटी कितनी ही पुस्तकें खड़ी में लिखी गईं।

अँगरेजों के यहाँ जम जाने पर देशभाषा की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने स्पष्ट देखा कि जिसे 'उर्दू' कहते हैं वह देश की प्रकृत भाषा नहीं और न उसमें प्रस्तुत साहित्य ही देश की संस्कृति का अनुयायी है। अतः उन्होंने उर्दू और हिंदी अर्थात् खड़ी दोनों की खोज की। फोर्ट विलियम कालिज में (सं० १८०७) जान गिलक्राइस्ट ने दोनों भाषाओं में अलग अलग पुस्तकें लिखाने का आयोजन किया। इस आयोजन के पहले ही मुंशी सदासुखलाल (उपनाम 'सुखसागर') वैसा ही व्यवस्थित

और साधु गद्य प्रस्तुत कर चुके थे जैसा निरंजनीजी के 'योगवासिष्ठ' में दिखाई पड़ा था। लखनऊ के इंशा अल्ला खाँ ने भी 'रानी केतकी की कहानी' 'हिंदवी' में लिखी थी। जिसकी प्रस्तावना में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि हम ऐसी बोली में पुस्तक प्रस्तुत करना चाहते हैं 'जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली की पुट न हो।' उन्होंने उसे विदेशी प्रभाव अर्थात् फारसीपन और भाषा के प्रभाव अर्थात् संस्कृतपन दोनों से बचाने का प्रयास किया। फल यह हुआ कि उनकी भाषा बहुत ही बेढंगी दिखाई पड़ी। कुछ लोग तो उसे लखनऊ की जनानी बोली मानते हैं। इस प्रकार विक्रम की उन्नीसवीं शती के मध्य में हिंदी के चार गद्यलेखक दिखाई देते हैं—मुँशी सदासुखलाल (दिल्ली), इंशा अल्ला खाँ (लखनऊ), लल्लूलाल (आगरा) और सदल मिश्र (आरा, बिहार)। पिछले दो लेखक फोर्ट विलियम कालिज में खड़ी बोली गद्य की पुस्तकें लिखने के लिए नियुक्त हुए थे। इन चारों के गद्यों का अंतर पहले ही बताया जा चुका है।

खड़ी बोली गद्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर उसमें धीरे धीरे साहित्य भी प्रस्तुत होने लगा। आरंभ में खड़ी का साहित्य उस समय की पत्रिकाओं और लेखकों की फुटकल पुस्तकों द्वारा प्रस्तुत हुआ। इनमें मुख्य नाम राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद, राजा लक्ष्मण सिंह, श्रद्धाराम फुल्लौरी और भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद आरंभ में जिस प्रकार की भाषा लिखा करते थे वह चलती थी और उसमें संस्कृत या अरबी-फारसी के अनावश्यक शब्दों का मेल बिलकुल नहीं था। किंतु धीरे धीरे ये उर्दू की ओर झुके और इन्होंने अपनी भाषा को एक प्रकार से उर्दू ही बना डाला। इन्होंने एक लेख लिखकर अपनी भाषा-संबंधी इस नीति का समर्थन भी किया था। वास्तविक कारण यह था कि शिक्षा-विभाग के लिए ये जो पुस्तकें प्रस्तुत कर रहे थे वे ऐसी भाषा में जान-बूझकर निर्मित की गईं जो यदि नागरी लिपि में छापी जाय तो हिंदी समझी जाय और फारसी लिपि में छापी जाय तो उर्दू।

उर्दू और हिंदी को मिलाने का यह प्रयत्न व्यर्थ था। क्योँकि हिंदी अपने प्रकृत मार्ग पर चल चुकी थी और उर्दू ने अपना मुँह पश्चिम की ओर कर लिया था। इस बात को राजा लक्ष्मणसिंह ने भली भाँति पहचाना। अतः उन्होँने 'रघुवंश' की प्रस्तावना मेँ स्पष्ट लिखा कि "हमारे मत मेँ हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैँ। कुछ अवश्य नहीँ कि अरबी-फारसी के शब्दोँ के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैँ जिसमेँ अरबी-फारसी के शब्द भरे होँ।" अपनी पहचान ठीक ठीक होने के ही कारण राजा साहब की भाषा बहुत ही प्रौढ़ और व्यंजक हुई।

पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी पंजाब के थे और बहुत अच्छे विद्वान् एवं उपदेशक थे। ये स्वामी दयानंद के नवीन मत के विरुद्ध सनातनधर्म का प्रचार कर रहे थे। स्वामी दयानंद ने भी अपने मतप्रचार के साथ साथ आर्यभाषा अथवा हिंदी को मुख्य ठहराया। अतः लेखकोँ, पत्रकारोँ और उपदेशकोँ द्वारा हिंदी का पर्याप्त परिमार्जन और साथ ही प्रचार भी हुआ। इस समय तक खड़ी बोली ने अपना स्वाभाविक पथ ग्रहण कर लिया था। साहित्य मेँ केवल उसकी भली भाँति प्रतिष्ठा होने भर की आवश्यकता थी। यह काम भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा हुआ।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भाषा और साहित्य दोनोँ के विचार से हिंदी मेँ बहुत ही समयानुकूल कार्य किया। यद्यपि भाषा के स्वरूप का आभास अठारहवीँ शती के अंत मेँ ही मिल चुका था तथापि उसकी पूर्णरूप से प्रतिष्ठा नहीँ हुई थी। इसका प्रमाण लल्लूलाल और सदल मिश्र के गद्योँ से मिल जाता है। इसके लिए आवश्यकता थी प्रचार की। भारतेंदु ने भाषा के प्रचार, उसके संस्कार और उसमेँ साहित्य के निर्माण का भी कार्य किया। प्रचार के लिये इन्होँने पत्र-पत्रिकाओँ की ओर दृष्टि की, अपना एक प्रकार का मंडल बाँधा। इस प्रकार हिंदी की समृद्धि का कार्य भारतेंदु ने स्वतः तो किया ही इनके मित्रोँ ने भी

उसमें योग दिया। पं० प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट, जगमोहनसिंह, राधाकृष्णदास, रामकृष्ण वर्मा आदि इनके मंडल के ही व्यक्ति थे। भारतेंदु और इनके मित्रों ने बँगला के बहुत से ग्रंथों का अनुवाद किया, जिसका उद्देश्य नवीन लेखकों को अन्यत्र साहित्य की बढ़ती हुई गति से परिचित कराना था। अनुवाद करके ही ये लोग चुप रहनेवाले नहीं थे, इन्होंने मौलिक रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। अनुवाद तो बानगी के लिए थे।

उन दिनों पद्य में ब्रज और गद्य में खड़ी चलती थी। भारतेंदु ने दोनों का परिष्कार किया। यद्यपि ब्रज में बहुत अधिक वाङ्मय प्रस्तुत हो चुका था तथापि उसके परिष्कार का कार्य बहुत दिनों से नहीं हुआ था। काव्यभाषा को सजीव और व्यंजक बनाए रखने के लिए आवश्यकता होती है शब्दों के संस्कार की। जो भाषा बहुत दिनों से परंपरा में गृहीत होती है उसमें स्वभावतः पुराने शब्द और प्रयोग चलते रहते हैं। किंतु समय की गति के साथ वे अपरिचित और दुर्बोध भी हो जाया करते हैं। भारतेंदु ने ब्रज से इस प्रकार के बहुत से शब्द हटाए। वाक्य-विन्यास में भी कुछ सरलता का समावेश किया। शब्दार्थ की गूढ़ता के स्थान पर भाव की गहराई की रुचि दिखाई। इसी प्रकार गद्य में भी परिष्कार किया। इन्हें दो प्रकार के गद्यों की आवश्यकता थी। एक तो विचार-पद्धति के अनुकूल चलनेवाले कठिन और दूसरे बोलचाल के अनुरूप चलनेवाले सरल गद्य की। विचार-व्यंजक गद्य तो अपने प्रकृत रूप में पहले भी दिखाई पड़ा था, किंतु बोलचाल और संवाद के अनुरूप सरल एवं प्रवाहपूर्ण गद्य का विधान बिलकुल नहीं हुआ था। भारतेंदु ने चलते शब्दों या छोटे छोटे वाक्यों के प्रयोग द्वारा इस प्रकार के गद्य का बहुत ही शिष्ट एवं साधु रूप प्रस्तुत किया। विवेचना के उपयुक्त जो गद्य पहले से दिखाई पड़ता था उसमें कहीं कहीं उलझनें भी दिखाई पड़ती थीं। किंतु भारतेंदु ने बहुत ही सुलझा हुआ गद्य सामने रखा। शुद्ध साहित्य तक ही इनकी दृष्टि का प्रसार नहीं था। ये अन्य वाङ्मयों की ओर भी प्रवृत्त हुए। अतः उसके लिए चलते,

अर्थबोधक एवं साथ ही सरल गद्य की विशेष आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार साहित्य में गद्य के जितने रूप अपेक्षित थे उन सबके परिष्कृत रूप को प्रतिष्ठा भारतेंदु ने की और इनकी मंडली ने उसमें हाथ बँटाया।

उसी समय शुद्ध साहित्यिक गद्य के भीतर विविध शैलियों की प्रतिष्ठा भी होने लगी थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहनसिंह वर्मा आदि के गद्यों से इसका प्रमाण मिलता है। अनुवादों में भी भाषा के प्रकृत रूप की रक्षा का पूरा प्रयत्न दिखाई देता है। कारण यह था कि उस समय के लेखक हिंदी के पूरे जानकार होते थे। उसकी गति-विधि तथा प्रवृत्ति से भली भाँति परिचित होते थे। इसी से दूसरी भाषाओं के अनावश्यक बोझ से भाषा की गति अवरुद्ध नहीं हो पाती थी।

भाषा ही नहीं, साहित्य में भी अत्यधिक उन्नति भारतेंदु और इनके मित्रों द्वारा हुई। भारतेंदु जो 'हिंदी के जन्मदाता' कहे जाते हैं वह साहित्य की श्रीवृद्धि ही के कारण। हिंदी में दृश्यकाव्यों की बहुत बड़ी कमी थी। जो नाटक पहले लिखे भी गए थे वे बोलचाल की भाषा खड़ी में नहीं थे, पारंपरिक भाषा व्रज में थे और उनका अधिकांश पद्य में था। अतः उन्हें 'नाटक' कहना ही ठीक नहीं। इसलिए हिंदी में नाटकों का आरंभ वस्तुतः भारतेंदु ही से समझना चाहिए। भारतेंदु ने अनुवाद भी प्रस्तुत किए और मौलिक रूपक भी लिखे। अनुवाद संस्कृत, अँगरेजी तथा बँगला भाषाओं से किए गए हैं। अनुवादों पर ही ध्यान देने से पता चल जाता है कि भारतेंदु प्राचीन और नवीन के मध्य में स्थित होना चाहते थे। अपने मौलिक नाटकों में भी इन्होंने इसी का प्रयास किया। अनुवाद की भाषा ऐसी रँगी गई है और अनुवाद ऐसे ढर्रे पर लाया गया है कि वह अनुवाद रह ही नहीं गया। अनुवाद की ऐसी विशेषता भारतेंदु-युग के अनंतर हिंदी में फिर वर्तमान-युग में ही कहीं कहीं दिखाई पड़ी, बीच में कहीं नहीं। भारतेंदु की दृष्टि केवल शुद्ध

साहित्य तक नहीं रही, ये वाङ्मय के अन्य विभागों की ओर भी गए। इन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक कही जानेवाली कुछ पुस्तिकाएँ और लेख प्रस्तुत किए। शैलियों और विविधता पर ध्यान देते हैं तो भी यही दिखाई देता है कि इन्होंने पद्य में अनेक शैलियों का व्यवहार किया। विविधता के विचार से इन्होंने छोटे-बड़े सब प्रकार के नाटक लिखे। केवल इन्होंने 'महाकाव्य' कोई नहीं प्रस्तुत किया। वस्तुतः भारतेंदु बहुरंगी व्यक्ति थे। ये समय समय पर नाना प्रकार की बातें सोचा और उन्हें लेखबद्ध किया करते थे। छोटे छोटे पद्य-निबंध या वर्णनात्मक प्रबंध इनके कई निकले। प्रबंध-काव्य वस्तुतः जमकर लिखने की वस्तु है, उस ओर इनकी रुचि ही नहीं हुई और न जमकर इन्हें लिखने का अवसर ही प्राप्त हुआ। अल्पायु होने के कारण भी ये ऐसा नहीं कर सके। हिंदी की परंपरा भी इन प्रबंध-काव्यों से विमुख हो चुकी थी। जो कार्य भारतेंदु ने किया वही इनके मित्र भी करते रहे। यद्यपि सबकी प्रकृति वैसी बहुरंगी नहीं थी फिर भी जहाँ तक हो सका हिंदी-साहित्य में विविधता का विधान वे लोग भी करते रहे। सबसे ध्यान देने योग्य बात है कि साहित्य-निर्माण में एकता होते हुए भी उनकी गद्य-शैलियों में भिन्नता थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र विनोदशील प्रकृति के व्यक्ति थे, अतः वे सामान्य से सामान्य बातों में भी विनोद की सामग्री निकाल लिया करते थे। भारतेंदु स्वयं कई शैलियों में लिखते हुए भी सरल और सुबोध गद्य प्रस्तुत करनेवालों में थे। बदरीनारायण चौधरी अपने गद्य को अलंकृत और जटिल बनाने में व्यस्त रहते थे। जगमोहनसिंह 'कादंबरी' का अनुगमन करते हुए भी जटिलता से दूर रहे। यह मानना पड़ेगा कि भारतेंदु-युग में भाषा की रक्षा और साहित्य को संस्कृति के अनुरूप निर्मित करने के उत्साह तथा अभिव्यंजना की विविध प्रकार की शैलियों के विधान और मस्ती के जैसे दर्शन हुए हिंदी में आगे चलकर फिर कभी नहीं। आज हिंदी का प्रसार पहले की अपेक्षा अधिक है किंतु उस प्रकार की बहुरंगी छटा के दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं।

द्विवेदी-युग

भारतेंदु का अस्त होते ही हिंदी में फिर अवरुद्धता दिखाई देने लगी। उनकी मित्रमंडली ही कुछ न कुछ कार्य करती रही। नए लेखकों का प्रादुर्भाव नहीं हो रहा था। लार्ड मेकाले ने अँगरेजी को शिक्षा का माध्यम बनाकर यहाँ के निवासियों के मन में विदेशी भाषा के लिए प्रबल आकर्षण उत्पन्न कर दिया था। संस्कृत का समृद्ध साहित्य उसके अनुशीलकों को हिंदी की ओर उपेक्षा की दृष्टि रखने को विवश कर रहा था। परिणाम यह हुआ कि अँगरेजी पढ़नेवाले हिंदी को उपयोग की वस्तु ही नहीं समझते थे। हिंदी की पढ़ाई-लिखाई की ठीक ठीक व्यवस्था न होने के कारण इसका ज्ञान श्रमसाध्य समझकर लोग इससे पराङ्मुख ही रहते थे। व्याकरण की ठीक ठीक व्यवस्था न होने के कारण अँगरेजीवाले तो इसके जानने में कठिनाई का अनुभव करते थे और संस्कृतवाले इसे ठीक-ठिकाने की भाषा ही मानने में संकोच करते थे। इसलिए दो बातों की आवश्यकता थी। एक तो इसकी कि व्याकरण की व्यवस्था की जाय और दूसरी इसकी कि हिंदी सचमुच लिखने-पढ़ने और समझने-समझाने की भाषा समझी जाय।

भारतेंदु के अनंतर उनके फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास और उनके बालमित्र बाबू श्यामसुंदरदास आदि के उद्योग से काशी में 'नागरीप्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई और उसके तत्त्वावधान में 'सरस्वती' पत्रिका निकलने लगी। 'सरस्वती' निकलने के दो-तीन वर्ष के अनंतर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसका संपादन-भार अपने कंधों पर उठाया। इनके पहले पत्रिका का संपादन संपादक-मंडल द्वारा होता था।

द्विवेदीजी ने मैदान में आते ही व्याकरण की व्यवस्था पर ध्यान दिया और यह प्रमाणित किया कि हिंदी भी पढने-लिखने-योग्य भाषा है। अब तक हिंदी में दूसरी भाषाओं से नाटक या उपन्यासों के ही अनुवाद हुए थे। इन्होंने अन्य भाषाओं के सामयिक वाङ्मय के संपर्क

में हिंदी के पाठकों को पहुँचाने का प्रयास किया। मराठी, गुजराती, बँगला, अँगरेजी आदि भाषाओं में निकलनेवाले पत्रों और विविध विषयों के लेखों से हिंदीवालों को परिचित कराना आरंभ किया। भारतेंदु शुद्ध साहित्य की विविध शाखाओं के अतिरिक्त लोकोपयोगी अन्य वाङ्मयों की ओर केवल प्रवृत्त होकर ही रह गए थे। उन्होंने केवल मार्ग-प्रदर्शन का काम किया। सब प्रकार के विषयों का समावेश वे उस समय हिंदी में न कर सके। द्विवेदीजी ने हिंदी को सब प्रकार के विषयों की ओर उन्मुख करके उसकी समृद्धि और प्रसार का मार्ग खोल दिया। अँगरेजी सी संपन्न भाषा में जितने विषयों पर विचार किया गया था उन्हें हिंदी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न इन्होंने अधिक किया, जिससे केवल हिंदी जाननेवाले भी सब प्रकार के आवश्यक विषयों से परिचित हो सकें। इस सबके लिए हिंदी के व्याकरण, कोश, वैज्ञानिक शब्दावली और इतिहास की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। 'नागरीप्रचारिणी सभा' के संचालकों का ध्यान इधर गया और धीरे धीरे ये सब ग्रंथ हिंदी में प्रस्तुत किए गए।

द्विवेदीजी में गद्य की भिन्न भिन्न शैलियाँ तो वैसी नहीं दिखाई देतीं किंतु इन्होंने हिंदी की बाह्य समृद्धि का जो प्रयत्न किया वह हिंदी-जगत् में सदा स्मरणीय रहेगा। शैली का विचार करने पर स्पष्ट लक्षित होता है कि कुछ लेखक विशेष प्रकार के आवेश (मूड) में ही विशिष्ट-शैली-संपन्न भाषा का प्रयोग कर सकते हैं। यह बात हिंदी के दो लेखकों से सिद्ध हो जाती है—एक पं० बालकृष्ण भट्ट से और दूसरे पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी से। भट्टजी चिड़चिड़े व्यक्ति थे। खीझने पर ही उनकी विशिष्ट शैली के दर्शन होते थे। अतः उनके निबंधों में वे ही उत्तम हैं जिनमें उनका चिड़चिड़ापन दिखाई पड़ता है। द्विवेदीजी क्रोधी व्यक्ति थे। अतः रोषावेश में ही इनकी विशिष्ट शैली दिखाई देती है।

द्विवेदी-युग में केवल भाषा का ही संस्कार नहीं हुआ साहित्य की विभिन्न शाखाओं में भी थोड़ा-बहुत कार्य हुआ। नाटक-विभाग में अधिकतर अनुवादों की ही धुन रही। संस्कृत, बँगला और अँगरेजी के

अधिकतर नाटकों के अनुवाद किए गए। जो मौलिक नाटक लिखे भी गए उनमें अभिनय-कौशल का विशेष ध्यान नहीं रखा गया। उपन्यासों का निर्माण इस समय विशेष रूप से किया गया। बँगला के उपन्यासों की धूम तो मची ही, अपने ढंग के घटना-प्रधान उपन्यास भी प्रस्तुत हुए। ऐयारी और तिलस्मी उपन्यास लिखनेवाले देवकीनंदन खत्री इसी समय मैदान में आए। गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासों का आरंभ भी इसी समय से होता है। सामाजिक और ऐतिहासिक कहे जानेवाले उपन्यासों का ढेर लगानेवाले पं० किशोरी-लाल गोस्वामी इसी युग में हुए। बँगला की देखादेखी भावप्रधान उपन्यास भी लिखे गए, जिसके प्रवर्तक बाबू ब्रजनंदन सहाय थे।

हिंदी में कहानियों का आरंभ इसी युग से समझना चाहिए। आरंभ में कुछ बँगला कहानियों के अनुवाद हुए। फिर मौलिक कहा-नियों की ओर लोग प्रवृत्त हुए। हिंदी की साहित्यिक मौलिक कहानियों का आरंभ किशोरीलाल गोस्वामी, रामचंद्र शुक्ल और बंग-महिला की कहानियों से माना गया है। किंतु ये लोग कुछ ही कहानियाँ लिखकर विरत हो गए। पर देखादेखी बाबू जयशंकरप्रसाद ने बहुत सी मौलिक कहानियाँ लिख डालीं। विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', राधिकारमण-प्रसाद सिंह, ज्वालादत्त शर्मा आदि इसी समय के कहानी-लेखक हैं। पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी की सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक कहानी 'उसने कहा था' इसी समय लिखी गई। हास्यरस की हल्की कहानियाँ लिखनेवाले जी० पी० श्रीवास्तव इसी समय मैदान में आए। प्रेमचंद की कहानियों का आरंभ भी इसी समय से समझना चाहिए।

निबंधों में विशेष उन्नति तो नहीं हुई किंतु छोटे छोटे गद्य-प्रबंध लिखने का प्रचलन होने लगा। इस समय के गद्य-लेखकों में विशेष ध्यान देने योग्य दो ही तीन व्यक्ति दिखाई देते हैं। पंडित माधवप्रसाद मिश्र ने उत्सवों, तीर्थ-स्थानों, त्योहारों आदि पर मार्मिक और चटपटे निबंध लिखे। पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने कादंबरी की शैली पर 'कवि और चितेरा' नामक बृहत् प्रबंध लिखना आरंभ किया, जो

अधूरा रह गया। पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने कई पांडित्यपूर्ण एवं प्रसंगगर्भ निबंध लिखे। इस युग में अधिक ध्यान देने योग्य निबंध-लेखक सरदार पूर्णसिंह हुए। इनके चार-पाँच लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता से युक्त निबंध 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए। विषय और व्यंजना दोनों के विचार से इनके निबंध सबसे पृथक् दिखाई देते हैं। जैसे इनके विषय आधुनिक हैं वैसी ही व्यंजना भी। ऐसे निबंध आज तक हिंदी में दूसरे नहीं लिखे गए। यद्यपि इनकी शैली कुछ विदेशी ढर्रा लेकर चली पर उसमें अपनापन भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

द्विवेदी-युग में जिस प्रकार उपन्यासों और कहानियों को विस्तृत भूमि मिली उसी प्रकार समालोचना को भी। यद्यपि समालोचना का श्रीगणेश भारतेंदु-युग में ही हो गया था पर उसका विस्तार नहीं हो पाया था। इस युग में 'सरस्वती' में पुस्तकों की आलोचना का पृथक् स्तंभ ही रखा गया। स्वयं द्विवेदीजी ने संस्कृत-कवियों की आलोचनाएँ प्रकाशित कीं। मिश्रबंधुओं का 'हिंदी-नवरत्न' इसी समय निकला। तुलनात्मक आलोचना का प्रवर्तन इसी युग में हुआ। पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी' की आलोचना और पं० कृष्णबिहारी मिश्र का 'देव और बिहारी' इसी समय की रचनाएँ हैं। बिहारी को लेकर उस समय बहुत अधिक लिखा-पढ़ी हुई, जिसका आरंभ 'हिंदी-नवरत्न' से हुआ और जिसकी समाप्ति 'बिहारी और देव' नामक लाला भगवानदीनजी की पुस्तक से हुई। तुलनात्मक आलोचना का बाजार विशेष गरम हुआ। बहुत से लेखक तो कवियों की तुलना को ही आलोचना का चरम लक्ष्य समझ बैठे।

इस युग में खड़ी बोली को पद्य में स्वीकृत कराने का प्रबल आंदोलन उठा। स्वयं द्विवेदीजी ने खड़ी बोली और साथ ही संस्कृत-वृत्तों में तथ्यमात्र-व्यंजक रचनाएँ कीं। इन्होंने स्वयं ही खड़ी में पद्य-रचना नहीं की बहुत से कवियों को मैदान में उतारा भी। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पांडेय में इनकी प्रेरणा जगत्प्रसिद्ध है। इसी समय श्रीधर पाठक और पं०

अयोध्यासिंह उपाध्याय भी खड़ी बोली की रचना में प्रवृत्त हुए। पाठकजी ने 'गोल्डस्मिथ' के 'श्रांत पथिक' (ट्रैवलर) का अँगरेजी से अनुवाद किया। मौलिक रूप में इन्हों ने बहुत सी फुटकल कविताएँ भी प्रकाशित कीं। उपाध्यायजी का 'प्रियप्रवास' संस्कृत-वृत्तों में धूमधाम के साथ मैदान में आया। इनकी 'चोखे चौपदे' आदि मुहावरे की पुस्तकें इसी समय की हैं। इसी प्रकार और भी बहुत से लोग स्वच्छंद रूप से खड़ी बोली में रचना करने लगे, जिनमें से उल्लेखनीय कवि ये हैं—नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, लाला भगवानदीन, रामनरेश त्रिपाठी आदि।

पद्य की शैली के विचार से इस समय संस्कृत के वर्णवृत्तों, हिंदी के मात्रिक छंदों और उर्दू की बहरों तीनों का विशेष प्रचार हुआ। वर्णवृत्तों में तुकांत और अतुकांत दोनों प्रकार की रचनाएँ हुईं। मात्रिक छंदों से भी कुछ लोगों ने तुकांत हटाए; जैसे श्रीधर पाठक, जयशंकर प्रसाद आदि ने। पर यह प्रवृत्ति चल न सकी। उर्दू बहरों में फुटकल और प्रबंधात्मक दोनों प्रकार की रचनाएँ हुईं। इस युग में सबसे अधिक रचनाएँ दिखाई पड़ीं पद्य-निबंधों की। छोटे छोटे कथाखंड ले कर कुछ दूर तक पद्यबद्ध रचना करने का विशेष प्रचार हुआ। ये पद्य-निबंध सब प्रकार के होते थे—कथात्मक, वर्णनात्मक, उपदेशात्मक। पद्य की भाषा में भी बहुरूपता आई। कुछ कवि तो गद्यात्मक रूप के ही कट्टर पक्षपाती रहे, पर कुछ आवश्यकतानुसार ब्रज के प्रत्ययों, अव्ययों और नामधातु क्रियाओं के प्रयोग में भी प्रवृत्त हुए। यदि उर्दू बहरों में कुछ अरबी-फारसीमिश्रित शब्दावली गृहीत हुई तो वर्णवृत्तों में संस्कृत-गर्भ पदावली और लंबे लंबे समासों का व्यवहार बढ़ा।

द्विवेदीजी द्वारा भाषा की व्यवस्था हो जाने के अनंतर हिंदी में साहित्य का निर्माण प्रबल वेग से होने लगा। काशी के अतिरिक्त प्रयाग तथा कानपुर भी इसके केंद्र हुए। विश्वविद्यालयों में भी हिंदी का स्वागत हुआ और उच्च-कक्षाओं तक में हिंदी स्वतंत्र विषय मान ली

गई। हिंदी-साहित्य-संमेलन की स्थापना हो जाने से हिंदी-परीक्षाओं की ओर लोग उन्मुख हुए। विभाषी प्रांतों में भी हिंदी का प्रचार होने लगा। हिंदी में सैकड़ों पत्र-पत्रिकाए निकलने लगीं। इस प्रकार शुद्ध साहित्य की विभिन्न शाखाओं में तो पर्याप्त कार्य हुआ ही हिंदी में अन्य विषयों पर भी प्रभूत वाङ्मय प्रस्तुत होने लगा। इसी का परिणाम है कि भारत में जितनी पुस्तकें आज हिंदी में प्रकाशित होती हैं उतनी किसी दूसरी भाषा में नहीं।

वर्तमान युग

द्विवेदीजी ज्योंही 'सरस्वती' से पृथक् हुए हिंदी में व्याकरण का बंधन कुछ ढीला होने लगा। राजनीतिक प्रवृत्तियों की प्रेरणा और सीधे अँगरेजी के संपर्क में आ जाने से कुछ कवि या लेखक उच्छृंखल या उद्दंड भी दिखाई पड़े। अपने प्राचीन साहित्य का अध्ययन किए बिना ही, शेली, बायरन, कीट्स आदि विदेशी कवियों तथा टालस्टाय, बर्नर्ड शा आदि लेखकों का अंधानुसरण करने की प्रवृत्ति अँगरेजी पढ़े-लिखे कुछ नवयुवकों में जगने लगी। वे हिंदी की पुरानी कविता के अध्ययन को छोटा काम समझने लगे। रहस्यवाद का विदेशी भूत बहुतों के सिर सवार होने लगा। नवीनता की झोंक में आकर काव्य के लिए उपयोगी एवं साहित्य के लिए वांछित विषयों तथा पद्धतियों के प्रवर्तन की आड़ में विदेशी रंगत खूब चढ़ने लगी। भाषा में भी विदेशी शब्दावली का अक्षरशः अनुगमन हो चला। पद्य और गद्य दोनों पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। हिंदी पढ़ने-लिखने की भाषा मानों रही नहीं गई। कलम पकड़ने का टेढ़ा-सीधा अभ्यास करते ही नवसिखुए हिंदी के लिक्खाड़ बनने लगे। ऐसे ही लोगों के कारण हिंदी में मकराश्रु, या नक्राश्रु, दृग्बिंदु, मध्यबिंदु, एक अध्ययन, वातावरण, वायुमंडल, दृष्टिकोण आदि भाषा की प्रवृत्ति के विरुद्ध बने हुए शब्द दिखाई देने लगे हैं। वाक्यों का गठन भी विदेशी ढाँचे का हो चला है। 'वह कहता था कि मैं जाऊँगा' के स्थान पर 'वह कहता था कि वह

जायगा' ऐसे वाक्य उनकी दृष्टि में शुद्ध भी समझे जाते हैं और अत्यधिक प्रयुक्त भी होते हैं। उन्हें क्या पता कि हिंदी की प्रकृति संस्कृत की भाँति स्वभावोक्ति या साक्षात् कथन (डाइरेक्ट नरेशन) की है, वक्रोक्ति या परोक्ष कथन (इनडाइरेक्ट नरेशन) की नहीं। मध्यग उपवाक्य (पैरेंथेटिकल क्लाज) का हिंदी के अच्छे अच्छे निबंधकारों ने तो बड़ा ही रमणीय विधान कर लिया है, पर इनके द्वारा उसका अत्यधिक और भद्दा प्रयोग बहुत ही उद्वेगजनक हो रहा है। अँगरेजी के पूर्वसर्ग (आर्टिकल्स) 'ए' और 'दी' की भद्दी नकल से तो हिंदी में बड़ी ही भोंड़ी पद-योजना चल पड़ी है। अनावश्यक 'एक' और 'वह' की छूत इतनी फैली कि अँगरेजीवाले बाबू साहबों तक ही न रहकर केवल हिंदी जाननेवाले लोगों को भी आ लगी है।

एक ओर अँगरेजी की चढ़ाई से हिंदी त्रस्त थी ही, दूसरी ओर से उर्दू ने भी धावा बोल दिया। एकवचन सर्वनाम 'वह' या 'यह' के साथ आदरार्थक बहुवचन जुड़ने लगा है; जैसे 'वह बड़े अच्छे कवि थे'। हिंदी में ऐसे प्रयोक्ताओं को कौन समझाए कि आदरार्थक बहुवचन संस्कृत का प्रसाद है। वहाँ सर्वनाम और क्रियापद दोनों बहु-वचनांत ही होते हैं, यहाँ तक कि नाम भी । अतः हिंदी में 'वह' के स्थान पर 'वे' और 'यह' के बदले 'ये' का ही ऐसे अवसरों पर प्रयोग होना चाहिए। इसी प्रकार उर्दू की नकल पर वाक्य-विन्यास में कर्ता का क्रियापद के निकट होना हिंदी की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं।

भाषा में यह अव्यवस्था होते हुए भी हिंदी-साहित्य की विभिन्न शाखाओं का विस्तार और उनका लदाव पहले की अपेक्षा बहुत अधिक हो गया है। गद्यशैली के अंतर्गत उपन्यासों और कहानियों का विस्तार तो सबसे अधिक हुआ। जनता की रुचि परिष्कृत हो जाने से साहित्यिक सुरुचि-संपन्न उपन्यासों की ओर हाथ बढ़ने लगे, घटना-वैचित्र्यपूर्ण उपन्यासों ने हाथ-पैर समेट लिए। उपन्यासों में भी कई प्रकार के वर्ग दिखाई पड़े। आरंभ में उपन्यास बंग भाषा की देखा-देखी चलते थे। अब अँगरेजी द्वारा सभी विदेशी भाषाओं से हिंदी

के लेखकों का सीधा संबंध जुड़ गया है। इसीसे बँगला का दबाव हट गया, पर वह साथ ही पदावली की मधुरता भी लेता गया। वंगभाषा के उपन्यासों में काव्यत्व का पूर्ण तिरस्कार हुआ ही नहीं। विदेशी उपन्यासों का ढाँचा बाहर से लेकर भी वहाँ के लेखक भारतीयता को साथ लगाए रहे। हिंदी के पिछले कूँड़े के उपन्यासों में, यहाँ तक कि जासूसी, ऐयारी आदि घटना-प्रधान उपन्यासों तक में प्राकृतिक छटा, परिस्थिति का चित्रण एवं विवरण मधुर पदावली और रसमय ढंग से प्रस्तुत किए जाते थे। किंतु पश्चिमी उपन्यासों से काव्य का रंग धीरे धीरे उड़ा दिया गया, अतः हिंदी में भी वही स्वाँग भरा जाने लगा।

कहानियों का प्रसार इस युग में सबसे अधिक हुआ। जीवन की संकुलता के बीच थोड़े समय में मनोरंजन करानेवाली छोटी कहानियाँ ही होती हैं। अतः लोग चिल्लाने लगे हैं कि अब बड़े बड़े उपन्यासों का समय लद गया। छोटी कहानियाँ दैनिक समाचारपत्रों तक में प्रकाशित होने लगी हैं। एक ओर उनका प्रसार बढ़ रहा है और दूसरी ओर उनका आकार दिन पर दिन छोटा होता जा रहा है। पश्चिमी हवा के झोंके से वे सिकुड़ी ही नहीं, उनका काव्यरस भी सूख गया। कहानियों में विविधता के दर्शन तो होते हैं, किंतु कुछ सिद्धहस्त लेखकों के अतिरिक्त अधिकतर कहानी-लेखक व्यर्थ की नवीनता लाने के प्रयत्न में विचित्र रूप-रंग की कहानियाँ पेश कर रहे हैं। कथाओं द्वारा अब मत-प्रचार भी किया जा रहा है।

द्विवेदी-युग में तो नाटकों का प्रायः अभाव ही रहा। उसका कारण यह था कि हिंदी बहुमुखी प्रवृत्तियों में संलग्न होकर अपना ऐश्वर्य-विस्तार करने में लगी हुई थी। अतः श्रव्यकाव्य ही उसके अनुकूल दिखाई पड़ा। नाटक-मंडलियों के अभाव में साहित्यिक नाटक लिखने का उत्साह ही कौन दिखाता? हाँ, खेल-तमाशा करनेवाली कंपनियों के लिए कुछ लोग धार्मिक, पौराणिक या सामाजिक नाटक अवश्य लिखते रहे। पर वे सबके सब नाटक साहित्य-कोटि में आ सकते हैं, इसमें संदेह है। अतः वर्तमान युग में नाटकों की ओर

अपनी गंभीर और ऐतिहासिक रुचि लिए हुए भावना-भरित कवि बाबू जयशंकरप्रसाद जी बढ़े। इन्होंने राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ और ध्रुवस्वामिनी नामक कई ऐतिहासिक और कामना एवं एक घूँट नामक भावात्मक रूपक प्रस्तुत किए। इनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विदेशी अनुकृति पर इससे काव्यत्व एकदम हटाया नहीं गया। आधुनिक शैली पर वैचित्र्यपूर्ण संवाद करते या भाषण देते हुए इनके सभी पात्र एक ही साँचे में ढले से तो जान पड़ते, हैं पर यह कहना ठीक नहीं कि इनके नाटक खेले ही नहीं जा सकते। शुद्ध साहित्यिक नाटकों के लिए जैसे परिष्कृत रुचिवाले दर्शकों की आवश्यकता होती है वैसे सब होते कहाँ हैं? बंगाल में द्विजेंद्रलाल राय के ऐसे ही नाटक तो खेले जा सकते हैं पर हिंदी में प्रसादजी के नाटक नहीं, ऐसा क्यों? पारसी-कंपनियों के हल्के नाटक देखते देखते जिनकी रुचि अपभ्रष्ट हो चुकी है क्या उन्हें ही कसौटी माना जायगा? साहित्यिक रुचि से संपन्न लोगों के समक्ष तो ये नाटक पूर्ण सफलता के साथ खेले गए हैं, फिर भी संशय? क्या पारसी-कंपनी के अपढ़ अभिनेता ऐसे शुद्ध साहित्यिक नाटकों का सफल अभिनय कर सकेंगे? इनके लिए तो साहित्यिक अभिनेता भी चाहिए—पढ़े-लिखे, शिष्ट एव सुरुचिशाली; जैसे बँगला के होते हैं, मराठी में पाए जाते हैं। किसी का दोष किसी के सिर क्यों मढ़ा जाय?

इस युग में सबसे प्रसिद्ध निबंधकार पं० रामचंद्र शुक्ल हुए। इनके निबंधों में हृदय और बुद्धि दोनों का सम्यक् योग दिखाई पड़ा। विचारात्मक निबंधों को चरमावधि हिंदी में शुक्लजी के निबंधों ही में दिखाई पड़ी। निबंध के भीतर विचारधारा के विवेचन के साथ साथ व्यक्तित्व का भी उचित योग दिखाई दिया। विचारात्मक निबंधों में शुक्लजी के निबंध निगमन शैली पर लिखे गए हैं। वर्णनात्मक निबंध अब हिंदी में बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। जो मिलते भी हैं उनमें वर्ण्य वस्तु के संश्लिष्ट वर्णन की छटा नहीं दिखाई देती। भावात्मक

निबंध लिखनेवाले रघुबीर सिंह दिखाई पड़े, जिन्होंने इतिहास का परदा उठाकर मध्यकालीन राजन्यवर्ग की बड़ी ही भावपूर्ण झाँकियाँ देखीं-दिखाईं। उनकी 'शेष स्मृतियाँ' अत्यंत रमणीय रचना है। कथात्मक निबंध तो पद्मसिंह शर्मा ने कुछ लिखे भी, जो रसिकता से ओत-प्रोत होकर बड़ी ही विदग्धता के व्यंजक बने, पर आत्मव्यंजक निबंध तो एक प्रकार से उठ ही गए।

इस युग में गद्यकाव्य अवश्य अधिक लिखे गए और उनमें विविधता के दर्शन भी हुए। गद्यकाव्य लिखनेवालों में राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके निबंधों में अखंड और खंड शैलियाँ भी दिखाई पड़ती हैं और प्रतीकों का विधान भी, जो अधिकतर अन्योक्ति-पद्धति पर हुआ है। प्रतीकात्मक पद्धति पर चलनेवाले राय कृष्णदास और वियोगी हरि हैं। वियोगी हरि के प्रतीक किसी विशेष भावना को ही चरितार्थ करने के लिए लाए जाते हैं। भक्तिभावना, लोकभावना आदि को पुष्ट करनेवाले छोटे छोटे खंडदृश्य जीवन में से चुनकर प्रस्तुत किए गए हैं। राय साहब के प्रतीकों में कोई एक ही निश्चित भावना नहीं है। कलाकार, भक्त, विचारक, प्रेमी, लोकपीड़ित आदि सभी के लिए छाँटे हुए प्रतीक लाए गए हैं। राय साहब रवींद्रनाथ ठाकुर की अनुकृति पर रहस्यदर्शी के रूप में भी दिखाई पड़े हैं। किंतु वियोगी हरि सगुण भक्तों के ढर्रे पर ही चले हैं। चतुरसेन शास्त्री ने विभिन्न भावों के अनुकूल अनेक उक्तियों की योजना द्वारा बहुत ही प्रभावोत्पादक व्यंजनाएँ की हैं। बँगला की नाटकीय शैली पर प्रलाप-पद्धति का मार्मिकतापूर्ण अनुधावन किया गया है। उक्त लेखकों में भाषा के स्वरूप की भिन्नता भी पाई जाती है। राय साहब की भाषा कुछ ठेठ पर अर्थगर्भ शब्दों को लिए हुए है, वियोगी हरि की भाषा भावात्मकता लाने के लिए कविता के शब्दों का अभिनंदन बराबर करती चलती और शास्त्रीजी की भाषा खड़ी बोली की बोलचाल के शब्दों को स्वाभाविकता लाने के लिए समेटती रहती है।

इस युग में सबसे बड़ा कार्य व्याख्यात्मक आलोचना की प्रतिष्ठा

का हुआ। अनेक प्रयत्नों और उद्योगों से हिंदी का प्रसार तो दूर दूर तक हो गया था और उसकी शिक्षा की व्यवस्था भी ऊँची कक्षाओं में हो गई थी, किंतु उच्चकोटि की आलोचना का वाङ्मय एक प्रकार से था ही नहीं। जो आलोचनाएँ अब तक हुई थीं वे अधिकतर परिचयात्मक थीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपनी व्याख्यात्मक आलोचनाओं के साथ इस क्षेत्र में उतरे। तुलसी, जायसी और सूर पर उनकी मार्मिक एवं विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएँ भूमिका के रूप में निकलीं। लाला भगवानदीन और उनके शिष्यों ने प्राचीन ग्रंथों के सुसंपादित संस्करणों के साथ लंबी लंबी भूमिकाएँ प्रकाशित कीं। कबीर पर अयोध्यासिंह उपाध्याय और पीतांबरदत्त बड़थ्वाल की आलोचनाएँ सामने आईं। इसके अनंतर शुक्लजी की शैली पर स्वतंत्र रूप में अथवा ग्रंथों की भूमिका के रूप में केशव, बिहारी, पद्माकर, मीरा, भूषण आदि कवियों तथा प्रेमचंद, प्रसाद आदि लेखकों पर कई समीक्षाएँ लिखी गईं। हिंदी-साहित्य के कई ऐसे इतिहास भी मुद्रित हुए जो अधिकतर समीक्षात्मक थे। साहित्य की अन्य शाखाओं के आलोचनात्मक इतिहास भी प्रकाशित हुए; जैसे कहानी, नाटक, उपन्यास आदि के। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आलोचना के क्षेत्र में शुक्लजी का व्यापक प्रभाव पड़ा। कुछ प्रभाववादी आलोचकों और अँगरेजी के निरे अनुकरणकर्ताओं को छोड़कर आलोचना का ऐसा वाङ्मय हिंदी में प्रस्तुत हो चुका है जो इसे पूर्णतया समृद्ध और शास्त्रविचार-संपन्न भाषा प्रमाणित कर देता है।

हिंदी में नवीनता की ओर रुचि भारतेंदु के समय से ही दिखाई देती है। द्विवेदी-युग में भी यह रुचि बढ़ती रही। किंतु इस युग में आकर उसका बहुत अधिक प्रसार हुआ। बहुत सी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित होने और गद्य-लेखों के साथ साथ पद्यबद्ध छोटे छोटे निबंधों के प्रकाशित करने का जो ढर्रा द्विवेदीजी के समय निकला उसने कविता की ओर बहुतों को खींचा। किंतु द्विवेदीजी के समय की कविताएँ पद्य में काव्यतत्त्व और मार्मिकता का विधान करने में उतनी समर्थ

निबंध लिखनेवाले रघुबीर सिंह दिखाई पड़े, जिन्होंने इतिहास का परदा उठाकर मध्यकालीन राजन्यवर्ग की बड़ी ही भावपूर्ण झाँकियाँ देखीं-दिखाईं। उनकी 'शेष स्मृतियाँ' अत्यंत रमणीय रचना है। कथात्मक निबंध तो पद्मसिंह शर्मा ने कुछ लिखे भी, जो रसिकता से ओत-प्रोत होकर बड़ी ही विदग्धता के व्यंजक बने, पर आत्मव्यंजक निबंध तो एक प्रकार से उठ ही गए।

इस युग में गद्यकाव्य अवश्य अधिक लिखे गए और उनमें विविधता के दर्शन भी हुए। गद्यकाव्य लिखनेवालों में राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके निबंधों में अखंड और खंड शैलियाँ भी दिखाई पड़ती हैं और प्रतीकों का विधान भी, जो अधिकतर अन्योक्ति-पद्धति पर हुआ है। प्रतीकात्मक पद्धति पर चलनेवाले राय कृष्णदास और वियोगी हरि हैं। वियोगी हरि के प्रतीक किसी विशेष भावना को ही चरितार्थ करने के लिए लाए जाते हैं। भक्तिभावना, लोकभावना आदि को पुष्ट करनेवाले छोटे छोटे खंडदृश्य जीवन में से चुनकर प्रस्तुत किए गए हैं। राय साहब के प्रतीकों में कोई एक ही निश्चित भावना नहीं है। कलाकार, भक्त, विचारक, प्रेमी, लोकपीड़ित आदि सभी के लिए छाँटे हुए प्रतीक लाए गए हैं। राय साहब रवींद्रनाथ ठाकुर की अनुकृति पर रहस्यदर्शी के रूप में भी दिखाई पड़े हैं। किंतु वियोगी हरि सगुण भक्तों के ढर्रे पर ही चले हैं। चतुरसेन शास्त्री ने विभिन्न भावों के अनुकूल अनेक उक्तियों की योजना द्वारा बहुत ही प्रभावोत्पादक व्यंजनाएँ की हैं। बँगला की नाटकीय शैली पर प्रलाप-पद्धति का मार्मिकतापूर्ण अनुधावन किया गया है। उक्त लेखकों में भाषा के स्वरूप की भिन्नता भी पाई जाती है। राय साहब की भाषा कुछ ठेठ पर अर्थगर्भ शब्दों को लिए हुए है, वियोगी हरि की भाषा भावात्मकता लाने के लिए कविता के शब्दों का अभिनंदन बराबर करती चलती और शास्त्रीजी की भाषा खड़ी बोली की बोलचाल के शब्दों को स्वाभाविकता लाने के लिए समेटती रहती है।

इस युग में सबसे बड़ा कार्य व्याख्यात्मक आलोचना की प्रतिष्ठा

का हुआ। अनेक प्रयत्नों और उद्योगों से हिंदी का प्रसार तो दूर दूर तक हो गया था और उसकी शिक्षा की व्यवस्था भी ऊँची कक्षाओं में हो गई थी, किंतु उच्चकोटि की आलोचना का वाङ्मय एक प्रकार से था ही नहीं। जो आलोचनाएँ अब तक हुई थीं वे अधिकतर परिचयात्मक थीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपनी व्याख्यात्मक आलोचनाओं के साथ इस क्षेत्र में उतरे। तुलसी, जायसी और सूर पर उनकी मार्मिक एवं विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएँ भूमिका के रूप में निकलीं। लाला भगवानदीन और उनके शिष्यों ने प्राचीन ग्रंथों के सुसंपादित संस्करणों के साथ लंबी लंबी भूमिकाएँ प्रकाशित कीं। कबीर पर अयोध्यासिंह उपाध्याय और पीतांबरदत्त बड़थ्वाल की आलोचनाएँ सामने आईं। इसके अनंतर शुक्लजी की शैली पर स्वतंत्र रूप में अथवा ग्रंथों की भूमिका के रूप में केशव, बिहारी, पद्माकर, मीरा, भूषण आदि कवियों तथा प्रेमचंद, प्रसाद आदि लेखकों पर कई समीक्षाएँ लिखी गईं। हिंदी-साहित्य के कई ऐसे इतिहास भी मुद्रित हुए जो अधिकतर समीक्षात्मक थे। साहित्य की अन्य शाखाओं के आलोचनात्मक इतिहास भी प्रकाशित हुए; जैसे कहानी, नाटक, उपन्यास आदि के। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आलोचना के क्षेत्र में शुक्लजी का व्यापक प्रभाव पड़ा। कुछ प्रभाववादी आलोचकों और अँगरेजी के निरे अनुकरणकर्ताओं को छोड़कर आलोचना का ऐसा वाङ्मय हिंदी में प्रस्तुत हो चुका है जो इसे पूर्णतया समृद्ध और शास्त्रविचार-संपन्न भाषा प्रमाणित कर देता है।

हिंदी में नवीनता की ओर रुचि भारतेंदु के समय से ही दिखाई देती है। द्विवेदी-युग में भी यह रुचि बढ़ती रही। किंतु इस युग में आकर उसका बहुत अधिक प्रसार हुआ। बहुत सी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित होने और गद्य-लेखों के साथ साथ पद्यबद्ध छोटे छोटे निबंधों के प्रकाशित करने का जो ढर्रा द्विवेदीजी के समय निकला उसने कविता की ओर बहुतों को खींचा। किंतु द्विवेदीजी के समय की कविताएँ पद्य में काव्यतत्त्व और मार्मिकता का विधान करने में उतनी समर्थ

नहीं हुईं। इसका कारण यह था कि उस समय खड़ी बोली को अनेक साँचों में ढालने का प्रयत्न हो रहा था। पदावली के माधुर्य, वाग्वैचित्र्य और भाव की गहराई की ओर बहुत थोड़े लोगों का ध्यान गया। सीधे अँगरेजी के संपर्क में आ जाने से वहाँ की लाक्षणिकता की ओर, बँगला के साहचर्य से मधुर पदावली के विधान की ओर तथा उर्दू के लगाव से उसकी शायरी की बंदिश एवं वेदना की विवृत्ति की ओर कवि लोग स्वभावतः आकृष्ट हुए। फलस्वरूप वाग्वैचित्र्य-प्रधान कविताएँ अधिक संख्या में प्रकाशित होने लगीं। किंतु लाक्षणिकता का कहीं विदेशी और कहीं दूरारूढ़ विधान होने के कारण लोगों को ये कविताएँ सुबोध नहीं दिखाई पड़ीं। विलक्षणता के साथ साथ रवींद्रनाथ ठाकुर की रहस्यमयी कविताओं के अनुकरण पर हिंदी में भी रहस्यवाद की कविताएँ प्रकाशित होने लगीं। नवीनता की रुचि तो यहाँ तक बढ़ी कि लोगों ने छंद का बंधन तोड़कर केवल नाद के आधार पर छोटी-बड़ी पंक्तियों में अपना अलग राग अलापना आरंभ किया। इस प्रकार की कविताएँ बँगला की देखादेखी छायावाद की कविताएँ कही जाने लगीं। एक ओर 'छाया' शब्द का व्यवहार रहस्यवाद के अर्थ में हुआ और दूसरी ओर वाग्वैचित्र्य एवं वैलक्षण्य लिए हुए काव्यों के लिए।

इन कविताओं का विरोध भी इधर-उधर होने लगा। इसके पक्षपाती इस प्रकारकी कविताओं को ही वास्तविक कविता कहकर उद्घोषित करने लगे। ये पुरानी कविताओं को निस्तत्त्व बतलाते थे। इनमें रहस्यवाद काव्य की सच्ची शाखा माना जाने लगा। इसका घोर प्रतिवाद पं० रामचंद्र शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' लिखकर किया। पर रहस्यवादियों की ओर से अपने पक्ष या रहस्यवाद को ही काव्य का प्रकृत स्वरूप प्रतिपादित करनेवाला कोई ग्रंथ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ। प्रतिवाद के फलस्वरूप कुछ लोगों ने अपनी कविता का रंग ढंग भी बदला। रहस्यवाद के साथ ही साथ इस युग में अँगरेजी की नकल पर निराशावाद का भयंकर प्रसार काव्यक्षेत्र में दिखाई देने लगा। भारतवर्ष में काव्यक्षेत्र के भीतर निराशावाद या दुःखवाद कहीं

भी नहीं दिखाई पड़ता, किंतु विदेशी अनुकरण के कारण यह दुःखवाद प्रायः सभी कवियों में लक्षित हुआ। कोई सिर पर वेदना का भार लिए, कोई दुःख के संसार में बसा हुआ, कोई निराशा के भीतर साँस लेता और कोई आँसुओं में स्नान करता नजर आया।

जीवन में अनेक प्रकार के विप्लव उत्पन्न हो जाने से साहित्य भी उससे प्रभावित होने लगा। जीवन में परिवर्तन उपस्थित होने पर साहित्य का उसके साथ लग जाना उसके जीवित रहने का प्रमाण है। भारत में जीवन का वैसा परिवर्तन वस्तुतः नहीं हुआ जैसा पश्चिमी देशों में। थोड़े से राजनीतिक विचार परिष्कृत रूप में जनता में फैले हैं। समाज में भी कुछ थोड़ा सा समयानुकूल परिवर्तन हुआ। लेकिन जीवन के मूल में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं दिखाई देता जिसके कारण यह मान लिया जाय कि सचमुच अभूतपूर्व नया युग आ ही गया। जो विषमता दिखाई देती है वह वस्तुतः आर्थिक ही है। घोर शारीरिक परिश्रम करनेवाला उतना द्रव्य नहीं पाता जिससे वह सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके। दूसरी बात यह कि मनुष्य की हृद्गत भावनाएँ सार्व-देशिक और सार्वकालिक हैं। केवल देश-काल के भेद से उन्हें व्यक्त करने के विभिन्न साधन या आधार मिल जाते हैं। इसलिए यदि इन आधारों को लेकर ऐसे भाव व्यक्त किए जायँ जो सर्वसामान्य नहीं, तो कहा जायगा कि साहित्य अपना वास्तविक मार्ग त्याग रहा है देश, समाज या अपनी स्थिति पर विचार करते हुए सारे संसार को भस्म कर देने की प्रार्थना या अभिलाषा करना, मृत्यु को आलिंगन करने की घोषणा करना, प्रलय का आह्वान करना आदि ऐसी बातें हैं जो सर्व-सामान्य तो हैं ही नहीं और यदि हों भी तो परिष्कृत रुचि का परिचय देनेवाली नहीं।

रसों की दृष्टि से विचार करते हैं तो यह अवश्य दिखाई देता है कि कुछ स्थायी भावों के आलंबन पहले की अपेक्षा यदि बढ़ गए हैं तो साथ ही कुछ आलंबनों में गांभीर्य एवं शिष्ट रुचि का ध्यान ही नहीं रखा जाता। रतिभाव केवल प्रिय या प्रेमिका तक ही न रहकर देश,

विश्व, मनुष्य, प्रकृति आदि कई के प्रति स्वच्छंद रूप में दिखाई पड़ने लगा है। देश पर लिखी गई सब कविताओं को वीररस के अंतर्गत नहीं समझना चाहिए। जिनमें उत्साह की व्यंजना होगी वे ही रचनाएँ वीररस की मानी जायँगी। किसी भाव के वेग को उत्साह मान लेना ठीक नहीं। दूसरे भावों के साथ संचारी रूप में उत्साह बराबर दिखाई पड़ता है; पर वह वीररस उत्पन्न नहीं करता।

सबसे अधिक छीछालेदर हास्यरस की हुई है। विदेशी ढंग पर हास के आलंबन के प्रति हास के अतिरिक्त दया या घृणा का भाव भी जगा हुआ माना जाने लगा है और उसके अनुकूल रचनाएँ भी प्रस्तुत की जाने लगी हैं। किंतु यह शास्त्र के विरुद्ध है। क्योंकि एक ही आलंबन के प्रति एक ही समय में दो प्रकार के विरोधी भाव नहीं रह सकते। हास और घृणा का विरोध है। दो प्रकार के भाव यदि रहें भी तो एक ही कोटि के होने चाहिए अर्थात् या तो सुखात्मक या दुःखात्मक। इधर कवि-संमेलनों में हास्यरस की जो कविताएँ घोर हाहाकार के बीच सुनी-सुनाई जाती हैं उनमें आलंबन का चुनाव तो ठीक दिखाई देता है किंतु उनकी अभिव्यंजन-शैली घोर असाहित्यिक एवं कुरुचि-संपन्न दिखाई देती है। साहित्य के अंतर्गत भँड़ैती का ग्रहण नहीं हो सकता।

वीररस के आलंबन भी कुछ बढ़े हैं, जैसे देश पर होनेवाली कुछ रचनाओं में। इन रचनाओं में दृष्टि का कुछ अधिक विस्तार भी दिखाई देता है। रौद्ररस के आलंबन भी कुछ बढ़े, किंतु उनके साथ साथ रोष की सीमा असीम कर दी गई। फलस्वरूप इन रचनाओं में रससंचार की शक्ति नहीं रह गई। अपना नाश तो मनाया ही जाने लगा, सारी सृष्टि के नाश की आकांक्षा भी की जाने लगी। इस प्रकार का क्रोध अपरिष्कृत है। समाज की विषम स्थिति के कारण ही इस प्रकार का रोष दिखाया जाता है पर लक्ष्य ठीक न होने के कारण शास्त्रीय दृष्टि से वह भद्दा माना जायगा।

करुणरस की कविताएँ कहने को तो अधिक होती हैं पर उनमें से शोक का संचार करने की शक्ति बहुत कम में पाई जाती है। वेदना के

संसार में घूमनेवालों द्वारा लोकभावापन्न करुणा का संचार कठिन दिखाई देता है। अधिकतर कविताएँ वियोग शृंगार की होती हैं जिनको लोग करुणरस की समझते हैं। इन कविताओं द्वारा अधिकतर कवियों की स्वानुभूति की व्यंजना होती है; अथवा यों कहिए कि देखादेखी वियोगी बनने का शौक बहुतों को हो रहा है।

अद्भुतरस के लिए आलंबनों की कोई कमी नहीं, पर इस रस की कविताएँ बहुत कम दिखाई देती हैं। यही दशा भय और वीभत्स की भी समझनी चाहिए। शांतरस का वैसा उद्रेक नहीं दिखाई देता। इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकतर शृंगार और हास्य की तथा थोड़ी सी वीररस की ही कविताएँ होती हैं। कवि लोग 'दो घड़ियों का जीवन कोमल वृंतों में बिताने' के अभिलाषी अधिक दिखाई देते हैं। उग्र भावों की समर्थ व्यंजना करनेवाले कवि कम हैं।

विभाव और भावपक्ष को छोड़कर जब काव्य के कलापक्ष पर आते हैं तो दिखाई देता है कि उपमा और उत्प्रेक्षाओं का लदाव, और कहीं कहीं अनावश्यक लदाव, बहुत अधिक हो गया है। गोचर पदार्थों के लिए अगोचर उपमान लाना फैशन हो गया है। विलक्षणता पर दृष्टि इतनी अधिक रहती है कि अर्थपरंपरा का ठीक ठीक और सीधा पता लगाना बहुतों के लिए कठिन हो गया है। यह वैचित्र्य केवल पद्य ही तक परिमित नहीं है, गद्य में भी दिखाई देता है। जहाँ शब्दावली का सरल होना आवश्यक है वहाँ भी यह छाया हुआ है और कभी कभी निमंत्रणपत्रों तक में दिखाई देता है।

भाषा पर विचार करने से यह तो अवश्य दिखाई देता है कि हिंदी में लाक्षणिक प्रयोग बहुत अधिक बढ़े। किंतु कहीं कहीं विदेशी नकल होने के कारण और कहीं कहीं लक्षणामूला ध्वनि के दूरारूढ़ होने के कारण भाषा में अनावश्यक दुरूहता भी बढ़ी। अँगरेजी में लाक्षणिक प्रयोग अधिक होते हैं, यह मानी हुई बात है। किंतु वहाँ के कवियों में यह विशेषता होती है कि वे सारे प्रसंग को खोलनेवाली कुंजी किसी न किसी शब्द (कीनोट वर्ड) में अवश्य लगा देते हैं। हिंदी के कवियों

में साधारणों की बात जाने दीजिए, समर्थ कवियों में भी इस प्रकार की कुंजियाँ प्रायः नहीं दिखाई देती। फल यह होता है कि उनकी कविताएँ सामान्य पाठक के लिए व्यूहवत् दुर्गम हो जाती हैं। सबसे खटकनेवाली बात है कुछ बँधे हुए शब्दों (कैच वर्ड्स) का प्रयोग। यही कारण है कि अधिक लोग ऐसी कविताओं को, कुछ विशिष्ट कवियों की रचनाओं को छोड़कर, पूर्ण चाव से नहीं पढ़ते। हर्ष की बात है कि अब मुक्तक-रचना और प्रगीत-प्रणयन को छोड़कर कुछ कवि प्रबंध-रचनाएँ भी करने लगे हैं। किंतु आधुनिक प्रवृत्तियों से उनके प्रबंध भी मुक्त नहीं हैं, यही दुःख की बात है। बहुत थोड़े ऐसे प्रबंधकाव्य दिखाई पड़े जिनमें वस्तु, पात्र, परिस्थिति, व्यंजना आदि का अच्छा समन्वय दिखाई देता है। धीरे धीरे नई रचनाएँ स्थिरता प्राप्त कर रही हैं और जोश कुछ ठंढा हो रहा है—नए ढंग की कविता करनेवालों का भी और नई कविता के बेढंगे स्वरूप का विरोध करनेवालों का भी। अतः आशा होती है कि हिंदी-कविता निश्चित और सुव्यवस्थित मार्ग ग्रहण करेगी।

विदेशी साहित्य के संपर्क में आने से हिंदी में नई नई प्रवृत्तियों के समावेश का द्वार तो उन्मुक्त हो गया, किंतु नवीन कविता तक आते आते अपनी काव्यरूढ़ि से विच्छिन्न हो जाने से उनका विकास अपनेपन को दबाकर हुआ। केवल काव्य-रचना में ही नहीं आलोचना में भी विदेशी रंगत अति मात्रा में चढ़ने लगी। भामह, दंडी, वामन, कुंतक, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि संस्कृत के और कुलपति, सुखदेव, भिखारीदास, प्रतापसाह आदि हिंदी के आचार्यों का नाम न लेकर विदेश के अरस्तू, प्लेटो, ड्राइडन एडिसन, जानसन, शेली, मैथ्यू आर्नल्ड, अबरक्रौंबी, रिचर्ड्स क्रोचे, वर्सफोल्ड, ब्रैडले, जेम्स स्काट आदि साहित्य-मीमांसकों के साथ साथ दर्शनिकों और मनोविज्ञानियों के नाम भी लिए जाने लगे हैं। टालस्टाय और फ्रायड के नाम की उद्धरणी बहुत होने लगी है। बात यह है कि पश्चिमी समीक्षा-क्षेत्र में नए ढंग के विश्लेषण का हौसला दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। इसलिए

साहित्य के अतिरिक्त दूसरे शास्त्रों के, विशेषकर सौंदर्य-विज्ञान दर्शन, मनस्तत्त्व आदि के, आचार्यों द्वारा की गई नवीन उपपत्ति एवं प्रतिपत्ति की आड़ लेकर साहित्य में भी नई नई बातें रखी या लाई जा रही हैं। क्रोचे की 'सौंदर्य-मीमांसा' पर पहले विचार किया जा चुका है। इधर फ्रायड के स्वप्न-सिद्धांत (ड्रीम थियरी) की भी चर्चा आए दिन होती है। अतः उस पर भी विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

फ्रायड साहब यहूदी हैं और वियना में चिकित्सक का कार्य करते थे। अनेक रोगियों के बाह्याभ्यंतर का निरीक्षण करते करते उन्होंने स्थिर किया कि विशेष प्रकार की परिस्थिति में उत्पन्न होने से मनुष्य को अपनी उठती या जगती हुई मनोवृत्तियों को दबाने या मारने का जो उपक्रम करना पड़ता है उसके उपसंहार में अनेक प्रकार के रोग खड़े हो जाते हैं। यदि किसी के जीवन का कच्चा चिट्ठा जानकर उसकी दबी हुई वृत्तियों के परिष्कार का प्रयास किया जाय तो अनेक रोगों का उपचार किया जा सकता है। अनेक प्रयोगों द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि असंज्ञान (अनकांशस) ही अनेक विलक्षणताओं का निदान है। इसे लेकर उन्होंने यह प्रतिपादित किया की व्यक्ति की दबी हुइ वृत्तियाँ या कामनाएँ अवसर पाकर सिर भी उठाती हैं। अनेक रोगियों के स्वप्नों का मनन करके उन्होंने यह सिद्धांत निकाला कि दबी हुई मनोवृत्तियाँ स्वप्नावस्था में बृहद् रूप धरकर दर्शन देती हैं। दरिद्रता की चक्की में पिसता हुआ प्राणी सोते समय राजा होने का स्वप्न देखता है। पेटभर भोजन के लिए भी लालायित रहनेवाला स्वप्न में छप्पन प्रकार के व्यंजनों का आस्वाद लेता है—

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ॥ —तुलसी

हानि-लाभ भले ही न हो, पर भिखारी का स्वप्न में राजगद्दी पाना और रंक का इंद्र बन जाना उसकी कुचली हुई कामनाओं का ही परिणाम है। इस प्रकार इच्छित प्रेमिकाओं को न पा सकनेवाले अप्सराओं का स्वप्न देखते हैं। समाज की नीची श्रेणी का व्यक्ति स्वप्न में ऊँची श्रेणी

का बनता है; शूद्र या चांडाल ब्राह्मण या क्षत्रिय बन बैठता है, मजदूर मालिक हो जाता है, किसान जमींदारी करने लगता है आदि आदि। इससे जीवन में असंज्ञान की मुख्यता सिद्ध होती है। इस पर फ्रायड साहब ने अनेक निबंध और पोथियाँ लिखीं, जिनमें विविध प्रकार के स्वप्नों के उदाहरणों की भरमार है।

रोग ही में नहीं चरित्रगठन में भी इसी का योग प्रमाणित किया गया है। बस, पश्चिमी समालोचक इसे ले उड़े। कवियों और लेखकों के कथाकाव्यों में अनेक पात्रों का चरित्र विलक्षण या उलझा हुआ दिखाई देता था। उसकी व्याख्या का तो द्वार ही इस स्वप्न-सिद्धांत या असंज्ञान से खुल गया। किसी पात्र के चरित्र में गूढ़ता, उलझन, रहस्य आदि क्यों आए इसके लिए उसकी परिस्थिति की जाँच करके बतला दिया गया कि वह अपनी अमुकामुक वासनाओं को दबाता आया है। शेक्स-पियर के नाटकों के कई पात्रों की चरित्रगत उलझन इसी के सहारे सुलझाई गई। उन्हें इतने से ही संतोष नहीं हुआ वे कृति से और आगे बढ़े और कर्ता तक पहुँचे। दिखाया यह जाने लगा कि रचयिताओं के जीवनगत असंज्ञान के ही कारण उनकी रचनाओं में विशेष प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई देती है। कर्ता के प्रकृत जीवन में किसी हेतुवश जो वृत्तियाँ दबी रह गईं या दबाई गईं उन्हें काव्य-रचना करते समय खुल खेलने का अवसर मिला। इधर कवियों और लेखकों के व्यक्तिगत जीवन की जो अधिक छानबीन होती है वह इतिहास के नाते उतनी नहीं जितनी इस नाते।

कथाकाव्य और मुक्तक या प्रगीत-शैली की जो कृतियाँ बन-ठन-कर निकल रही हैं उनमें स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि कर्ता जीवन से दूर दूर रहकर नए या काल्पनिक लोक में विहार करनेवाले पंछियों का बाना धारण करके उड़ रहे हैं। इसे अधिकतर शृंगारी रूप का लखकर इसी धारणा की आड़ में कुछ समालोचकों ने तो अनिवार्य मिथुनवृत्ति (सेक्स साइकोलाजी) कहकर समर्थित किया और कुछ इसे जीवन की संकुलता से प्रेरित कछुआवृत्ति या पलायनवृत्ति (इस्केपिज्म) कहकर

आगे बढ़े। हिंदी मैं भी इधर ऐसी रचनाएँ प्रभूत परिमाण में हो रही हैं। उनके घोर शृंगारी ढाँचे का कारण केवल असंज्ञानमूलक कामवृत्ति या कलुआवृत्ति नहीं है। वस्तुतः इसका मुख्य कारण तो है गड्डलिका-प्रवाह (फैशन) और गौण है व्यक्तिवैचित्र्यवाद (इनडिविडुअलिज्म)। व्यक्तिवैचित्र्य के ही कारण कामवृत्ति या मिथुनवृत्ति का रंग विशेष चढ़ रहा है। विदेशी सभ्यता के विशेष प्रसार से और शिक्षा का उद्देश्य भृत्यवृत्ति हो जाने से भारत मैं पलायनवृत्ति के अवसर अधिक अवश्य आते हैं किंतु विदेशों में सामाजिक स्थिति जितनी डाँवाँडोल है उतनी पराधीनता मैं पकते रहने पर भी भारत में नहीं। अतः हिंदी की नवीन कविता में प्रगीतवाद (लिरिसिज्म, शृंगारी प्रवृत्ति, जीवन के प्रति घृणा या विरक्ति, रोषावेश, निराशावाद (पेस्सिमिज्म) आदि की बाढ़ अधिकतर अनुकरणमूलक है। देश की पराधीनता, अकिंचनता आदि के कारण कविता में जो रोषाविष्ट रचनाएँ हो रही हैं उनमें अपने या संसार के नाश की कामना या प्रार्थना करना रोष का असंस्कृत रूप मात्र है। राजनीतिक महापुरुषों द्वारा जैसे विदेश के सामाजिक या राजनीतिक नूतन सिद्धांतों का प्रयोग या आरोप इस देश पर किया जा रहा है वैसे ही यहाँ के काव्य पर भी विदेशी मतों का बिना छानबीन किए आक्षेप कर लेना ठीक नहीं। विदेशी प्रभाव से कामवृत्ति और पलायनवृत्ति प्रणेताओं में भले ही कुछ जुगजुगाई हो, किंतु फ्रायड के असंज्ञान या स्वप्न-सिद्धांत को यहाँ के काव्य पर आक्षिप्त मान लेना कोई बहुत ठीक-ठिकाने की बात नहीं है। विदेशों में भी बाह्यार्थनिरूपक (आबजेक्टिव) कही जानेवाली रचना में यह स्वप्न-सिद्धांत ठीक ठीक नहीं उतर सकता। फिर भारतीय रचना में, जहाँ लोकानुभूति और स्वानुभूति में अधिक अंतर नहीं रहा है, ये स्वप्नलोक की बातें कैसे घटित होंगी। कुछ आत्मव्यंजक रचनाओं में भले ही यह सिद्धांत मान लिया जाय, किंतु कविकर्म का प्रेरक वस्तुतः यह सर्वत्र है नहीं।

काव्यकर्ता कृति में संलग्न होता है भावोद्रेक से। भावोद्रेक के

लिए आलंबन होते हैं जीवन और जगत् के अनेकानेक विषय या पदार्थ। रूपक, प्रबंधकाव्य, कथाकाव्य आदि में जिनके चरित्र का निरूपण किया जाता है वे कर्ता से पृथक् होते हैं। उनके चरित्रों और उनकी वृत्तियों का अभिव्यंजन कर्ता अपने को उनकी स्थिति में डालकर करता है। जिसका हृदय ढलनशील नहीं होता वह उनका निरूपण ठीक ठीक नहीं कर सकता। इन रचनाओं में वह किसी पात्र को अपना प्रतिनिधि बनाकर खड़ा कर सकता है और अपनी अनुभूतियों का आरोप भी उस पर कर ले सकता है, किंतु सभी पात्र उसकी अनुभूति का अनुधावन करनेवाले नहीं हो सकते। इसलिए फ्रायड साहब का सिद्धांत तो इन रचनाओं में किसी प्रकार घट नहीं सकता। रहीं वे रचनाएँ जो स्वानुभूतिमूलक होती हैं। इनमें अवश्य कर्ता की अनुभूतियाँ आया करती हैं। पर कर्ता का असंज्ञान तो अनुभूति हो नहीं सकता, क्योंकि जिस भावना का हृदय में बारंबार उद्रेक होता है वही अनुभूति का रूप धारण करती है। असंज्ञान में तो वस्तुतः कामनाएँ दबकर अनुभूतिशून्य हो जाती हैं। अतः इस देश में जैसे बहुत से विदेशी रोग फैले वैसे ही यह भी। इसे तात्त्विक समझकर काव्य-समीक्षा में इसकी दुहाई देना अपने को भूल जाना तो है ही, दूसरों का रोग बटोरना भी है।

इसी प्रकार के टेढ़े-सीधे मतों का सहारा लेकर 'प्रगति प्रगति' की भीषण पुकार भी मचाई जा रही है। साहित्य में निर्मित पुराने वाङ्मय को प्रगतिहीन माने बिना यह गति हो नहीं सकती और पुराने वाङ्मय को गतिहीन मानना हृदयहीनता का परिचय देना ही नहीं, पागलपन का डंका पीटना भी है। जो 'प्रगति' का अर्थ 'पुरोगति' समझते हैं वे साहित्य-भूमि को सांप्रदायिक भूमि बनाना चाहते हैं। साहित्य में साम्यवाद, समाजवाद आदि नवीन मतों को आधार मानकर चलना देश का जीवन चौपट करना तो है ही साहित्य को भी अपभ्रष्ट कर देना है। अनेक सामयिक आघातों से जीवन की धारा में जो परिवर्तन होता चलता है वह काल की आवश्यकता के कारण आप से आप होता है।

बरबस उसे मोड़ने का प्रयत्न करने से जीवनधारा भी बिगड़ती है और साहित्य की रसधारा भी। साहित्य में जिन काव्यार्थों का विधान होता है वे सनातन और चिरंतन भी होते हैं, केवल अद्यतन नहीं। सनातन काव्यार्थ तो विश्व के सभी साहित्यों में एक से ही दिखाई देते हैं; जैसे पुत्र के प्रति माता का स्वाभाविक वात्सल्य, माता के प्रति पुत्र का स्वाभाविक स्नेह, रक्षक के प्रति आदर, भक्षक के प्रति घृणा, अपमान करनेवाले पर रोष, विलक्षण कर्म पर आश्चर्य आदि। भला इनका त्याग करके कोई साहित्य खड़ा ही कैसे हो सकता है? चिरंतन काव्यार्थ भी प्रत्येक देश के साहित्य में बराबर आते हैं और आते रहेंगे। भारत का कवि उस गोचारण को कैसे भुला सकता है जिसे दिलीप ऐसे नरेश और श्रीकृष्ण ऐसे पुरुषोत्तम कर्तव्य के रूप में कर चुके हैं। गाँवों की झोपड़ियाँ, खपरैल, हल-बैल, ढुर्री-गैल आदि जो अब तक दिखाई दे रहे हैं उन चिरंतन विभूतियों का त्याग कोई स्वदेशाभिमानी कैसे करेगा। अपने देश के पशु-पक्षी, पेड़-पल्लव, नदी-निर्झर, वन-पर्वत, खोह-गुफा आदि को भुलाकर कौन देशद्रोही बनना चाहेगा। साहित्य में सबसे अधिक महत्त्व सनातन और चिरंतन का ही है। अद्यतन को चिरंतन बनने के लिए समय चाहिए और जब तक वह चिरंतन हो नहीं जाता साहित्य उसका स्वीकार अल्पमात्रा में ही कर सकता है, उतनी ही मात्रा में जितनी से उसके चिरंतन हो सकने की योग्यता का आभास मिले। अतः जो अद्यतन को ही साहित्य का चरम लक्ष्य समझकर सनातन और चिरंतन को त्यागना चाहते हैं या जो अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारकर प्रगतिशील या प्रगतिवादी बनना चाहते हैं वे वाणी के मंदिर को केवल दूषित ही नहीं कर रहे हैं उसे ढहा देने का उपक्रम भी कर रहे हैं।

नएपन के नाम पर स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) भी हिंदी में उठ खड़ा हुआ है। किसी साहित्य में, यदि उसकी परंपरा दीर्घ-कालीन हो तो, बहुत सी ऐसी रूढ़ियाँ भी बँध जाया करती हैं जिनसे कहीं कहीं नवीनता के लिए मार्ग कुछ अवरुद्ध दिखाई देने लगता है।

पुरानापन हटाकर नयापन यदि इस रूप में लाया जाय कि अपनापन एकदम न ढँक जाय तो स्वच्छंदता का विरोध न उतना अधिक होना चाहिए और न होता ही है। किंतु यदि अपनेपन को भुलाकर पराया-पन इतना अधिक लदने लगे कि अपने को पहचानना भी कठिन हो जाय सो इसे किसी साहित्य की अभिवांछित पद्धति नहीं माना जा सकता। हिंदी की पुरानी कविता या साहित्य यदि अधिकतर ऊँची श्रेणी के अर्थात् देवी-देवता, राजा-महाराजा, साधु-संत आदि के ही चरित्रों के निरूपण तक परिमित रहा तो उसमें सामान्य जनता का चरित्र लाना, और सचाई के साथ लाना, साहित्य के लिए मंगलप्रद ही होगा। यदि साहित्य प्रेम के बँधे हुए साँचों में ही ढलता रहा है तो नए साँचों में उन्मुक्त या स्वच्छंद प्रेम को ढालना हितकर ही सिद्ध होगा। यदि प्रकृति की वास्तविक विभूति को त्याग कर काव्य कवि-समय-सिद्ध कुछ विशिष्ट रूपों को ही लेकर चलता रहा तो प्रकृति के खुले दर्शन कराने का अभिलाष उसे रसमय ही बनाएगा। इस पर विचार करने से दिखाई देता है कि हिंदी में दो प्रकार की स्वच्छंदताएँ दिखाई देती हैं—पहली वास्तविक (ट्रू रोमांटिसिज्म) और दूसरी अवास्तविक या कृत्रिम (स्वीडो रोमांटिसिज्म)। पहले प्रकार की स्वच्छं-दता का आरंभ श्रीधर पाठक से ही हो चला था जो आगे चलकर रामनरेश त्रिपाठी और सुमित्रानंदन पंत में दिखाई पड़ा। दूसरे प्रकार की स्वच्छंदता परी उड़ाने या परियों का नाच करानेवालों, हाला ढालने-वालों और प्याले पर प्याला खाली करनेवालों में दिखाई पड़ता है।

यहीं पर इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि क्या काव्य में वर्ण्य वस्तु कोई भी हो सकती है ? प्रबंधकाव्यों, नाटकों, उपन्यासों, कहानियों आदि में वर्ण्य वस्तु चुनी हुई होती है। नाटकों और कथा-काव्यों में वर्ण्य वस्तु की अधिकता न हुई है और न हो ही सकती है। हाँ, समाज की समस्याओं के रूप में सामान्य या उपेक्षित वर्ग के पात्र या उनके विवरण लाए जा सकते हैं। प्रबंधकाव्यों में वर्ण्य वस्तुओं का विस्तार हो सकता है और होता भी आया है। किंतु उनमें भी छाँटा

हुआ व्यापार ही काम में लाया जाता है। इसलिए सब प्रकार के विषयों, व्यक्तियों या वस्तुओं का समावेश उनमें असंभव नहीं, तो अप्रचलित और अग्राह्य तो अवश्य ही है। अतः मुक्तक या गीतों में ही सामान्य विषयों का समावेश किया जाता रहा है। किंतु मुक्तकों में उनका ग्रहण अत्यधिक परिमाण में तब तक उचित नहीं प्रतीत होता जब तक उन वर्ण्यों की विशेषताओं के उद्घाटन की कोई प्रवृत्ति न दिखाई जाय। होता यह है कि स्वच्छंदता के नाम पर तो साधारण से साधारण व्यक्ति या वस्तु को वर्ण्य विषय बना लिया जाता है, पर उनके द्वारा कोई ऊँचा लक्ष्य न सिद्ध करके अधिकतर अपनी ही भावुकता और विलक्षण अनुभूति का आरोप किया-कराया जाता है। वर्ण्य वस्तु केवल व्याज के लिए होती है, काव्यकर्ता उनका सच्चा वर्णन न करके अपनी अनुभूतियों का ही अत्यधिक परिमाण में उन पर आरोप मात्र करते फिरते हैं। फल यह होता है कि उन रचनाओं में वे अपना थोथा चमत्कार मात्र दिखलाते चलते हैं। तात्पर्य यह कि व्यक्तित्व का आरोप ही प्रधान रहता है, प्रस्तुत विषय कुछ होता ही नहीं। इस प्रकार की रचनाओं में एक सी उक्तियों का होना ही यह बतलाता है कि कवि वर्ण्य के निरूपण में तो लगा नहीं, उसने अपनी गाथा अवश्य गा डाली। सच यह है कि यद्यपि आलंबन के रूप में संसार की कोई भी वस्तु अवश्य आ सकती है तथापि अभी तक किसी भी साहित्य में जिस किसी वस्तु का ग्रहण देखा नहीं जाता। क्योंकि काव्य में सभी वर्ण्य बनाकर सफलतापूर्वक लाए भी नहीं जा सकते। इसी लिए व्यक्तित्व का आरोप करके वर्ण्य का निरूपण किया जा रहा है। इसी से रचनाएँ बेढंगी भी हो रही हैं और बेतुकी भी। कुछ चुने हुए वर्ण्यों द्वारा व्यक्तित्व का प्रदर्शन अधिक रुचिकर न समझकर ही ऐसे सामान्य वर्ण्यों की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है। सौ बात की एक बात यह कि सारे झगड़े की जड़ व्यक्तिवैचित्र्यवाद है। यह विदेशी अनुकृति के कारण अति मात्रा में आ गया है और इसका उपचार तब तक नहीं हो सकता जब तक भारतीय परंपरा से दूर दूर रहकर साहित्यकार चलना चाहेंगे।

आधुनिक काल के कुछ प्रमुख कवि

आधुनिक काल के गद्य-प्रणेताओं की विशेषताओं का बहुत कुछ उल्लेख पहले यथास्थान हो चुका है केवल पद्य-प्रणेताओं की ही व्यक्तिगत विशेषताओं का उल्लेख नहीं हो सका है। इनमें से ब्रज और खड़ी दोनों के कुछ प्रमुख कवियों का बहुत संक्षिप्त परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत होती है। ब्रजकाव्यधारा में से हरिश्चंद्र की कुछ विशेषताएँ बताई जा चुकी हैं। अतः शेष कवियों में से केवल पाँच की कुछ विशेषताएँ दिखाई जाती हैं—जगन्नाथदास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', रामचंद्र शुक्ल, सत्यनारायण कविरत्न और वियोगी हरि।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

इस काल में रत्नाकरजी ब्रजभाषा के बहुत ही समर्थ कवि हुए। इन्होंने मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार की रचनाएँ की हैं। मुक्तकों के लिए इन्होंने घनाक्षरी छंद चुना है और प्रबंध के लिए रोला छंद। 'घनाक्षरीनियम-रत्नाकर' नामक पुस्तक लिखकर इन्होंने इस छंद के विधान का बहुत अच्छा विचार भी किया है। अपने एक लेख में इन्होंने 'काव्य' (रोला) छंद का विचार करते हुए यह मत प्रकट किया है कि ब्रजभाषा में कथा कहने के लिए प्रबंध के अनुकूल यही छंद पड़ता है। यही कारण है कि इन्होंने कुछ कथा का सहारा लेकर भी घनाक्षरी या कवित्त में जो रचनाएँ निर्मित कीं वे मुक्तक ही हैं, जैसे—'उद्धव-शतक'। उसे प्रबंधात्मक मुक्तक या खंडकाव्य समझना धोखे में पड़ना है। मुक्तक-रचना में प्रत्येक छंद का पूर्वापर संबंध जुड़ता नहीं चलता। जैसे 'सूरसागर' में कृष्णलीला का वर्णन तो क्रम से मिल जायगा किंतु उसका प्रत्येक पद स्वच्छंद है वैसे ही 'उद्धव-शतक' का प्रत्येक छंद भी समझना चाहिए। रत्नाकरजी की मुक्तक-रचना ब्रजभाषा के बहुत से प्राचीन कवियों की अपेक्षा इस बात में उत्कृष्ट दिखाई देती है कि इसमें चारों चरणों का विधान एक सा हुआ है। घनानंद आदि कुछ इने-गिने पुराने कवियों को छोड़कर ब्रज के अन्य कवियों

की अधिकतर मुक्तक-रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें चौथा चरण तो ठीक-ठिकाने का दिखाई देता है किंतु शेष तीन चरण जोड़े हुए से जान पड़ते हैं। यह बात पद्माकर, मतिराम, देव ऐसे विशिष्ट कवियों तक की रचना में कहीं कहीं मिलती है। पर 'रत्नाकर' में केवल चौथे चरण को ही उत्कृष्टता रखनेवाले छंद ढूँढ़ने पर भी न मिलेंगे। मुक्तक को छोड़कर प्रबंध की ओर दृष्टि ले जाते हैं तो कथा के बंधान के अतिरिक्त वर्णनों और रूप खड़ा करने की कला में भी इन्हें बहुत ही समर्थ पाते हैं। मुद्राओं और उक्तियों का आत्मनिरीक्षण द्वारा इन्होंने जैसी योजना की वह इनकी काव्यगत क्षमता का बहुत ही उत्कृष्ट प्रमाण उपस्थित करती है। भाषा पर विचार करते हैं तो दिखाई देता है कि व्याकरण का ध्यान रखनेवाले ब्रज के जो दो-चार कवि हुए हैं उनमें रत्नाकरजी का नाम आदरपूवक लेने योग्य है। यद्यपि ब्रज और अवधी के शब्दार्थों की भिन्नता का पूरा विचार ये भी नहीं रख सके तथापि कारक चिह्नों और वाक्यगत शब्द के अनुशासित रूपों का इन्होंने अच्छा विचार रखा है। लाक्षणिक प्रयोग, प्रच्छन्न रूपक और नए नए दृष्टांतों का मार्मिकतापूर्ण ग्रहण इनमें बहुत ही रमणीय दिखाई देता है। ये केवल कवि ही नहीं काव्यमर्मज्ञ भी थे। 'बिहारी सतसई' की 'बिहारी-रत्नाकर' नामक टीका और 'सूरसागर' के 'सूर-रत्नाकर' नाम से संपादित रूप द्वारा इसका पूरा प्रमाण मिल जाता है।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित मार्ग के पक्के अनुयायी थे। इन्होंने अपनी ब्रजभाषा की रचनाओं में परंपरा-पालन के साथ साथ नवीन प्रवृत्तियों का भी उमंगपूर्वक अभिनंदन किया है। जैसे इन्होंने ऋतुओं आदि का परंपरायुक्त वर्णन किया वैसे ही देश-भक्ति आदि का परंपरामुक्त वर्णन भी। विशेष विशेष उत्सवों के लिए ये बराबर कविता बनाया करते थे। भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल पड़नेवाली प्रवृत्तियों का भरपूर प्रतिकार करना ये अपना कर्तव्य समझते थे।

छंद का बंधन तोड़कर छोटी-बड़ी पंक्तियों में नाद के अनुकूल रची जाने-वाली रचनाओं से ये बहुत चिढ़ते थे और ऐसे छंदों का 'केचुआ' या 'रबड़' छंद कहकर उपहास किया करते थे। इन्हों ने सब प्रकार के छंदों अर्थात् वर्णवृत्त, मात्रिक और कहीं कहीं उर्दू की बहरों का भी प्रयोग किया है। इनकी भाषा चलती हुई और साफ होती थी। व्रजभाषा के प्रसार और परिष्कार के विचार से इन्हों ने 'कादंबिनी' नाम की पत्रिका भी प्रकाशित की थी। भारतेंदु-युग में पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर को हिंदी का पीठ बना दिया था, उसको हिंदी के भक्तों का तीर्थ बना देनेवाले पूर्णजी हुए। समस्यापूर्तियों का दंगल कानपुर में जो अब तक चला चल रहा है उसके प्रवर्तक ये ही थे। इन्हों ने 'धाराधर-धावन' नाम से 'मेघदूत' का बहुत ही मधुर अनुवाद व्रजभाषा में किया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल

व्रजभाषा में समयानुकूल परिष्कार जैसा आधुनिक युग के आरंभ में राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा किया गया वैसा ही परिष्कार दूसरी बार स्वर्गीय शुक्लजी ने किया। रत्नाकरजी ने व्रज का आदर्श केवल प्राचीन कवियों को ही माना था और बहुत से पुराने प्रयोगों को ज्यों का त्यों रहने दिया था, किंतु शुक्लजी ने पुराने शब्दों को छाँटकर व्रज का ऐसा चलता रूप ग्रहण किया जो बहुत ही सुबोध और सामयिक था। जिस प्रकार खड़ी बोली में संस्कृत शब्द तत्सम रूपों में गृहीत होते हैं उसी प्रकार व्रज में भी तत्सम रूपों को ग्रहण करके इन्हों ने व्रज को हमारे निकट ला देने का प्रयास किया। परंतु व्रज के इधर के कवियों ने इस पर ध्यान ही नहीं दिया। बात यह है कि शुक्लजी की आलोचनाओं के प्रभाव में लोग ऐसे भूले कि उन्हें यह ध्यान ही न रहा कि इन्हों ने कवि का बाना भी धारण किया था और व्रज का परिष्कार करके उसे बहुत दिनों तक काव्य-परंपरा में जिलाए रखने का उपचार भी बता दिया था। 'बुद्धचरित' की भूमिका में व्रज के सारे वाङ्मय के प्राकृत-अपभ्रंश-काल से लेकर आज तक के प्रयोगों की भरपूर छान-

बीन करके व्रज, अवधी और खड़ी बोली के पृथक् पृथक् स्वरूपों का बोध इन्होंने बड़े ही पांडित्य के साथ कराया है। यद्यपि यह ग्रंथ सर एडविन आर्नल्ड के 'लाइट ऑव् एशिया' के आधार पर निर्मित हुआ है पर है वस्तुतः बहुत कुछ स्वच्छंद। प्रकृति का जैसा संश्लिष्ट चित्रण प्रकृति के इस पुजारी से बन पड़ा वैसा हिंदी के किसी भी दूसरे कवि से नहीं। इन्होंने खड़ी बोली में भी थोड़ी रचनाएँ की हैं, जिनमें हृदय की कोमल वृत्तियों की अत्यंत रमणीय व्यंजना की गई है।

सत्यनारायण कविरत्न

व्रज की माधुरी का काव्य में पूर्ण विधान करके सामने आनेवाले कविरत्नजी ही इस युग में दिखाई देते हैं। इनकी रचनाओं में हृदयपक्ष प्रधान और कलापक्ष गौण है। ये वस्तुतः भावुकता की मूर्ति थे भक्तों की सी पदशैली की मुक्तक-रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने 'भ्रमर-दूत' नाम का पद्य-निबंध भी लिखना आरंभ किया था जो अधूरा रह गया। इसमें इन्होंने नए ढंग की कल्पना की है। यशोदा भ्रमर को दूत बनाकर द्वारका भेजती हैं और ऐसी अर्थगर्भ वचनावली में सदेश देती हैं जिससे वह भारतमाता का अपने सपूत श्रीकृष्ण के प्रति भेजा गया संदेश प्रतीत होता है। यह नंददासजी के 'भवँरगीत, के डर्रे पर टेकमिश्रित शैली में लिखा गया है। बातें बहुत ही चुटीली और मर्मभेदी कही गई हैं। इससे स्पष्ट है कि व्रज में नवीनता का समावेश करने और उसे युगानुरूप वाङ्मय से संपन्न भाषा बनाने का चाव इनमें भी विद्यमान था। इस युग में रत्नाकरजी को छोड़कर अधिकतर व्रज के गायक नए नए अलाप ले रहे थे और उसे खड़ी बोली के साथ साथ आगे बढ़ाए हुए ले जाना चाहते थे। कविरत्नजी ने यों तो भाषा की पदावली बड़ी ही मधुर रखी है किंतु उसमें व्रज की बोलचाल के बहुत से शब्द भी चिपका दिए हैं। व्रज सामान्य काव्यभाषा के रूप में चलती रही है इसलिए व्रजप्रांत के अधिक ठेठ शब्दों का व्यवहार उसकी गति में बाधा डालनेवाला ही प्रतीत होता है।

कविरत्नजी केवल कोमल भावों के ही कवि थे। रत्नाकरजी की भाँति कोमल और उग्र दोनों प्रकार के भावों का तुल्यबल अभिव्यंजन इनके बाँटे नहीं पड़ा था। इन्होंने भवभूति के नाटकों के सुंदर अनुवाद भी किए हैं, जिनमें पद्यभाग का ब्रज में बहुत ही सटीक और मधुर उल्था बन पड़ा है।

वियोगी हरि

यों तो इन्होंने कुछ स्फुट रचनाएँ और भक्तमाल के ढंग की भी थोड़ी सी कविताएँ कवियों का कीर्ति-कलाप गाते हुए की हैं किंतु इनकी प्रसिद्धि का कारण 'वीर-सतसई' हुई। इसमें वीर रस के स्थायीभाव उत्साह की व्याप्ति बहुत दूर तक दिखाई गई है। देश के प्राचीन और नवीन वीरों का उल्लेख तो हुआ ही है, विरहिणी ब्रजांगनाओं की विरह-वीरता का भी दिग्दर्शन कराया गया है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से 'विरह की वीरता', उत्साह के अंतर्गत नहीं आती तथापि नाना प्रकार के वीरों का वीरत्व जैसा इस ग्रंथ में प्रदर्शित किया गया है उससे कवि की व्यापक और नूतनता-विधायिनी शक्ति का परिचय अवश्य प्राप्त हो जाता है। छोटे से दोहे में बड़ी ही सफाई के साथ वीरों की विशेषताओं का परिशोधित कार्यव्यापारों के सहारे उद्घाटन किया गया है। रचनाएँ केवल भावपक्ष-प्रधान नहीं हैं उनमें कलापक्ष की योजना भी बहुत कुछ दिखाई देती है। यमक, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, विरोधाभास आदि अलंकारों का अच्छा विधान किया गया है। भाषा में उतनी कसावट तो नहीं है जितनी रत्नाकरजी में दिखाई पड़ी, पर सफाई और अर्थगर्भत्व का अभाव कहीं भी नहीं दिखाई देता।

यह कहा जा चुका है कि द्विवेदीजी ने गद्य में व्याकरण की व्यवस्था भी की और खड़ी बोली को पद्य के क्षेत्र में उतारा भी। परिणाम यह हुआ कि जो ब्रजभाषा में पद्य रचना कर रहे थे वे भी खड़ी की ओर उन्मुख हुए। यही कारण है कि एक ही कवि की रचना में दोनों भाषाओं के पद्य मिलते हैं, विशेषत उनकी कविता में जो पहले से ही

पद्यरचना मेँ प्रवृत्त थे। स्वयं द्विवेदीजी की आरंभिक रचनाएँ ब्रज मेँ ही हैँ और उनमेँ कुछ ऐसी भी हैँ जिनमेँ दोनोँ का विचित्र मिश्रण है। 'पद्यरचना खड़ी मेँ हो' का आग्रह बढ़ने का यह भी दुष्परिणाम हुआ कि पद्य मेँ भी गद्यवत् रूप दिखाई पड़ा। पर यह बात इन्हीँ कवियोँ मेँ आई जो द्विवेदीजी के प्रभाव मेँ चल रहे थे। जो ब्रज की माधुरी चख-चखाकर उसका रस लेकर खड़ी के क्षेत्र मेँ आए उन्होँने भाषा के रूप मेँ हेर-फेर करने का प्रयास भी किया। पंडित रामचंद्र शुक्ल की अधिक रचना ब्रज मेँ है, पर उन्होँने खड़ी मेँ भी रचना की और उसमेँ भाषा का रूप बहुत ही व्यंजक दिखाई दिया। इनके अतिरिक्त ऐसे प्रमुख कवि तीन ही और दिखाई देते हैँ—श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और लाला भगवानदीन। पाठकजी ने लावनी की शैली ग्रहण की, हरिऔधजी ने संस्कृत-वृत्त अपनाए और लालाजी ने उर्दू की बहरेँ चुनीँ। इन सबकी ब्रज की रचनाएँ अधिकतर कवित्त-सवैयोँ मेँ ही और मुक्तक हुई हैँ।

श्रीधर पाठक

ये प्रकृति के उपासक थे, इसलिए प्रकृति पर इनकी रचनाएँ पर्याप्त मिलती हैँ। इन रचनाओँ मेँ विशेषतः यह है कि ये ब्रज के पुराने कवियोँ की भाँति रूढ़िबद्ध नहीँ हैँ। कवि ने अपनी आँखेँ खोलकर प्रकृति की छटा का अवलोकन किया है। पर प्रकृति का रमणीय रूप ही इन्हेँ भाता था, अतः इनकी दृष्टि कुछ चुने हुए भव्य रूपोँ तक ही जा सकी है। साधारण लता-वीरुध तक जैसी दृष्टि वाल्मीकि आदि की पहुँची थी वैसी इनकी नहीँ। रीतिकाल का प्रभाव यह भी पड़ा कि प्रकृति के वर्णन उपमा, उत्प्रेक्षा आदि से लदे हुए ही आए। पाठकजी ने शुक्लजी की भाँति प्रकृति के उतने संश्लिष्ट चित्रण तो नहीँ किए, पर किए अवश्य हैँ। समय की गति के साथ आपने समाजसुधार आदि नवीन विषयोँ पर भी अपनी लेखनी चलाई और देशप्रेम पर भी कितनी ही रचनाएँ लिखीँ। इनमेँ केवल विषयगत नवीनता के

ही दर्शन नहीं होते, शैली की भी नवीनता मिलती है। नए नए छंदों का विधान, कई छंदों के मिश्रण का प्रयास, अतुकांत मात्रिक रचना, खड़ी में सवैया आदि का प्रयोग सब कुछ है। यदि पाठकजी छंद की दृष्टि से किसी ओर नहीं गए तो उर्दू की बहरों की ओर। भाषा में बड़ी ही सफाई और व्यंजकता मिलती है। व्रज का प्रभाव अधिक होने से इन्हों ने खड़ी के बीच व्रज का भी पुट दे दिया है, कहीं कहीं दोनों के छंद अलग अलग पड़े हुए हैं। नवीन कविता की अनेक प्रवृत्तियों का मूल इनकी रचनाओं में इसी से मिलता है। इनकी व्रजभाषा की रचनाओं में भी नूतनता के दर्शन होते हैं, मुख्यतः विषय की नूतनता के। इस प्रकार ये हिंदी में स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

हरिऔधजी ने भी आरंभ में व्रज की ही रचनाएँ की हैं। व्रजभाषा की रचनाओं के तीन मुख्य अखाड़े दिखाई देते हैं—काशी, कानपुर, और आजमगढ़। तरह तरह की समस्याएँ देना और उनकी पूर्ति में तरह तरह की रचनाएँ प्रस्तुत करना यों तो और भी कई स्थानों में, प्रायः बैसवाड़े और बुंदेलखंड के प्रचलित था पर इन तीन स्थानों में इसकी विशेष धूमधाम रहती थी। आजमगढ़ में बाबा सुमेरसिंह व्रजभाषा के पूर्ण रसिक थे। उन्हीं की शिक्षा-दीक्षा में हरिऔधजी ने व्रज की बहुत सी रचनाएँ कीं। 'रसकलस' में इस प्रकार की रचनाओं का संग्रह हो गया है। इसमें नए नए भेद भी शास्त्र के विधि-विधान के भीतर ही करके दिखाए गए हैं। इधर खड़ी का प्रसार होते देख आपने संस्कृत के वर्णवृत्तों में 'प्रियप्रवास' नाम की अतुकांत रचना प्रस्तुत की। इसमें 'गोपिका-विरह' का वर्णन है। श्रीकृष्ण इसमें अवतार के रूप में नहीं लाए गए, महापुरुष या पुरुषोत्तम के रूप में लाए गए हैं। उनकी लीलाओं का भी वर्तमान नए युग के अनुरूप तर्कसिद्ध रूप ही सामने लाया गया है, जैसे गोवर्धन का उँगली पर उठा लेना लाक्षणिक कथन माना गया है। श्रीकृष्ण वृष्टि के समय गो-ग्वाल गोपियों की रक्षा उसके चारों

ओर दौड़ दौड़कर इतनी फुरती के साथ कर रहे थे, मानों उन्होंने उसे उँगली पर ही उठा लिया हो। भगवल्लीला में पूर्ण विश्वास करनेवालों की राम जाने, पर सब बातों को तर्क की कसौटी पर कसनेवालों का कुछ संतोष इससे अवश्य हो गया होगा बात यह थी कि व्रज में श्रीकृष्ण के शृंगारी रूप का इतना अतिरेक हुआ और उन्हें छैल-छबीला इतना अधिक दिखलाया गया कि आर्यसमाज और राममोहन राय आदि के सुधारवादी आंदोलनों के अनंतर काव्य में उसका प्रतिवर्तन आवश्यक हुआ। 'प्रियप्रवास' में यही प्रतिवर्तन लक्षित होता है। इसमें नवधा भक्ति का भी नूतन रूप सामने लाया गया है, जो आधुनिक मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल पड़ता है। घनानंद ने पवन के दूतत्व में एक-दो छंद ही लिखे थे, इसमें पूरा सर्ग भरा है। वर्णनों की ही प्रचुरता इसमें भी है, जो हिंदी के प्रबंधकाव्यों या संस्कृत के पिछले काँटे के महाकाव्यों का अनुगमन मात्र है। वृक्षों और लताओं की नामावली के बीच केशव की जमाई हुई परिपाटी का पूर्णतया पालन किया गया है, जिसमें खिरनी, फालसा, लीची आदि के झुरमुट में बेचारे करील का पता ही नहीं चलता। महाकाव्य के आदर्श पर चलते हुए इसमें केवल उसका वर्णनात्मक अंश लिया गया है, घटनात्मक नहीं। अतः इसमें जो कुछ सरसता है वह वर्णनों की ही। उत्तरांश में वियोग-व्यथा की भी मार्मिक व्यंजना हुई है। सबसे अधिक चौंकानेवाली इसकी भाषा दिखाई पड़ी। एक तो संस्कृत-वर्णवृत्तों के प्रयोग के कारण संस्कृत की समस्त पदावली अनुरूप दिखाई पड़ी, दूसरे वर्णनों में प्रभविष्णुता लाने के लिए भी उसका प्रयोग आवश्यक प्रतीत हुआ पर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इसमें हिंदी की सरल पदावली है ही नहीं। हृदय के उद्गार व्यक्त करने के लिए हिंदी की कहीं सरल और कहीं कुछ परिष्कृत पदावली का व्यवहार बराबर किया गया है।

हरिऔधजी ने अनेक रूप की शैली और अनेक भाषा दोनों का व्यवहार किया है। आपकी धुन अनोखी है, इसमें संदेह नहीं। आपने मुहावरों का खासा मेला अपने तीन ग्रंथों में लगाया – चुभते चौपदे,

चोखे चौपदे और बोलचाल में। इनमें उर्दू की बहरों का अपने ढंग से व्यवहार किया गया है। मुहावरे भी बड़े कटकीने से लाए गए हैं और कुछ नए मुहावरे भी रख दिए गए हैं। 'पारिजात' में आपने कवित्तों की कसावट और स्वर्ग-कल्पना का कामद स्वरूप दिखलाया है। 'वैदेही वनवास' में हिंदी के मात्रिक छंदों का व्यवहार हुआ है। इस प्रकार इन्होंने संस्कृत के वर्णवृत्तों, उर्दू की बहरों और हिंदी के मात्रिक तथा दंडक छंदों अर्थात सभी प्रकार की चलती शैलियों में रचना करके अपनी महाशक्ति का परिचय तो दिया ही, भाषा के ठेठ रूप से लेकर संस्कृतमय रूप तक में रचना करके उसके विविध रूपों का भी आभास दिया। नई प्रवृत्ति के इन्होंने कुछ 'गेय गीत' भी लिखे हैं, पर वे व्यक्तिवैचित्र्यवाद से मुक्त हैं। इस प्रकार बहुरंगी रचना के विचार से हरिऔधजी इस काल के बहुत ही समर्थ कवि हुए हैं। प्रियप्रवास में खड़ी बोली के जिस रूप का आभास इन्होंने क्रियापदों और अव्ययों के प्राचीन रूपों का ग्रहण करके दिया उसकी पद्धति अब हिंदी में व्याप्त अवश्य हो गई।

लाला भगवानदीन 'दीन'

लालाजी की ब्रज की रचनाएँ पुराने कैंड़े की ही हैं, पर उनमें कुछ स्थानों पर मनोरंजन के विचार से मोटर, हवाई-जहाज आदि नवीन वर्ण्य विषय भी लाए गए हैं। असहयोग-आंदोलन के समय इन्होंने चरखा, स्वदेशी, मादकद्रव्य-त्याग आदि को तथा और आगे चलकर कुछ अन्य चलते विषयों को भी सोत्साह ब्रज की माधुरी में लपेटा। खड़ी बोली में आपकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'वीर-पंचरत्न' है, जिसमें उर्दू की बहरों का व्यवहार किया गया है। इनका विचार था कि खड़ी बोली इनमें ढलती आ रही है अतः उसके अनुकूल बहरों की यह शैली बहुत अच्छी पड़ती है। आपने गद्याभास रचना का बहुत अधिक विरोध किया था, जो 'लक्ष्मी' नाम की पत्रिका में बहुत दिनों तक प्रकाशित होता रहा। पद्यात्मक निबंध भी आपने कई लिखे हैं और अनेकानेक फुटकल विषयों पर भी कुछ लंबी रचनाएँ की हैं। पंचक, सप्तक, अष्टक

तो इन्होंने बहुत से लिखे। विषय भी नागरिक और ग्रामीण रुचि दोनों के अनुकूल लिए गए हैं। 'नवीनवीन' या 'नदीमे दीन' नामक आपकी फुटकल रचनाओं का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। पर अभी तक आपकी बहुत सी रचनाएँ अप्रकाशित ही पड़ी हैं। आपके 'वीर-पंचरत्न' का बहुत अधिक प्रचार हुआ। पछाँह में लोग बड़ी उमंग के साथ उसे पढ़ते-सुनते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दीनजी वस्तुतः चमत्कारवादी कवि थे। केशव की कविता की छाप इन पर भरपूर पड़ी थी। केशवदास के ग्रंथों की टीका करके आपने उनकी रचना पढ़ने-पढ़ानेवालों के लिए सुलभ तो की ही, साथ ही यह भी प्रमाणित किया कि हिंदी में सबसे श्रेष्ठ कवि केशवदास ही गए हैं, तुलसी और सूर को भक्त या महात्मा कहकर पृथक् कर दिया। किंवदंती भी है कि अकबर के दरबार में जब केशवदासजी से पूछा गया कि 'भाखा' का सर्वश्रेष्ठ कवि कौन है तो इन्होंने अपना ही नाम लिया और तुलसी एवं सूर का नाम लेने पर उन्हें भक्त बतलाया। लालाजी बड़े ही काव्यमर्मज्ञ और हिंदी भाषा के अभिमानी थे। साहित्य का भांडार ये सब प्रकार से भरना चाहते थे। हिंदी की पुरानी रचनाओं को लोग श्रमसाध्य समझ कर त्यागने लगे थे अतः इन्होंने उन्हें सरल करने के लिए स्वयं टीकाएँ लिखीं और अपने शिष्यों से लिखवाईं। इसी विचार से 'हिंदी-साहित्य-विद्यालय' नाम का विद्यालय भी खोला जो 'भगवानदीन-साहित्य विद्यालय' के नाम से अब भी चल रहा है। व्रजभाषा के इन मर्मज्ञों के उठ जाने से व्रज का पठन-पाठन तो कम होने ही लगा है, मतभिन्नता के नाम पर अशुद्ध अर्थ भी किए जाने लगे हैं। किसी साहित्य की पुरानी रचना की परंपरा से उसके साहित्यिकों का विच्छिन्न हो जाना बहुत बड़े खटके की बात है। लालाजी बड़े ही मनस्वी थे, यह बात उनके जीवन में तो थी ही, रचनाओं में भी दिखाई देती है।

व्रज की रचना नगर के पढ़े-लिखे लोगों द्वारा धीरे धीरे कम होने लगी। पर अब भी उसमें प्रभूत परिमाण में रचना हो रही है और अधिकतर पुराने ढर्रे पर ही हो रही है। खड़ी के रचयिताओं में भी जो अपनी

परंपरा के साथ बढ़ते आ रहे हैं उनमें से मैथिलीशरण गुप्त, ठाकुर गोपालशरण सिंह और रामनरेश त्रिपाठी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें गुप्तजी और ठाकुर साहब तो द्विवेदीजी के प्रभाव से पूर्णतया प्रभावित हैं, पर त्रिपाठीजी अपनी रचनाओं में स्वच्छंदता लेकर चले हैं। किंतु स्वच्छंदता विषय के ग्रहण की ही है, शैली की नहीं।

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्तजी की रचनाओं की तीन स्थितियाँ स्पष्ट हैं। आरंभ में इनकी रचनाएँ गद्याभास रूप लेकर चली थीं. वंगभाषा के संपर्क में आने पर इनकी कविता में मधुर एवं कोमलकांत पदावली का भी संनिवेश हुआ और नवीन कविता की धारा बहने पर इनमें नूतन कही जानेवाली वक्रता, चित्रमयता आदि की भी वृद्धि हुई। आरंभ में भाषा के गद्यरूप की जो कट्टरता थी वह अब हट गई है, उसमें ब्रज के भी प्रयोग और कहीं कहीं शब्द भी ग्रहण कर लिए गए हैं। इन्होंने सब प्रकार की रचनाएँ की हैं—मुक्तक, प्रबंधकाव्य, गीत, प्रगीत, तुकांत, अतुकांत आदि। छंद भी सब प्रकार के व्यवहृत किए हैं। पर उर्दू की बहरों से ये दूर ही दूर रहे। नए नए छंद भी कहीं कहीं दिखाई देते हैं। आरंभ में इन्होंने हरिगीतिका छंद का विशेष उपयोग किया। इनकी देखादेखी यह छंद बहुत फैला। इधर इनके कई काव्य निकले हैं जिनमें से 'साकेत' और 'द्वापर' की विशेष धूम है। पुराने इतिवृत्तों को लेकर और उन्हें लाकर नए साँचों में ढालने का भी इन्होंने यत्न किया है। 'साकेत' के निर्माण के पीछे तो विशेष विचारधारा ही बह रही है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने 'काव्येर उपेक्षिता' नामक निबंध लिखकर यह दिखलाया था कि संस्कृत के काव्यों में कुछ ऐसी महिलाएँ भी हैं जिन पर कवियों को विशेष ध्यान देना चाहिए था, पर उन्होंने दिया नहीं। वाल्मीकि ने उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र सीता का चरित्र चमकाने के लिए उपेक्षित किया, कालिदास ने 'शाकुंतल' में प्रियंवदा एवं अनुसूया को भुला दिया, बाण ने कादंबरी में तरलिका का समुचित ध्यान नहीं रखा। वे काव्य के नायक या नायिका के चरित्र-विकास में

योग देने के लिए उत्पन्न की गईं और जहाँ की तहाँ मर गईं। द्विवेदीजी ने 'उर्मिला' के संबंध में 'सरस्वती' में एक लेख उन्हीं की देखादेखी लिखा और इस उद्धार का पूरा समर्थन किया। गुप्तजी ने 'साकेत' लिखकर उर्मिला' की वही उपेक्षा अब हटा दी है। यही कारण है कि कवि उर्मिला और लक्ष्मण के चरित्र पर तथा उनसे छूटकर मांडवी-श्रुतिकीर्ति एवं भरत-शत्रुघ्न के चरित्र पर विशेष ध्यान रखता है। राम-सीता तो 'आर्य' एवं 'आर्या' बनकर केवल कथासूत्र जोड़ने का काम करते हैं। इस प्रकार प्रख्यात चरित्र को दबाकर गौण चरित्र को ऊपर करना भले ही बहुत से लोगों को पसंद न आया हो, पर उर्मिला का चरित्र सँवारने का और उसे ठीक ठीक अंकित करने का कवि ने विशेष उद्योग किया है। अन्य पात्रों का, विशेषतः वाल्मीकि या तुलसी ने जिन पर पूरा ध्यान नहीं दिया, शील भी परिष्कृत करने का प्रयास किया गया है। जैसे 'मानस' की कैकेयी चित्रकूट में 'कुटिल रानि पछितानि अघाई' या 'अवनि जमहिं जाँचति कैकेई। महि न बीच बिधि मीचु न देई' की स्थिति में पहुँचकर मौन है, पर 'साकेत' की कैकेयी की जिह्वा सजग है। तुलसी ने 'भरत-सभा' आदि में भरत की वाणी खोलकर उनका चरित्र भी जिस प्रकार भली भाँति खोला उसी प्रकार गुप्तजी ने भी कैकेयी की वाणी खोलकर उसका चरित्र भी खोला, यह बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। उर्मिला की वियोग-दशा की व्यंजना में तो मर्मज्ञता का कोश ही खोल दिया गया है। वियोग की अनेक अंतर्दशाओं, स्थितियों आदि का कवि ने विस्तार के साथ विधान किया है। अकेली उर्मिला बकती हुई केवल प्रलापिनी जान पड़ती इसलिए सखी भी साथ है प्रासाद में पड़ी उर्मिला वियोग को व्यक्त करने के लिए विषय न पाती इसीसे वह वाटिका में आ बैठी है। पर यह बताने की आवश्यकता नहीं कि वियोग में वस्तुव्यंजनाओं की ही प्रबलता है और दूरारूढ़ व्यंजनाएँ भी कम नहीं हैं। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि कवि ने वियोग-वर्णन की नूतन विधि या नव्य ग्रथन-कौशल अवश्य दिखलाया है, और प्रभूत परिमाण में दिखलाया है। साकेत में सत्याग्रह आदि के आधुनिक विषय भी

कटकीने से रखे गए हैं। सबसे विलक्षण बात कुछ लोगों को वसिष्ठजी की जादू की छड़ी' दिखाई देती है, जिसके घुमाते ही वन का सारा दृश्य चित्रपटों की भाँति दिखाई देने लगता है। पर वसिष्ठजी का ऋषि-कल्प रूप ही भक्त कवि ने लिया है, उसे आधुनिक तर्कवाद पर कसकर रखने का वह प्रयास इसमें नहीं है जो 'प्रिय-प्रवास' में दिखाई पड़ा था। राम-वनवास के पूर्व और पश्चात् साकेत (अयोध्या) की स्थिति क्या थी यही इसमें दिखाया गया है, कवि राम के साथ वन नहीं गया वहीं रह गया। यही इसके नामकरण का कारण है। 'द्वापर' में बँगलावाली शैली पर रंगशाला में आकर उस युग के कुछ चुने हुए पात्र अपनी आत्म-व्यंजक उक्तियाँ कहते हैं। गोपाल कृष्ण के चरित्र का ही इसमें उल्लेख है, द्वारकेश कृष्ण के चरित्र का नहीं। इसी से इसका दूसरा नाम 'गोपाल' भी है। 'द्वापर' का अर्थ 'संशय' भी होता है। कुछ पात्रों के मुख से, जैसे कंस और विधृता के, इस संशयास्पद स्थिति का उल्लेख कराया भी गया है। इंद्र के लिए किए जानेवाले यज्ञ-याग में कर्मकांड का जो अति-वादमय पशुहिंसावाला प्रचंड रूप छाया था उसकी निवृत्ति होने और हृदय की वृत्तियों को जागरित कर पशुपालन की प्रवृत्ति जगने की झलक देने का प्रयास भी इसमें लक्षित होता है। सत्पात्र और असत्पात्र सभी के शील का रूपक-पद्धति (ड्रामेटिक मेथड) से अभिव्यंजन हुआ है। कंस और नारद के पूर्वप्रतिष्ठित रूपों में कवि अच्छी प्रभविष्णुता ले आया है। पर स्थान स्थान पर कोरी वस्तुव्यंजनाएँ भी हुई हैं; जैसे मुटाई के लिए 'पार्श्व छीलते छिलते (भुजदंड)' और गुरुत्व के लिए 'रवि शशि लटके रहे शून्य में उसमें (कृष्ण में) सार भरा था' कहना आदि। फिर भी यह कहने में कोई हिचक नहीं कि भावदशा और रसदशा से आगे बढ़कर कवि शीलदशा तक सहृदयों को पहुँचा सकने में अवश्य समर्थ हुआ है। युग की सारी प्रवृत्तियों की दृष्टि से देखते हैं तो ये समय के पूरे प्रतिनिधि दिखाई पड़ते हैं। ज्यों ज्यों जीवन और साहित्य में वृत्तियाँ या प्रवृत्तियाँ बदलीं कवि भी त्यों त्यों अपनी काव्यधारा मोड़े उसी स्थल पर पहुँचा दिखाई पड़ा जहाँ जीवन और साहित्य पहुँच चुका

था। वह प्रवाह मेँ बहा नहीँ, उसमेँ प्रवीण कर्णधार की भाँति अपनी काव्य-नौका खेता रहा।

ठाकुर गोपालशरण सिंह

यद्यपि खड़ी मेँ कवित्त-सवैयोँ को माँजनेवाले और भी कई इनसे पहले, कुछ इनके समय में और कुछ इनके अनंतर, पर जिस सादगी के साथ इन्होँने उक्तियाँ कहीँ और इन छंदोँ मेँ जैसी मिठास ये ला सके वैसी बात अन्यत्र नहीँ दिखाई पड़ी। इनकी आरंभिक रचनाओँ मेँ चमत्कार आदि का बिलकुल विधान नहीँ है। गूढ़ता से भी ये बचते रहे। सरलता इनमेँ पूरी मात्रा मेँ पाई जाती है। इधर ये नई धारा मेँ भी पड़े और 'कादंबिनी' तथा 'मानवी' के दर्शन कराए। 'कादंबिनी' मेँ मेघमाला अनेक प्रकार की नहीँ है, जीवन-जगत् के मंगलमय रूपोँ का ही उसमेँ आभास है। यद्यपि हिंदी की नई धारा मेँ निराशा या करुणा यहाँ से वहाँ तक छाई हुई है तथापि इनमेँ आशा और प्रफुल्लता के ही दर्शन होते हैँ। 'मानवी' मेँ अवश्य नारी जाति के करुण दृश्य दिखलाए गए हैँ। नारी की कोमलता और व्यथा ही इसमेँ आई हैँ, उसके प्रचंड रूप के दर्शन नहीँ कराए गए। उग्र भावोँ से ये सदा दूर रहे। 'ज्योतिष्मती' मेँ जीवन जगत् एवं जगन्नियंता के रूप का निरूपण करने का प्रयास है। इनकी भाषा व्रज की सी माधुरी का सहारा लिए चलती है, अतः उसमेँ व्रज के शब्द भी कहीँ कहीँ आ पड़ते हैँ और कुछ उसी के अनुगमन पर बने प्रयोग भी।

रामनरेश त्रिपाठी

त्रिपाठीजी नूतन विषयोँ को प्रबंध के क्षेत्र मेँ बड़े ही स्वाभाविक ढंग पर ले चले हैँ। मिलन, पथिक और स्वप्न इन तीनोँ खंडकाव्योँ मेँ आपने कल्पित कथा ली है और देशप्रेम तथा प्रणय के बीच नेता को स्थित करके अत्यंत रमणीय काव्यभूमि निर्मित कर दी है। इन्होँने प्रणय को कर्म या कर्तव्य से शून्य नहीँ दिखलाया। ये प्रेम को एकांत उपासना की वृत्ति नहीँ

मानते, उसमें कर्म की रमणीयता भी छिटकाते हैं। इस प्रकार ये सभी स्वच्छंदता के अनुयायी दिखाई देते हैं। नई काव्यधारा के चलने पर नूतन विषयों का आरोप पौराणिक या ऐतिहासिक कथाखंडों पर ही करके ओजस्वी संवादों की योजना की जाती थी, कल्पित कथा द्वारा मार्मिक पथ का ग्रहण जो करते भी थे वे केवल पद्य निबंध तक ही रह जाते थे, प्रबंध के क्षेत्र तक लाकर उसमें रसात्मकता उत्पन्न करनेवाले ये ही दिखाई देते हैं। प्रकृति के वर्णनों में भी आपने देशगत विशेषता (लोकल कलर) अच्छी दिखलाई है। चमत्कार से आप बचते रहे हैं जहाँ चमत्कार आया भी है वहाँ प्रस्तुत का रूप निखारने के लिये अप्रस्तुत के रूप में। भाषा सरल और स्वच्छ है।

गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

इन्होंने 'नूरजहाँ' नामक प्रबंधकाव्य लिखा है जिसमें प्रबंधगत विशेषताओं का समन्वय बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। घटनाएँ भी हैं और वर्णन भी। साथ ही प्रकृति के वर्णन भी स्थानगत विशेषता का अच्छा रूप लिए हुए आए हैं। हिंदी में 'अनुज्झितार्थसंबंध' प्रबंध यही अच्छा दिखाई पड़ा। कलापक्ष भी इसमें शून्य नहीं। विरोध की प्रवृत्ति, जो आजकल की व्यापक विशेषता है, इसमें स्थान स्थान पर दिखाई देती है। भाषा में मुहावरों की बंदिश भी पर्याप्त है। कवि ने 'वनश्री' में प्रकृति के वर्णनों तथा प्राकृतजनों के निरूपण में अपनी विशेष रुचि दिखाई है। सामान्य के वर्णन में व्यक्तिवैचित्र्य की प्रधानता न होने से इनके वर्णन बड़े ही मार्मिक हुए हैं।

जिन कवियों में चित्रमय भाषा, वक्रोक्ति के अतिरंजित रूप, वेदना की विवृति आदि के पूर्ण दर्शन हुए वे इन सबसे पृथक् दिखाई देते हैं। उनमें रहस्य के संकेत भी यथास्थान मिलते हैं। कोई कोई तो पक्के रहस्यवादी भी दिखाई देते हैं। उनमें से केवल चार प्रमुख कवियों की विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है—सुमित्रानंदन पंत, जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा।

सुमित्रानंदन पंत

आरंभ में इनका 'पल्लव' बड़ी धूमधाम के साथ निकला, जिसकी भूमिका में हिंदी के पुराने कवियों पर खूब छींटे उछाले गए और काव्य में अत्यधिक छूट (पोयटिक लाइसेंस) माँगी गई। 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान' के द्वारा करुणा और निराशा की ध्वनि उठाई गई। अँगरेजी की लाक्षणिकता भी भाषा में लदी। पर यह समझना भूल है कि पंतजी की सारी रचनाएँ रहस्यात्मक हैं : मतविधायिनी (डाग्मेटिक) कविताएँ 'पल्लव' में इनी-गिनी ही हैं, जैसे 'मौन निमंत्रण'। पुराने कवियों की जिस प्रवृत्ति का अर्थात् ऊपरी लदाव और शृंगार का विरोध किया गया उससे कवि अपने को भी मुक्त नहीं कर सका। 'छाया' में अप्रस्तुतों का भार बहुत लद गया है। इसी बीच शुक्लजी का 'काव्य में रहस्यवाद' प्रकाशित हुआ, जिसमें भारतीय काव्य के प्रकृत स्वरूप की रूपरेखा बतलाई गई और भद्दी तड़क-भड़क तथा निराशावाद एवं कोरी रहस्यदर्शिता का खंडन किया गया। पंतजी ने निश्चय ही अपना मार्ग बदल दिया और 'गुंजन' में ये जीवन के वास्तविक रूप सुख-दुःख के समन्वय में प्रवृत्त हुए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पंतजी नवीन कवियों के अग्रणी हैं और इनकी रचना बहुत ही सधे हुए पथ पर से होकर चली है। रहस्य-संकेत जिज्ञासा की सीमा पार करके प्रायः सांप्रदायिक रूपरंग नहीं ग्रहण कर सके हैं। भाषा में भी व्यंजना की पद्धतियाँ उलझानेवाली नहीं हैं। जहाँ अँगरेजी वाक्य-खंडों का अनुगमन हुआ है वहाँ कहीं कहीं कुछ उलझन आ गई है। नवीन कवियों में तो प्रकृति-क्षेत्र में स्वच्छंद विचरण करने वाले ये ही दिखाई पड़ते हैं। इनकी वृत्ति वस्तुतः बहिर्मुखी है, 'प्रसाद' की भाँति अंतर्मुखी नहीं। इन्हें जगत् में बाहर आनंद या सौंदर्य की जो झलक दिखाई देती है उसी से मनस्तोष नहीं होता। पूर्ण या अधिकाधिक आनंद या सौंदर्य की लालसा बराबर जगी रहती है, जिसे कवि ढूँढ़ता फिरता है। इधर स्वच्छंदता या 'प्रगति' की प्रवृत्ति अधिक जगने से इन्होंने कुछ

नीचे उतरने का प्रयत्न भी किया है। जीवन से हटने की भावना दूर हो गई है, कवि जीवन के बीच अपनी अमर वाणी का प्रसार करने का अभिलाषी दिखाई देता है। पर यह कह देना आवश्यक है कि यहाँ भी कवि ने जीवन का सर्वसामान्य पक्ष ही लिया है और वह जीवन के सामान्य भावों में रमता दिखाई पड़ा है। सांप्रदायिकता का भद्दा रूप इनमें कहीं भी नहीं है। अतः इन्हें सच्चा स्वच्छंदतावादी कहना ठीक ही है। ऐसी रचनाएँ 'युगांत' और 'युगवाणी' में मिलेंगी।

जयशंकर 'प्रसाद'

प्रसादजी भी देखादेखी नवीनता की ओर बढ़े, इनकी आरंभिक रचनाओं में यह बात नहीं थी। 'झरना' (द्वितीय संस्करण में अनेक विलक्षणतापूर्ण रचनाओं का संग्रह है। इनकी 'आँसू' नामक रचना विरह-वेदना की घोर विवृति लिए हुए उसके अनंतर प्रकाशित हुई, जिसमें छंद भी नया व्यवहृत हुआ है। इस छंद में बहुत अधिक रचनाएँ होने लगी हैं और अच्छे अच्छे कवियों ने इसे अपनाया है। आरंभ में 'आँसू' विरह की वेदना के रूप में ही प्रवाहित हुआ है, पर आगे चलकर उत्तरांश में लोक के दुःख की ओर भी कवि की दृष्टि गई है। सामान्य दुःखमयी रात्रि से कवि कालरात्रि तक पहुँचा है और चेतना की विश्रांति का उसे ही अंतिम आश्रय कहा है—

> चेतना-लहर न उठेगी, जीवन-समुद्र थिर होगा।
> संध्या हो सर्ग-प्रलय की, विच्छेद मिलन फिर होगा॥

परमप्रिय की प्राप्ति का यही तो परम साधन है। पर रहस्यसंकेत प्रस्तुत के बीच में आकर कहीं कहीं सूफी मत से प्रभावित होने के कारण लिंगव्यत्यय के कारण भी हो गए हैं; जैसे—

> शशि-मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाए।
> जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए॥

मदिरा के साथ प्याला भी कहीं कहीं अपना दौर लगाने लगता है। छाले भी फूटते हैं। पर इसके होते हुए भी 'आँसू' में सबसे बड़ी

विशेषता यह है कि विधान परंपराप्राप्त प्रतीकों का ही अधिक दिखाई देता है। अन्य कवियों में यह बात नहीं है—चातक की चकित पुकारें, श्यामा की रसीली ध्वनि, मणिवाले फणी (केश) आदि की ही योजना है। प्रसादजी समन्वयवादी हैं, अतः सुख और दुःख दोनों को साथ मानकर ही चले हैं—

मानव जीवन-वेदी पर, परिणय है विरह-मिलन का।
सुख-दुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का मन का॥

प्रसाद का नियतिवाद भी इसी के बीच झलक मारता है—

नचती है नियति नटी सी, कंदुक-क्रीड़ा सी करती।
इस विपुल विश्व-आँगन में, अपना अतृप्त मन भरती॥

प्रसादजी की वृत्ति अंतर्मुखी है, सौंदर्य की एक झलक से ही प्रेमी ऐसा व्यथित है कि सुध नहीं और देखने का प्रयत्न फिर कैसा! कल्याणी शीतल ज्वाला की अखंड ज्योति भी हृदय में जगी है। बुद्धिवाद के अतिरेक से घबड़ाकर कवि बेहोशी भी लाना चाहता है, जीवन में भी और जगत् में भी। वही उसे कल्याण का मार्ग समझ पड़ा है। वियोग-काव्य तो यह बहुत रसीला है, यदि स्फुट वर्णन या व्यंजना के विचार से देखा जाय। पर जैसा आलोचक कह गए हैं इसमें समन्वित प्रभाव (टोटल इंप्रेशन) का अभाव ही है। 'लहर' में और अनेक नए गीतों के बीच कवि अपने रोचक विषय अतीत भारत में भी प्रविष्ट हुआ है और उसकी बड़ी ही रमणीय झाँकियाँ कराई हैं। प्रकृति के इन्होंने मादक या मधुर रूपों के ही दर्शन किए-कराए हैं। प्रकृति पात्र के भावों से ओतप्रोत बराबर दिखाई पड़ता है। इनका सबसे महान् प्रयत्न 'कामायनी' में लक्षित होता है जिसमें प्रबंधकाव्य के पथ पर ये अपने वैलक्षण्य एवं रहस्यात्मक वृत्ति को लिए हुए अग्रसर हुए हैं। इसमें शैवतंत्रों प्रत्यभिज्ञादर्शन की समरसता का प्रतिपादन करने का अच्छा प्रयास किया गया है। मनु एवं उनकी पत्नी श्रद्धा (कामायनी) के ऐतिहासिक वृत्त के साथ मानवता के विकास का आदिम रूप प्रस्तुत करने का बड़ा ही विशद संभार हुआ है। मनु अपनी सत्ता प्रजापति बनकर जमाना चाहते हैं, पर श्रद्धा उन्हें

समरसता का सार्वभौम सिद्धांत समझाती है। श्रद्धा इसमें शक्तितंत्र (वाममार्ग) अथवा शैवतंत्र (दक्षिणमार्ग) के मध्य गृहीत परा शक्ति के रूप में दिखाई गई है। इच्छा, प्रयत्न और कर्म सब उसके अनुशासन में चलते हैं। 'संवेदन' को ही, जिसे 'स्पंदकारिका' आदि शैवतंत्र 'आद्यनुभव' मानते हैं, संसार के दुःखानुभव का मूल कहा गया है—

संवेदन और हृदय का यदि यह संघर्ष न हो सकता।
तो अभाव असफलताओं की गाथा कौन कहाँ बकता।

यद्यपि कवि ने कहा है कि मैंने इसे ऐतिहासिक रूप में ही रखा है पर पुस्तक के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह मनोवृत्तियों के रूपक का लोभ त्याग नहीं सका है। अध्यवसान या रूपक के कारण बेचारे मनु का चरित्र विकृत अवश्य हो गया है। मातृसत्ताक (मेट्रिआर्कल) या पितृ-सत्ताक (पेट्रिआर्कल) युग की दुहाई देकर इससे पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता। मनु के साथ प्रजापति को जोड़ देने से ही यह स्थिति उत्पन्न हुई है। अर्धनारीश्वर या प्रकृति-पुरुष के वेश की बड़ी ही सुंदर झाँकी कराई गई है। कामायनी में घटनाएँ पर्याप्त नहीं हैं, जो हैं भी उनका विकास लोकसमन्वित भूमि पर नहीं है। शैवतंत्रों का सांप्रदायिक रंग विशेष चढ़ जाने से रसात्मकता की अखंड धारा तो नष्ट हो ही गई है, प्रबंधधारा भी विच्छिन्न हो गई है। अतः कामायनी भी वर्णन एवं व्यंजनाप्रधान रचना ही है। उसमें रमानेवाली स्थितियाँ पृथक् पृथक् ही हैं, 'अनुज्झितार्थ-संबंध' का अभाव स्वीकार करना ही पड़ता है। प्रसादजी भाषा की दृष्टि से प्रभावसाम्य को दूर तक ले जाकर गूढ़ व्यंजनाएं भी करते हैं और दुहरे रूपक भी बाँधते हैं। इनमें गूढ़ता अधिक है। रूपकों की कुंजी कहीं कहीं ये छोड़ जाते हैं और कहीं कहीं वैसे शब्दों में भी लाक्षणिकता रहती है, जिससे पूरा रूपक तुरत खुलता नहीं; जैसे –

श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा॥

यहाँ रूपक की कुंजी 'जीवन के उस पार' पद में है, जिसका अर्थ है 'आकाश में'। विरही कहता है कि श्यामा (रात्रि) का नखदान

(द्वितीया का चंद्र) मोतियों (ताराओं) से युक्त था। संयोगिनी का वह श्रृंगार मुझ वियोगी की हँसी उड़ा रहा था। 'जीवन के उस पार' के भी लाक्षणिक होने से गृहीत रूपक (सस्टेंड मेटाफर) शीघ्र नहीं खुलता। इसके अतिरिक्त उर्दूवालों के ढंग पर प्रच्छन्न रूपक या मुद्रालंकार का विधान भी इन्होंने किया है। यह विधान आधुनिक युग में रत्नाकरजी की रचना में ही बड़े कवित्वमय ढग से किया गया है। बादल का प्रच्छन्न रूपक देखिए—

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई॥

'मेघाच्छन्नं दुर्दिनम्' को ही सामने रखकर देखने से इसका चमत्कार प्रकट होता है।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

इनमें बहुमुखी प्रतिभा है, यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं। रहस्यदर्शी के रूप में भी ये सामने आते हैं और लोकमानस के रूप में भी। इन्होंने नादसौंदर्य को ही आधार मानकर छंदों का बंधन तोड़ डाला है, इसे तो सभी जानते हैं। इनका पदविन्यास औरों से 'निराला' होता है। 'आखर थोरे' ही लाने के लिए ये शब्दों पर अर्थ का भार अधिक लादते हैं। 'अमित अरथ' के 'आखर थोरे' होते होते इतने रह जाते हैं कि साधारण रीति से अर्थ तक पहुँचना कहीं कहीं दुरूह हो जाता है। इसके अतिरिक्त इनकी कल्पना विलक्षण है। 'तुम और मैं' में बड़े ही सुंदर ढंग से इन्होंने 'आत्म-परमात्म' के संबंधों की व्यंजना की है। 'अनेक नातों' की लड़ी बाँध दी है—रमणीय, अर्थगर्भ और प्रभविष्णु। 'तुलसीदास' में इन्होंने अपनी कल्पना को मुक्तक एवं गीत से हटाकर कथाबद्ध भूमि पर ला खड़ा किया है और कवि के मानस का प्रत्यक्षीकरण कराने में पूर्ण सहृदयता और उच्चाशयता का परिचय दिया है। निरालाजी मनस्वी और तेजस्वी दोनों ही हैं। ये साहित्यकार की सत्ता सबसे पृथक् एवं स्वच्छंद केवल मानकर रह जानेवाले ही

नहीं हैं, उसका आचरण भी करनेवाले हैं। निरालाजी के नाम से बहुतों के चौंकने का कारण यही है।

महादेवी वर्मा

नवीन कवियों में इनकी कृतियाँ रहस्य से आद्यंत रँगी हुई हैं। नई काव्यधारा में दो ही अच्छे रहस्यवादी हैं—एक जयशंकर प्रसादजी, दूसरी महादेवीजी। प्रसादजी ने प्रबंध, निबंध, अतीत इतिवृत्त आदि का सहारा लिया है अतः सर्वत्र रहस्यवाद उनमें आ ही नहीं सकता था, इसी से उनकी कृतियाँ अंशतः ही उससे ओतप्रोत हुईं, पर ये गीत-पद्धति पर ही चलती रहीं इसलिए इनका रहस्य कहीं भी दब नहीं सका। अतः हिंदी में कोई पक्का रहस्यवादी है तो ये ही। प्रसाद में शैवों का सांप्रदायिक रहस्य है। इनका रहस्य भी सांप्रदायिक (डाग्मेटिक) ही है, पर किसी विशेष रहस्य-संप्रदाय से इनका संबंध नहीं रहा, इसी से इनमें अँगरेजी के रहस्यदर्शियों का ही अधिक प्रभाव समझना चाहिए। पश्चिम का रहस्यदर्शी संप्रदाय सूफी रहस्य की शाखा ही है। परमप्रिय का शाश्वत विरह तो इनमें है पर फारसी की प्रतीक-पद्धति से इन्हों ने अपने को बचाया है, कवींद्र रवींद्र की भाँति भारतीय अद्वैत के मेल में रखकर रहस्य को अपना रूप देने का प्रयास किया है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं की ब्रह्मोसमाज के अनुयायियों में काव्य की जो रहस्य दर्शिता उद्भूत हुई वह विदेशी ही है। उसे देशी प्रमाणित करने का यत्न आत्मसत्ता की रक्षा का व्याज मात्र है। इनके सभी गीतों का स्वर एक सा है, पर उनके मार्ग भिन्न भिन्न हैं। लोक से अनेक रूपरंग की पीठिका लेकर अध्यात्म के आकाश का स्वच्छंद विचरण किया जाता है। इनमें रसात्मकता की योजना करने का प्रयास तो है, पर प्रबंध या निबंध की पद्धति न होने से वह आ नहीं पाती, यह तो कहना ही पड़ेगा। वेदना की विवृति इनमें चरम सीमा को पहुँची हुई है। काव्यकर्त्री ही नहीं कलाकर्त्री भी होने के कारण इनकी 'दीपशिखा' कलापूर्ण रीति से सचित्र प्रकाशित हुई है, जो अत्यंत मूल्यवती है।

रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, यामा आदि नाम भी पर्याय अलंकार खासा रूप लिए हुए हैं। इनकी भाषा नए कवियों में बहुत ही साफ सुथरी, सरल मार्ग का अनुगमन करनेवाली और व्यंजकता की विधि से भरी होती है।

स्वच्छंदतावादी धारा के बीच और भी कितने ही कवियों की नाएँ दिखाई देती हैं, जिनमें से बहुतों द्वारा नवीनता के लिए अपनेप का बलिदान भी किया जाता है। जीवन एवं जगत् की रचनाएँ होतं अवश्य हैं, पर मस्तानों की मंडली बढ़ती जा रही है। जो कवि विरो का आघात सह चुके हैं उनमें लपक-झपक कम हो गई है, गंभीरता रसात्मकता, लोकभावना आदि का समावेश हो चला है, पर जो अभं पथ में आए ही हैं वे बेतुकी ही नहीं बेसुरी भी अलाप रहे हैं। इनमें से हरिवंशराय 'बच्चन' की वे रचनाएँ मार्मिक हैं जिनमें फारसी प्याला मधुशाला की प्रतीकात्मकता नहीं है। इन उपलक्षणों को मुसलमानों वे संसर्ग से हम सुनते बहुत दिनों से आ रहे हैं, पर इन्हें अपने काव्य वे भीतर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किसी ने नहीं किया। उधर 'दिनकर की जोशीली रचनाएँ भी दिखाई दे रही हैं, जिन्हें 'नवीन' आदि द्वारा हम पहले ही सुन चुके थे, पर अब इनमें कल्पना का रंग कविता की रमणीयता अधिक घुल गई है। सब मिलाकर हिंदी-का का भविष्य हमें मंगलमय और भविष्णु दिखाई देता है।

भाषाविज्ञान

भाषाशास्त्र का इतिहास

भारतीय भाषाशास्त्र

संसार का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद माना जाता है। इसके पहले के किसी ग्रंथ का पता नहीं चलता। अतः भाषा के इतिहास में ऋग्वेद, उसी के समकालीन वेदों एवं वैदिक वाङ्मय का विशेष महत्त्व है। ऐसी प्राचीन भाषा का इतिहास और उसकी ऐतिहासिक सामग्री का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पौरस्त्य और पाश्चात्य भाषाशास्त्र-संबंधी कुछ ग्रंथों का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। पौरस्त्य अर्थात् भारतीय भाषाशास्त्र का आरंभ वैदिक युग से ही हो जाता है। क्योंकि वेद को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखने के लिए उसके उच्चारण में होनेवाली ध्वनियों का विभाजन आदि किया गया है। वेदों के पद, संहिता, क्रम, जटा, घन आदि पाठों से स्पष्ट है कि एक एक अक्षर के सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई थी। प्रत्येक वेद की कई शाखाएँ भी थीं और उनके अनुसार शब्दों, अक्षरों आदि के उच्चारण में भेद भी पड़ता था। संभवतः इस प्रकार का भेद देशभेद के कारण होता था। इन भेदों का विस्तार के साथ वर्णन 'प्रातिशाख्यों' में किया गया है। वेदमंत्रों की व्याख्याएँ ब्राह्मण-ग्रंथों में हुई हैं, जिनमें शब्दों और उनके अर्थों का विचार किया गया है।

आगे चलकर यास्क नाम के भाषाशास्त्रविद् ऋषि हुए जिन्होंने 'निरुक्त' नाम का ग्रंथ लिखा और भाषा का बहुत ही वैज्ञानिक विचार किया। यास्क का कहना है कि सब प्रकार के शब्द धातुओं से बने हुए हैं। यद्यपि यह सिद्धांत पूर्णतया नहीं माना जाता तथापि यह मान लिया गया है कि अधिकांश शब्द धातुओं से ही निर्मित हुए हैं। निरुक्त का विचार ब्राह्मण-ग्रंथों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है।

इसका प्रमाण वेदों के 'अपाप' शब्द की व्याख्या से भली भाँति मिल जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'अपाप' का अर्थ 'अ-पाप' अर्थात् पाप-रहित किया गया है, किंतु निरुक्त में इसका अर्थ 'अप+अप' संधि-विच्छेद करके 'जलमय' किया गया है। केवल शब्दों की व्युत्पत्ति का ही विचार नहीं हुआ, कठिन और दुरूह शब्दों के कोश भी प्रस्तुत हुए, जिनका नाम 'निघंटु' है। धीरे धीरे व्याकरण की व्यवस्था भी की जाने लगी। संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि का नाम तो सब लोग जानते हैं किंतु पाणिनि के पूर्व भी कई वैयाकरण हो चुके हैं। ऐंद्र, आपिशलि, काशकृत्स्न नाम से वैयाकरणों के कई संप्रदाय उनके पहले ही प्रचलित हो चुके थे। पर पाणिनि का प्रभाव ऐसा छाया कि इनमें से कई संप्रदायों का लोप हो गया। केवल 'कातंत्र' नामके संप्रदाय का ही थोड़ा-बहुत पता चलता है, जो ऐंद्र-संप्रदाय का अनुगामी माना जाता है।

पाणिनि की सबसे बड़ी विशेषता है शिवसूत्रों या प्रत्याहारों का निर्माण। इनके द्वारा व्याकरण की बड़ी बड़ी व्यवस्थाएँ बहुत थोड़े में अर्थात सूत्रपद्धति पर कही जा सकी हैं। किंतु धीरे धीरे इस पद्धति पर लिखी गई उनकी 'अष्टाध्यायी' भी कठिन हो चली और उसके विवेचन की आवश्यकता प्रतीत हुई। कात्यायन ने वार्तिक और पतंजलि ने महाभाष्य लिखकर यह कठिनाई दूर की। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि संस्कृत-व्याकरण के 'मुनित्रय' कहलाते हैं। पाणिनि और उनके व्याख्याकार मुनियों की भी व्याख्या आगे चलकर विस्तार के साथ की गई। काशिका (जया-दित्य और वामन), प्रदीप (महाभाष्य की व्याख्या—कैयट), कौमुदी (भट्टोजी दीक्षित) और शेखर (नागोजी भट्ट) के प्रणयन से व्याकरण का बहुत विस्तृत और पृथक् वाङ्मय ही प्रस्तुत हो गया। पिछले काँटे नैयायिकों ने भी व्याकरण पर कृपा की जिसका आरंभ जगदीश तर्कालंकार की शब्दशक्तिप्रकाशिका से समझना चाहिए। संस्कृत के पिछले खेवे के दो प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचंद्र और बोपदेव

हुए जिन्होंने क्रमशः शब्दानुशासन और मुग्धबोध लिखकर व्याकरण को और सरल किया। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के भी कई व्याकरण बने। इनमें से कच्चायन (कात्यायन) मार्कंडेय, हेमचंद्र आदि की कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

पश्चिमी भाषाशास्त्र

पाश्चात्य देशों में सबसे प्राचीन देश यवनान है। व्याकरण का विचार करनेवाले वहाँ अरस्तू, प्लेटो, क्रेटिलस आदि हुए हैं। अँगरेजी के व्याकरणों में वाणी का जो विभाजन आज तक चला आता है वह प्लेटो के समय का ही है। अक्षरों का वर्गीकरण भी उसी समय किया गया था, जो नीचे वृक्ष के रूप में दिखाया जाता है—
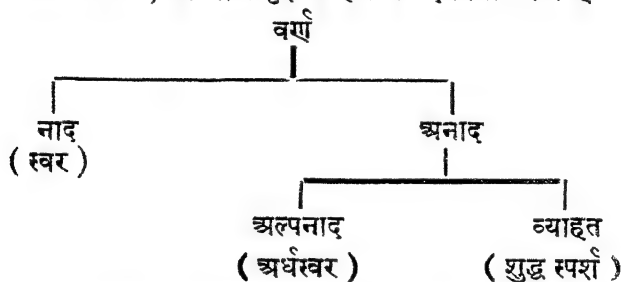
भाषाशास्त्र के विस्तृत और व्यापक विचार की रुचि पाश्चात्य देशों में तब उत्पन्न हुई जब वहाँ संस्कृत-भाषा का प्रवेश हुआ। आरंभ में जब से विलियम जोंस ने शाकुंतल का अनुवाद प्रस्तुत किया तब से यह रुचि बढ़ती ही गई और धीरे धीरे वेदों तक की पूरी छानबीन कर डाली गई और कोलब्रुक, श्लेगल, बॉप, ग्रिम, मैक्समूलर आदि आधुनिक भाषाशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् दिखाई पड़े।

आज दिन भाषा के अध्ययन में केवल साहित्यिक भाषाओं का ही विचार नहीं होता, प्रचलित या अप्रचलित सभी प्रकार की भाषाओं का विचार किया जाता है। स्वरूप और अर्थ दोनों का विचार किया जाता है। साम्य पर भी दृष्टि रखी जाती है और तुलनात्मक विचार

भी किया जाता है। भाषाशास्त्र का नए ढंग का विवेचन भारत में स्वर्गीय रामकृष्ण भंडारकर से प्रारंभ होता है। इन्होंने 'विल्सन फिलालाजिकल लेक्चर्स' देकर यह प्रमाणित किया कि 'संस्कृत' ही मूलभाषा है और उसी से भारत की तथा भारत के बाहर की अन्य आर्यभाषाएँ निकली हैं। भारत में भी अब देशी भाषाओं. साहित्यिक भाषाओं एवं धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन तथा विदेशी प्रभाव की दृष्टि से वैज्ञानिक छानबीन की जा रही है।

भाषाओं का विभाजन—आकृतिमूलक वर्गीकरण

संसार भर की भाषाओं का विभाजन दो प्रणालियों पर किया जाता है—आकृतिमूलक या वाक्यमूलक तथा पारिवारिक या ऐतिहासिक वर्ग। आकृतिमूलक वर्गीकरण में दो प्रकार की भाषाएँ दिखाई पड़ी हैं—निरवयव या व्यासप्रधान और सावयव। 'निरवयव' का तात्पर्य यह है कि ऐसी भाषा में किसी शब्द का क्रिया, संज्ञा, विशेषण आदि के रूप में निर्धारण नहीं होता। एक ही शब्द कभी संज्ञा, कभी क्रिया या कभी विशेषण का काम देता है। चीनी इसी प्रकार की भाषा है। सावयव भाषाओं के तीन भेद किए गए हैं—समास-प्रधान, प्रत्ययप्रधान और विभक्तिप्रधान। समासप्रधान भाषाओं के भी दो भेद माने जाते हैं—पूर्णतः और अंशतः। प्रत्ययप्रधान भाषा तुर्की है। प्रत्ययप्रधान भाषाओं के चार भेद किए जाते हैं—पूर्वसर्ग प्रधान, परसर्गप्रधान, उभयसर्गप्रधान और अंशतः। विभक्तिप्रधान भाषाओं के दो भेद हैं—अंतर्मुखी और बहिर्मुखी। अंतर्मुख-विभक्ति प्रधान भाषाओं में सबसे मुख्य अरबी है, जिसका तीन अक्षरों का धातु आदि, मध्य या अंत में वर्णों के विनियोग से अनेक रूप धारण कर लेता है; जैसे क्‌त्‌ब्‌ व्यंजनों से बने धातु से किताब, कुतुब, कातिब मकतब आदि शब्द बन जाते हैं। बहिर्मुखी भाषाओं में संस्कृत आदि है। विभक्तिप्रधान भाषाएँ संहिति से व्यवहिति की ओर जा रही हैं अर्थात् उनकी वाक्यरचना में विस्तार हो रहा है।

पारिवारिक वर्गीकरण

पारिवारिक विभाजन करने के लिए संसार के चार खंड माने गए हैं—दोनों अमेरिका, प्रशांत महासागर, अफ्रीका और यूरेशिया। अमेरिका की भाषाएँ समासप्रधान हैं। उनमें वाक्यपदी प्रवृत्ति विशेष दिखाई पड़ती है तथा भिन्न भिन्न शब्दों के अवयव मिलकर विलक्षण वाक्य बनाते हैं। जैसे यदि संस्कृत में कहना हो 'पतङ्गाः प्रदीप्तं ज्वलनं पतन्ति' तो उसके स्थान पर कहा जायगा 'पतं दी ज्वल तंति'। मेक्सिको की भाषाओं में स्वतंत्र शब्द मिलते हैं। अमेरिका की भाषाओं का पूरा विभाजन इस प्रकार है
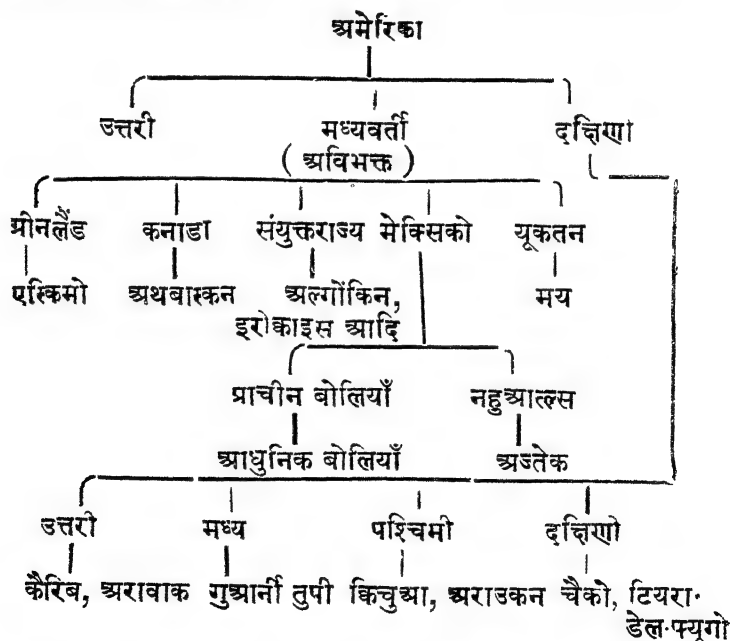
प्रशांत महासागर की भाषाएँ साहित्यिक नहीं हैं। केवल मलय-भाषा में ही कुछ साहित्य मिलता है। ये भाषाएँ प्रत्ययप्रधान हैं। इनके

पाँच विभाग किए गए हैं—मलय, मेलानेसिया, पालीनेसिया, पापुआ और आस्ट्रेलिया की भाषाएँ। मलय-भाषाओं में शब्दों को दुहरा करने की विशेष प्रवृत्ति पाई जाती है और इसके द्वारा सब प्रकार की वाक्यगत विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं ; जैसे 'राजा' का अर्थ है 'शासक' तो 'राजा राजा' का अर्थ होगा 'राजाओं का समूह'। 'हयरे' का अर्थ है 'जाना', पर 'हयरे हयरे' का अर्थ है 'ऊपर नीचे जाना'। 'हुली' का अर्थ है 'खोज' और 'हुली हुली' का अर्थ है 'खोज पर खोज'। 'नुई' का अर्थ है 'बड़ा' और 'नुई नुई' का अर्थ है 'सबसे बड़ा'। ये भाषाएँ अधिकतर प्रत्ययप्रधान हैं। मेलानेसिया आदि की भाषाओं में भी इस प्रकार की विशेषताएँ पाई जाती हैं। केवल आस्ट्रेलिया की भाषाएँ कुछ दूसरे ढंग की हैं। वे परसर्गप्रधान हैं। कुछ विद्वानों का मंतव्य है कि यहाँ की भाषाएँ भारत की द्रविड़-भाषाओं से निकली हैं।

अफ्रीका महाद्वीप की भाषाओं की मुख्य विशेषता यह है कि इनमें मुहावरे बहुत अधिक हैं। यहाँ की भाषाएँ पाँच समूहों में विभाजित की गई हैं– बुश्मान, बांतू, सूडान, हैमिटिक और सामी। बुश्मान-समूह की भाषाएँ प्राचीन हैं और इनमें विचित्र ध्वनियाँ पाई जाती हैं। लिंगभेद स्त्री और पुंस पर नहीं, सजीव और निर्जीव पर निर्भर है। बहुवचन अव्यवस्थित है और मलय-भाषाओं की तरह द्वित्व की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। बांतू-परिवार की भाषाएँ पूर्वसर्गप्रधान हैं। इनमें लिंगभेद है ही नहीं यहाँ तक की स्त्री और पुरुष के लिए अलग अलग सर्वनाम तक नहीं है। सूडान-परिवार की भाषाओं में रूप नहीं चलते, स्वराघात से अर्थभेद कर लिया जाता है। धातु अधिकतर एकाक्षर हैं। लिंग-भेद इनमें भी नहीं है। बहुवचन बनाने के विचित्र नियम हैं। धातु वर्णनात्मक हैं; जैसे—'मैं नगर जाता हूँ' कहने के लिए कहना पड़ेगा कि 'मैं जाता हूँ, नगर पहुँचता हूँ, उसके भीतर प्रवेश करता हूँ।' हैमिटिक भाषाएँ उत्तरी अफ्रीका की सामी (सेमिटिक) भाषाओं से बहुत मिलती हैं। इनमें शब्द या धातु के रूप चलाने की अनेक विधियाँ हैं—कहीं परसर्ग लगाकर, कहीं पूर्वसर्ग लगाकर, कहीं द्वित्व से आदि

आदि। कालबोधक क्रिया के रूप नहीं मिलते। लिंगभेद योनि पर निर्भर है, व्याकरण पर नहीं। बहुवचन के भी अनेक प्रकार हैं। लिंग-परिवर्तन के विचित्र नियम हैं; जैसे बहुवचन में संज्ञाओं का लिंग बदल जाता है। सामी भाषाओं में अरबी भाषा विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसका विस्तार उत्तरी अफ्रीका में तो है ही एशिया के दक्षिण-पश्चिमी कोण में भी बहुत अधिक है। इसमें धार्मिक वाङ्मय बहुत अधिक है। सामी लिपि बहुत से देशों में प्रचलित हुई। बहुत से लोग हैमिटिक और सामी भाषाओं को एक ही मूल से निकली हुई मानते हैं। किंतु हैमिटिक भाषाओं में सामी भाषाओं की तरह त्र्यक्षर-धातु नहीं हैं। फिर भी दोनों में समानता बहुत अधिक है। दोनों में क्रिया का कालभेद पूर्ण और अपूर्ण कार्य पर निर्भर है। बहुवचन के प्रत्यय दोनों में एक ही मूल से आए जान पड़ते हैं। स्त्रीलिंग का प्रत्यय दोनों में 'त्' है। दोनों के लिंगभेद व्याकरणगत हैं। सर्वनामों में एकरूपता है।

यूरेशिया में अनेक प्रकार की भाषाएँ मिलती हैं। यहाँ की भाषाएँ अधिकतर साहित्यिक हैं और संसार में इनका बहुत बड़ा महत्त्व है। इनके विभाग निम्नलिखित हैं—(१) यूराल-अल्ताई-परिवार, (२) एकाक्षर या चीनी-परिवार, (३) द्रविड़-परिवार, (४) काकेशियाई परिवार, (५) सामी परिवार, (६) आर्य-यूरोपीय परिवार और (७) फुटकल। **फुटकल** में दो विभाग किए गए हैं–प्राचीन भाषाएँ और नवीन भाषाएँ। प्राचीन भाषाओं में एट्रस्की, अकेडियाई (सुमेरी) मुख्य हैं। आधुनिक भाषाओं में बास्क, जापानी, कोरियाई और हाइपरबोरी–समूह की गणना है। **यूराल-अल्ताई-परिवार** की भाषाओं में परसर्ग की प्रधानता दिखाई देती है। दूसरी विशेषता है अक्षरसमन्विति की। इसका अच्छा उदाहरण इस परिवार की प्रमुख भाषा तुर्की में दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'एव+लेर' पद ले लीजिए, जिसका अर्थ 'घरों' होता है। यहाँ पहले शब्द 'एव' के आरंभ में 'ए' है, इसलिए दूसरे शब्द 'लेर' में भी 'ए' का प्रयोग हुआ है। किंतु 'अल+लर' पद में, जिसका अर्थ 'घोड़े' है, पहले शब्द 'अल' में 'अ' होने के कारण 'लेर'

मैं 'ए' का प्रयोग न होकर 'अ' का हुआ है। इस परिवार की फिनी (फिनिश), मग्यार और तुर्की भाषाओं में अच्छा साहित्य है।

एकाक्षर-परिवार की भाषा के बोलनेवाले आर्य-यूरोपीय परिवार की भाषाओं के अतिरिक्त सबसे अधिक हैं। इसमें स्वराघात के द्वारा शब्दों के अर्थ बदले जाते हैं। इसमें अर्थात् चीनी भाषा में मूलशब्द ४२००० हैं। इसमें अधिकतर शब्द-युग्मक से काम लिया जाता है; जैसे—'आँख' कहने के लिए 'आँख-भौंह' कहेंगे। इसमें एक शब्द के लिए एक ही लिपिचिह्न भी है। इसमें व्याकरण के विधान का पूर्ण अभाव है, यहाँ तक कि 'व्याकरण' के लिए भी कोई शब्द नहीं है।

द्रविड़-परिवार की भाषाएँ भारतवर्ष के दक्षिणी भाग में फैली हुई हैं। कुछ लोग इन भाषाओं का संबंध आस्ट्रेलिया की भाषाओं से जोड़ते हैं। मोहेंजोदड़ो की खुदाई के कारण इनका संबंध सुमेरी भाषाओं से जोड़ा जाने लगा है। इनमें साहित्य का अभाव नहीं है। इनके चार भेद किए जाते हैं—द्राविड़, आंध्र, मध्यवर्ती और बहिर्वर्ती। ये भाषाएँ प्रत्ययप्रधान और अनेकाक्षर हैं। इनमें सजीव और निर्जीव का भेद किया जाता है। पुंलिंग और स्त्रीलिंग का भेद अन्यपुरुष में किया जाता है और विशेषण में भी उसके चिह्न लगते हैं। संज्ञाओं में नर-मादा लगाकर पुंलिग-स्त्रीलिंग का भेद करते हैं। निर्जीव (नपुंसक) का बहुवचन में क्वचित् प्रयोग होता है। पूर्वसर्ग के स्थान पर परसर्ग लगाए जाते हैं। विशेषण-विशेष्य का सामानाधिकरण्य नहीं है। कृदंत विशेषणों का व्यवहार होता है। उत्तमपुरुष के दो प्रकार के रूप चलते हैं—एक श्रोतासहित और दूसरा श्रोतारहित। इनमें कर्मवाच्य नहीं है। कर्मवाच्य सहायक क्रिया से व्यक्त किया जाता है। इनमें 'निषेधात्मक वाच्य' भी मिलता है, जिसका प्रयोग सामान्यभूत में होता है। समापिका क्रिया के स्थान पर कृदंतों का व्यवहार होता है। संबंधवाचक सर्वनाम से आरंभ होनेवाले उपवाक्यों के स्थान पर कृदंत संज्ञाओं का प्रयोग होता है।

काकेशियाई परिवार की भाषाएँ पहले विभक्तिप्रधान मानी

हित्ती
तुखारी

शतम्-समूह

अल्बानियाई (अल्बानियन या इल्लीरियन)
लेटस्लावी (लेटोस्लाविक)
बाल्टस्लावी (बाल्टोस्लाविक)
अर्मेनियाई (आर्मेनियन)
आर्येरानी (आर्य-ईरानी) या भारतेरानी

आर्य-यूरोपीय भाषाओं का पारस्परिक संबंध बहुत ही संकुल और विविधतामय है। इन भाषाओं का बहुत संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

केल्टी—इस भाषा का प्रसारक्षेत्र इस समय यूरोप का पश्चिमी भाग है। किंतु पहले यह एशियाई कोचक तक फैली हुई थी। इस भाषा के दो भेद किए जाते हैं–क-ध्वनिमूलक और प-ध्वनिमूलक अर्थात् एक में जहाँ क-ध्वनि होती है दूसरी में वहाँ प-ध्वनि मिलती है; जैसे—आयर्-भाषा में 'कॉइक' होता है और वेल्स-भाषा में 'पंप' (सं० पंच)। इटली की भाषाओं से इनका बहुत अधिक मेल मिलता है। जो संबंध भारतीय और ईरानी भाषाओं में है वही इटली और केल्ट की भाषाओं में है।

जर्मनी या ट्यूटानी—इस भाषा का प्रसार बहुत दूर तक है। इस परिवार की एक भाषा (अँगरेजी) विश्वभाषा के पथ तक पहुँच चुकी है। संहिति से व्यवहिति का नियम इसमें बहुत स्पष्ट है। इसमें प्रथम अक्षर पर स्वराघात होता है। व्यंजन-ध्वनि का इन भाषाओं में पारस्परिक परिवर्तन बहुत देख पड़ता है। ध्वनिपरिवर्तन ऐसा स्पष्ट है कि 'अधो-जर्मनी' (लो-जर्मन) और 'उच्च-जर्मनी' (हाई-जर्मन) का स्पष्ट भेद हो गया है।

इटलीय—इसके दो भेद हैं—च-इटलीय और क-इटलीय; जैसे—ओस्कन में 'चंपेरियस' होता है और लातीनी (लैटिन) में

क्विक्व। च-समूह के अंतर्गत इटली की प्राचीन भाषाएँ आती हैं। रोम-साम्राज्य के प्रसार के कारण क-समूह की प्रमुख भाषा लातीनी का विस्तार बहुत दूर तक हो गया और ईसाई मत के प्रचार के कारण यूरोप की अन्य भाषाएँ उससे विशेष प्रभावित हुई। यहाँ तक कि रोम की भाषा राष्ट्रभाषा या सर्वसामान्य भाषा (लिंग्वा-रोमाना) के पद को प्राप्त हो चुकी है। रोम-साम्राज्य के पतन के साथ ही उस पद से इसका स्खलन हुआ, किंतु अन्य भाषाओं के साथ साथ रोम की भाषाओं का फिर से उदय हुआ, जिनका भाषाविज्ञान में विशेष महत्त्व है। इसकी प्रमुख भाषा लातीनी शब्दरूपों में उतनी आढ्य नहीं है जितनी यवनानी (ग्रीक)। साहित्यारूढ़ लातीनी यवनानी के प्रभाव से प्रभावित है। क्योंकि यवन (ग्रीक) रोमियों के गुरु थे। यह संहिति से व्यवहिति की ओर जा रही है और इसमें स्वराघात का व्यवहार अधिक होता है।

यवनानी (ग्रीक या हेलेनिक)—संस्कृत-भाषा से इसका मेल बहुत मिलता है। इसमें भी उदात्त स्वर संस्कृत की ही भाँति पाया जाता है। संस्कृत की भाँति उतने अधिक तो नहीं, पर पर्याप्त संख्या में अव्यय या निपात पाए जाते हैं। सब कारकों के तो नहीं, पर इसमें करण और अधिकरण के रूप संस्कृत की भाँति मिलते हैं। दोनों में परस्मैपद और आत्मनेपद धातु पाए जाते हैं। यवनानी की अपेक्षा संस्कृत में लकार और गण अधिक हैं और संस्कृत की अपेक्षा इसमें कृदंत तथा क्रियार्थक संज्ञाएँ अधिक हैं। द्विवचन दोनों में है। दोनों में सामासिक प्रवृत्ति बहुत अधिक है, पर इसमें समास उस ढर्रे के मिलते हैं जैसे संस्कृत में पिछले काँटे बनने लगे थे। यवनानी भाषा के चार भेद किए जाते हैं—(१) प्राचीन या होमरीय, (२) साहित्यिक (क्लासिकल), (३) संक्रांतिकालीन और (४) आधुनिक।

हित्ती—इस भाषा का पता उस समय चला जब बोगाजकुई में बहुत से शिलालेख मिले। ये शिलालेख ईसवी पूर्व चौदहवीं या पंद्रहवीं शती के हैं। संस्कृत की भाँति एकवचन में 'अन्' और बहुवचन

जाती थीं, पर अब वे प्रत्ययप्रधान भाषाओं में गिनी जाती हैं। ये पूर्वसर्ग और परसर्गप्रधान दिखाई देती हैं। क्रियाओं में कर्म भो छिपा रहता है। कभी कभी तो धातु का पता लगाना ही कठिन होता है। अनेक प्रकार की विशेषताओं के मिश्रण का कारण यह है कि यहाँ यूरोप और एशिया की कई युद्धप्रिय जातियों से भयभीत होकर अनेक जातियों के लोग आ बसे थे। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण यहाँ अनेक प्रकार की बोलियाँ चल पड़ीं और इन बोलियों का विकास स्वच्छंद रूप से हुआ।

सामी परिवार को विशेषताएँ आर्य-यूरोपीय परिवार के साथ तुलनात्मक ढंग से दिखाने में सुभीता है। आर्य-यूरोपीय परिवार की भाषाओं का सामी परिवार की भाषाओं से पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ है। हो सकता है कि इन दोनों परिवारों के मूलपुरुष एक ही रहे हों। इस प्रश्न पर अभी अधिक विचार नहीं किया गया है। हित्ती (हिट्टाइट), पहलवी और उर्दू तीनों भाषाओं पर विचार करने से यही जान पड़ता है। हित्ती में आर्य-यूरोपीय और सामी दोनों परिवारों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। अभी तक यह निश्चय नहीं हुआ कि इसे किस परिवार की भाषा माना जाय। पहलवी पर सामी प्रभाव इतना अधिक है कि पहले लोग इसे सामी भाषा ही मानते थे। उर्दू में सामी शब्दों का प्रयोग बहुत होता है, पर यह वस्तुतः आर्यभाषा है। इन दोनों परिवारों के मुख्य भेदक लक्षण इस प्रकार हैं—

सामी में त्र्यक्षर धातुओं का व्यवहार होता है, आर्य-यूरोपीय में नहीं। पहली में अंतर्वर्ती विभक्ति चलती है, दूसरी में बहिर्वर्ती। पहली में वास्तविक समास नहीं हैं; केवल षष्ठी तत्पुरुष के से विलोम समास मिलते हैं जैसे—बेनजामिन (यमिनः पुत्रः=जामिन का पुत्र), पर दूसरी में वास्तविक समास बहुत पाए जाते हैं। पहली में पूर्वसर्ग का व्यवहार नामधातु बनाने में किया जाता है और उससे वाक्यगत विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं, दूसरी में पूर्वसर्ग (उपसर्ग) का व्यवहार इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न करने के लिए नहीं होता।

आर्य-यूरोपीय परिवार—इस परिवार की भाषाओं की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं –(१) इनके अंत में प्रत्ययों का व्यवहार होता है, (२) ये संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जा रही हैं, (३) इनमें एकाक्षर धातु हैं, जिनमें कृत और तद्धित प्रत्यय लगाते हैं, (४ इनमें वाक्यगत विशेषता उत्पन्न करनेवाले प्रत्ययों का अभाव है, (५) इनमें वास्तविक समास बनाने की शक्ति है, (६) इनमें अक्षरावस्थिति (वावेल ग्रेडेशन) का व्यवहार बहुत है और (७) इनमें रूप बहुत अधिक चलते हैं।

इस परिवार के दो मुख्य भेद किए गए हैं—एक का नाम 'केंतुम्-समूह' और दूसरे का नाम 'शतम्-समूह' है। इसका कारण है 'सौ' के लिए आनेवाले शब्दों में क-ध्वनि और श-ध्वनि का नियमित भेद; जैसे—

लातीनी (लैटिन)	केंतुम्
यवनानी (ग्रीक)	अक्तोम्
प्राचीन आयर् भाषा	केत्
गाथी (गाथिक)	खुंद
तुखारी	कंध
संस्कृत	शतम्
अवेस्ता	सतम्
लिथुआनियाई	स्जिम्तस्
रूसी	स्तो

पहले माना जाता था कि केंतुम् पश्चिमी समूह है और शतम् पूर्वी। किंतु हित्ती और तुखारी भाषाओं का पता चलने से यह सीमा टूट गई है। इस परिवार के अंतर्गत निम्नलिखित भाषाएँ आती हैं—

केंतुम्-समूह

केल्टी (केल्टिक)
जर्मनी (ट्यूटानिक)
इटलीय (इटैलिक)
यवनानी (ग्रीक या हेलेनिक)

मेँ 'अंतस्' की प्रवृत्ति इस भाषा मेँ भी मिलती है; जैसे—द्-अ-अन् (सं० गच्छन्) और द्-अं-ते-एस् (सं० गच्छन्तः)। इसमेँ केवल छः कारक मिलते हैँ। इसमेँ सर्वनाम बहुत मिलते हैँ। कुछ थोड़े से उदाहरण नीचे दिए जाते हैँ—

हित्ती—उग (मैँ) = लातीनी—एगो

तत् (वह) = सं० तत्

कुइस् (कौन) = ला० क्विस् (सं० कः

क्रियाओँ मेँ भी समानता है; जैसे—

हित्ती—एकवचन—इ-इअ-मि (बनाता हूँ) = सं०—यामि (जाता हूँ)

	इ-इअ-सि	यासि
	इ-इअ-ज्ञि	याति
बहुवचन—	इ-इअ-उ-ए-नि	यामः
	इ-इअ-अत्-ते-नि	याथ (याथन)
	इ-इअ-अन्-ज्ञि	यान्ति

इसमेँ निपात या अव्यय मिलते हैँ। यह केंतुम्-समूह की भाषा जान पड़ती है।

तुखारी—इस शती के आरंभ मेँ इसका पता चला। एक जर्मन मध्यएशिया की यात्रा करने गया था। उसे यह नई भाषा जान पड़ी। प्राचीन आर्यलिपि मेँ बहुत से लेख भी मिले हैँ। यह भाषा भी केंतुम्-समूह की है। इसका बहुत अधिक अध्ययन हुआ है और इसके संबंध मेँ बहुत अधिक जानकारी भी हो गई है। इसमेँ स्वर और व्यंजन सरल हैँ। संधियाँ तो हैँ, पर संस्कृत की भाँति व्यवस्थित नहीँ। शब्दोँ के रूप प्रत्ययप्रधान भाषाओँ के ढंग पर चलते हैँ; जैसे बहुवचन बनाना होगा तो प्रकृति-प्रत्यय का योग योँ होगा—शब्द + बहुवचन का प्रत्यय + विभक्ति-प्रत्यय। इसमेँ कारक छः की जगह आठ हो गए हैँ। दो नए कारक हैँ—सहकारक और हेतुकारक। सर्वनाम आर्य-यूरोपीय ढंग के

ही हैँ। क्रियाचक्र विशेष संकुल है। कृदंत विशेष उन्नत दशा मैँ दिखाई देते हैँ।

अल्बानियाई—(अलबानियन या इल्लीरियन) इलीरियाई (इल्लीरियन) भाषा के समाप्त होने पर अलबानियाई भाषा प्रकट हुई। इसमैँ कुछ शिलालेखोँ के अतिरिक्त और कुछ नहीँ है। इस पर स्लावी और तुर्की भाषा का विशेष प्रभाव पड़ा है।

लेटस्लावी—प्राचीन प्रुशियाई, लिथुआनियाई और लेटी (लेटिक) मैँ से प्रुशियाई तो व्यवहार से उठ चुकी है, पर लिथुआनियाई का विशेष महत्त्व है। क्योँ कि जीवित भाषाओँ मैँ से भाषाविज्ञानियोँ के विचार से इसमैँ सर्वाधिक प्राचीन रूप मिलते हैँ। इसमैँ संस्कृत की भाँति उदात्त स्वर मिलता है। संस्कृत से यह बहुत मिलती-जुलती है। उदाहरण लीजिए—

लिथु०—एस्ति = सं०—अस्ति

जीवस् = जीवः

आर्मेनियाई—इसमैँ २००० शुद्ध पारसी शब्द मिलते हैँ। यह 'शतम्-समूह' की भाषा है। इस पर सामी भाषाओँ का भी विशेष प्रभाव पड़ा है।

आर्येरानी स्कंध—हित्ती भाषा का विशेष अध्ययन होने पर बहुत संभव है कि इनके मूलभाषा से पृथक् होने का कुछ पता चले। क्योँ कि बोगाजकुई मैँ मिले हुए शिलालेखोँ मैँ वरुण, इंद्र, नासत्या आदि प्राचीन वैदिक देवताओँ के नाम मिलते हैँ। इन भाषाओँ की विशेषता यह है कि काल्पनिक मूलभाषा के भाषाविज्ञानियोँ द्वारा स्वीकृत अ, ए, ओ (ह्रस्व या दीर्घ) इन भाषाओँ मैँ अ (ह्रस्व या दीर्घ) हो जाते हैँ—

मूलभाषा	लातीनी	यवनानी	संस्कृत	अवेस्ता
१	२	३	४	५
अपो	×	अपो	अप (आपः)	अप
एक्वॉस	एकुअस	×	अश्वः	अस्पो
ओस्थ	ओस	ओस्तेओउ	अस्थि	अस्ति

अर्धमात्रिक 'ॲ' 'इ' हो जाता है—

१	२	३	४	५
पॅते	पेतर	×	पिता	पिता

र् और ल् (ऋ और लृ) में 'रलयोरभेदः' के अनुसार भिन्नता नहीं रही—

१	२	३	४	५
व्लृके	लुपुस	लुक	वृकः	वह्रको
लेइध्मि	लिंगो	लइखो	रेह्मि (वेद)	×

मूलभाषा का 'स्' 'श्' हो जाता है यदि इ, उ, य्, व्, स् या क् के बाद आए। संस्कृत में ष् हो जाता है—

१	२	३	४	५
स्थिस्थामि	सिस्तो	इस्तेमि	तिष्ठामि	हिश्तैति
जेडस्तर	जुस्तुख्	×	जोष्टृ	जओशो

स्वरांत शब्द के षष्ठी के बहुवचन के रूप 'नाम्' से अंत होते हैं। आज्ञा या विधि (लोट्) के अन्यपुरुष एकवचन में 'तु' लगता है।

इस स्कंध के दो प्रमुख भेद हैं - **ईरानी शाखा और भारतीय शाखा**। ३२३ ईसवी पूर्व में अलिकसुंदर (सिकंदर) के पारस्यपुर (परसीपोलिस) जला देने से ईरानी भाषा का बहुत सा साहित्य नष्ट हो गया। जो बच रहा वह भी अरबों की चढ़ाई से सातवीं शती में नष्ट हो गया। चमड़े की जिल्दों से बँधी हुई असंख्य पोथियों से संपन्न पुस्तकालय के जला देने से, कहा जाता है कि, महीनों तक चिरायँध उठती रही। केवल जेंदावेस्ता की पोथी बच गई, जिसे कोई पुरोहित नाव से ले भागा था। इसका पुराना नाम जेंद है। कुछ शिलालेख भी मिले हैं। दारयवहु (डेरियस ५२२-४८६ ई० पू०) के लेख विशेष महत्त्व के हैं। ईरानी और भारतीय शाखा में इतनी अधिक समानता है कि ध्वनिपरिवर्तन से ही एक को दूसरी में परिवर्तित कर सकते हैं। केवल शब्द के रूप की ही नहीं, बहुत-कुछ अर्थ की भी रक्षा हो सकती है। देखिए—

संस्कृत	प्राचीन गाथा	अवेस्ता
अथ	अथा	अथ
पुत्रा (वैदिक द्विवचन)	पुथ्रा	पुथ्र

इसमें विशिष्ट 'ए' और 'ओ' ध्वनियाँ मिलती हैं। इस प्रकार की ध्वनियाँ प्राचीन पारसी में नहीं रह गई हैं—

संस्कृत	अवेस्ता	प्राचीन पारसी
सन्ति	हंति	हंतिय

संस्कृत के 'आस्' और 'आन्त्' के स्थान पर 'आ' और 'ओ' से मिश्रित स्वर आता है—

देवासः = दएवाओंघो

महान्तम् = मज़ाओंतम्

इसमें संयुक्त स्वर बहुत आते हैं। संस्कृत के 'ए' के स्थान पर 'अए', 'ओ', के स्थान पर 'अओ', 'ऐ' के स्थान पर 'आइ' और 'औ' के स्थान पर 'आउ' आते हैं।

इसमें आदि और मध्य में स्वर के आगम की प्रवृत्ति विशेष है: जैसे—'ऋणक्ति' का 'इरिनक्ति', 'अश्वेभ्यः' का 'अस्पएइब्यो', 'भरति' का 'बरइति' आदि। 'ऋ' की स्थिति इसमें विशिष्ट होती है। वह अ र या अर की सी होती है। प्राचीन पारसी में पहुँचकर स्वरचक्र सरल हो गया है क्योंकि लोगों ने सामी लिपि ग्रहण की, जिसमें स्वरों के इतने चिह्न ही नहीं थे।

(१) संस्कृत के क्, त्, प् यहाँ क्रमशः ख ,थ् , फ हो जाते हैं; जैसे—क्रतुः का ख्रतुश, सत्यः का हैथ्यो, स्वप्नम् का स्वफ्नम् आदि। (२) इसी प्रकार संस्कृत के घ् , ध् , भ् का क्रमशः ग् , द्, ब् हो जाते हैं; जैसे—जंघा का ज़ंग, धारयत् का दारयत्, भूमि का बूमि आदि। (३) आरंभ के स् का ह् हो जाता है; जैसे—सिंधु का हिंदु, सर्व का हौर्व आदि। (४) अस् और आस् के योग में विचित्र ध्वनि 'ंग्' मिलती है; जैसे—असु का अंग्हु (अंघु), मासम् का माओंगहम् (माओंघम्) (५) अंत के 'अः' और 'आः' (वही 'अस्' और 'आस्') क्रमशः 'ओ' और 'आओ' हो

जाते हैं; जैसे—असुरः का अहुरो, गाथाः का गाथाओ। (६) ज़् की विशिष्ट ध्वनि ज़ ज़् अवेस्ता में मिलती है, जो संस्कृत में नहीं है। प्राचीन पारसी में वही ज़ द हो जाता है; जैसे—

संस्कृत	अवेस्ता	प्राचीन पारसी
हस्तः	ज़स्तो	दस्त
अहम्	अज़ेम्	अदं
अहिः	अज़िश्	×

अवेस्ता में मूर्धन्य वर्ण नहीं हैं। तालव्य में केवल च् और ज् हैं। अनुनासिक वर्ण हैं तो पाँच ही, पर केवल ङ्, न्, म् संस्कृत से मिलते हैं। ल् नहीं है। यह वर्ण प्राचीन वेद में भी नहीं था। इसमें वैदिक स्वर नहीं मिलता। बल-स्वराघात मिलता है।

भारत की भाषाएँ

भारत में अनेक प्रकार की भाषाएँ पाई जाती हैं। इनके प्रमुख भेद नीचे दिए जाते हैं—

(१) आग्नेय (आस्ट्रिक) परिवार
- (क) आग्नेयद्वीपी (आस्ट्रोनेसियन)
- (ख) आग्नेयदेशी (आस्ट्रोएशियाटिक)
  - मॉनख्मेर
  - मुंडा या कोल

(२) एकाक्षर या चीनी-परिवार
- (क) श्याम-चीनी
- (ख) तिब्बत-ब्रह्मदेशी
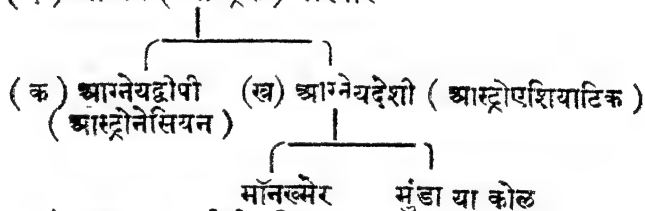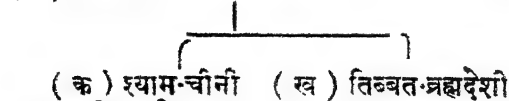
(३) द्रविड़-परिवार

(४) भारतेरानी-परिवार
- (क) ईरानी शाखा
- (ख) दरदी शाखा
- (ग) भारतीय शाखा
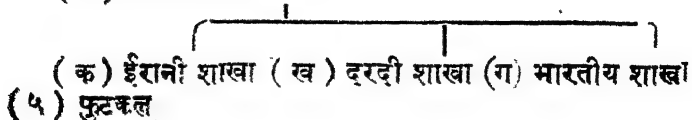
(५) फुटकल

आर्येतर भाषाएँ कई हैं किंतु उनमें से विशिष्ट भाषाएँ द्रविड़-परिवार की ही हैं। इनमें से कई में साहित्य का श्रीगणेश भी हो चुका है। **आग्नेय परिवार** का विस्तार भारत के दक्षिण-पूर्व में है। ऐतिहासकों का मत है कि किसी समय मॉनख्मेर भारत और चीन के शासक थे। इसी लिए उनकी भाषा दोनों देशों में फैली हुई है। संभवतः इन भाषाओं का साहित्य भी रहा हो, पर अब नहीं मिलता। इन भाषाओं से मिलती हुई 'खासी भाषा' ही भारत में बोली जाती है। इसका शब्दकोश और वाक्यविन्यास 'मॉन, भाषा की तरह है। **मुंडा या कोल** भाषा तुर्की की भाँति प्रत्ययप्रधान है। इसमें सजीव और निर्जीव के अनुसार पुंलिंग और स्त्रीलिंग का भेद होता है। इसमें द्विवचन भी पाया जाता है। उत्तमपुरुष के दो रूप होते हैं—श्रोतासहित और श्रोता-रहित। वाक्यरचना ऐसी है कि शब्दभेद दुरूह है। 'मुंड' शब्द का व्यवहार पुराणों में हुआ है। वायुपुराण में यह नाम आया है और महाभारत में जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'शबर' शब्द इससे भी प्राचीन है, जो 'ऐतरेय ब्राह्मण' में पाया जाता है। इस भाषा को इसी जाति के नाम पर मुंडा, कोल या शबर कहते हैं। इस भाषा का प्रभाव भारत की कई बोलियों पर अत्यधिक पड़ा है। बिहारी भाषा में क्रियाओं की जटिल कालरचना मुंडा का प्रभाव है। उत्तमपुरुष का द्विरूप, जैसा गुजराती में होता है और मध्यप्रदेश की बोलचाल में चलता है। (हम गए थे, अपन गए थे) मुंडा का प्रभाव है। बीस के लिए कुड़ी या कोड़ी शब्द मुंडा का ही है।

श्याम-चीनी—'आहोम' नाम की जाति १२२८ में भारत के पूर्वी प्रदेश में आई। इसी के नाम पर उसका नाम आशान या आशाम पड़ा, क्योंकि आहोम का पुराना रूप 'आशाम' ही है। आसामी शब्द बुरानजी (पुराणजी?) इतिहास के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह आहोमी शब्द माना जाता है। आहोमों के बाद खाम्ती आए, जिनकी भाषा अब चल रही है।

तिब्बत-ब्रह्मी—यह चीनी-परिवार की एक शाखा मात्र है। तिब्बती या भोटिया में अच्छा साहित्य है। दर्शन, बौद्धधर्म तथा अन्य विषयों के संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद इसमें मिलता है। इसका मूलस्थान यांगटीसीक्यांग की वेदिका है। ब्रह्मपुत्रा की गति के अनुसार इसकी तीन शाखाएं हो गई हैं—एक तिब्बत को, दूसरी आसाम को और तीसरी ब्रह्मा को गई है।

तिब्बत-हिमालयी—इसमें सजीव-निर्जीव में भेद पाया जाता है। संख्या की गणना बीस से चलती है। पुरुषवाचक शब्दों में द्विवचन एवं बहुवचन पाए जाते हैं। उत्तमपुरुष में श्रोतासहित और श्रोता-रहित रूप मिलते हैं। क्रिया में ही कर्ता और कर्म का अंतर्भाव हो जाता है।[1] इसी अंतर्भाव के कारण इसके दो रूप माने गए हैं—सर्वनामाख्याती और असर्वनामाख्याती (हाजसन)। इनमें से पहला मध्य हिमालय में चलता है और दूसरा नेपाल, सिकिम और भूटान में। इनमें रोंग (लेप्चा) तथा सुन्वार मुख्य हैं। रोंग सिकिम की भाषा है। दार्जिलिंग में भोटिया भाषा सुनाई पड़ती है। सुन्वार सर्वनामाख्याती मानी जाती है।

आसाम ब्रह्मी—इसके अंतर्गत बोडो और नागा मुख्य हैं। नागा में बराबर परिवर्तन होता रहा है, क्योंकि व्यवस्थासंपन्न आर्यभाषाएँ वहाँ तक नहीं पहुँच सकीं। इसमें साहित्य का अभाव ही है।

द्रविड-भाषाएँ—इन भाषाओं की विशेषताएँ पहले बतलाई जा चुकी हैं। यहाँ पर इनके भेदों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। कुमारिल भट्ट ने इनके दो ही भेद माने हैं—द्राविड़ और आंध्र। पर आधुनिक भाषाविज्ञानी इनके चार भेद करते हैं—द्राविड़, आंध्र, मध्यवर्ती और बहिर्वर्ती। अतः भेद प्रभेदों का प्रस्तार इस प्रकार होगा—

---

१. मुंड जाति पहले हिमालय में रहती थी, ऐसा जान पड़ता है।
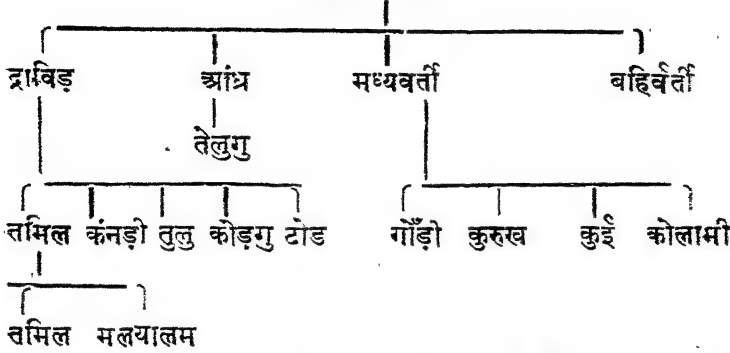
द्राविड़-समूह—इस समूह की भाषाओं में तमिल बहुत ही परिष्कृत और संपन्न है। इसमें प्राचीन काल से साहित्य पाया जाता है। संप्रति इसका साहित्य दिन दिन उन्नत होता जाता है। प्राचीन तमिल की अपनी वर्णमाला भी थी। यद्यपि तमिल की विभाषाओं में बहुत एकरूपता है तथापि इसके दो रूप पृथक् पृथक् स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। एक काव्य-भाषा है जिसे 'शेन' (पूर्ण) कहते हैं और दूसरी लोकभाषा या बोली है जिसे 'कोडुन' (ग्राम्य) कहते हैं। मलयालम 'तमिल की बड़ी बेटी' कहलाती है। तमिल पर संस्कृत का प्रभाव कम पड़ा है, पर मलयालम उससे पूर्ण प्रभावित है। केवल मोपलाँ (मुसलमानों) की बोली संस्कृत से प्रभावित नहीं हुई है, अतः वह अपने पुराने रूपों की रक्षा बहुत कुछ कर सकी है। मलयालम में अच्छा साहित्य है। ट्रावंकोर और कोचीन राज्यों द्वारा इसके उत्थान में पूरी सहायता मिल रही है। कंनड़ी मैसूर की भाषा है। इसमें भी अच्छा वाङ्मय है। यह ऐसी लिपि में लिखी जाती है जो तेलुगु-लिपि से संबद्ध है, पर भाषा का संबंध तमिल से ही है। शेष भाषाओं में से तुलु का व्यवहार-क्षेत्र परिमित है, पर यह भाषा पूर्ण परिष्कृत है। आश्चर्य है कि इसमें साहित्य का अभाव है। कोड़गु कंनडी और तुलु के बीच की भाषा है। टोड नीलगिरि के मूलनिवासियों की बोली है।

आंध्र शाखा—इसमें एक ही भाषा तेलुगु या तेलगू है, जिसकी कई स्थानीय और जातीय बोलियाँ हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या द्रविड़-भाषाओं में सबसे अधिक है। वाङ्मय के विचार से तमिल के अनंतर इसी का स्थान है, पर संप्रति नवीन प्रवृत्तियों के विचार से यह उससे भी आगे निकल गई है। यह तमिल से अपेक्षाकृत बहुत मधुर भी है। इसकी बोलियाँ मध्यप्रदेश और बंबई प्रांतों में फैली हैं। इसका साहित्य संस्कृत से विशेष प्रभावित है।

मध्यवर्ती शाखा—इस शाखा में उन वन्य जातियों की अनेक बोलियाँ हैं जो मध्यभारत में बरार से बिहार और उड़ीसा तक छाई हुई हैं। इनमें सबसे मुख्य 'गोंड़ी, है। बहुत से गोंड़ों ने पास-पड़ोस की आर्यबोलियाँ अपना ली हैं, फिर भी गोंड़ी का कई बोलियाँ पाई जाती हैं जिनमें केवल उच्चारण का ही भेद है। कुरुख या ओराओं मूलतः कर्नाटक से आई हुई भाषा मानी जाती है। इसका द्राविड़-परिवार की भाषाओं से घनिष्ठ संबंध है। इसका व्यवहार-क्षेत्र वही है जो मुंडा का, इसीसे दोनों में आदान-प्रदान पर्याप्त हुआ है। कुई या कंधो, जिसे गोंड़ 'कोइ' कहते हैं, तेलगू से संबद्ध है। इस भाषा को बोलनेवाली उड़ीसा की वन्य जातियाँ हैं जिनमें कभी नरबलि का भी चलन था। कालामी पश्चिमी बरार की भाषा है। यह मध्यभारत की भीली बोलियों से प्रभावित है। कोलामी और टोड बोलियाँ दिन दिन उठती जा रही हैं और भीली जमती जा रही है।

बहिर्वर्ती शाखा—भारत की पश्चिमी सीमा पर ब्राहुई भाषा बोली जाती है, जो द्रविड़-परिवार की बहिर्वर्ती शाखा में माना जाती है। ईरानी-भाषा-भाषियों से घिरे रहने के कारण इसके बोलनेवाले ईरानी बोलियाँ भी बोलते हैं। आश्चर्य तो यही है कि यह भाषा ऐसा होते हुए भी अब तक जी रही है।

यहाँ तक भारत की आर्येतर भाषाओं का विवरण संक्षेप में दिया गया। अब भारत की आर्यभाषाओं का कुछ विवरण दिया जाता है।

इनको तीन शाखाएँ की गई हैं– ईरानी, दरदी और भारतीय। **ईरानी भाषा** की विशेषताएँ पहले बताई जा चुकी हैं। यहाँ उसके भेद-प्रभेदों का उल्लेख किया जाता है—
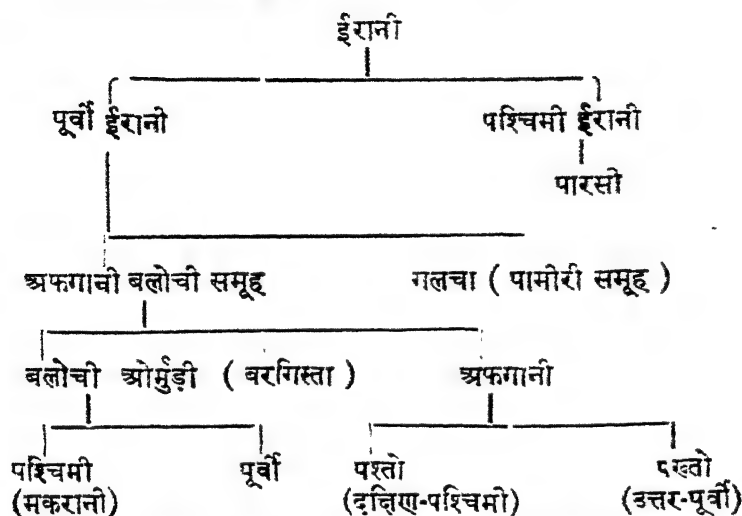
पश्चिमी ईरानी के अंतर्गत 'पारसी' आती है। पारसी कुछ शिलालेखों में मिलती है। शिलालेखों में सबसे पुराने पारस्यदेशीय हखामनी वंश के कुरु (कुरुश या साइरस, ५५८–५३० ई० पू०) के मिलते हैं। दूसरे शिलालेख दारयवहु प्रथम (दारा या डेरियस, ५२२–४८६ ई० पू०) के हैं जो बिहिस्तून (बैसितून) की शिलाओं पर उत्कीर्ण हैं। ये बड़े भी हैं और सुरक्षित भी। इन शिलालेखों की ही भाषा 'पुरानी पारसी' कही जाती है। 'पारसी' का द्वितीय उत्थान सासानी वंश के समय (ई० द्वितीय शती) में आगे चलकर हुआ, इसका 'पहलवी'[1] नाम

---

१ 'पह्लव' शब्द संस्कृत-ग्रंथों में पश्चिम की उन आदिम क्षत्रिय-जातियों की नामावली में आया है जो संस्कारभ्रष्ट होकर शूद्रत्व को प्राप्त

उसी समय से प्रख्यात हुआ। इस मध्यकालीन पहलवी में जेंद अवेस्ता का भाष्य मिलता है। पारसी (फारसी) का तृतीय उत्थान फिरदौसी कवि के काव्यकाल (ई० दसवीं शती) में समझना चाहिए। उमर खैयाम की रुबाइयाँ इसी फारसी में उसके अनंतर (ई० ग्यारहवीं शती) बनीं।

जेंदावेस्ता में 'गाथ' और 'मंथ्र' वैसे ही मिलते हैं जैसे वेद में 'गाथा' और 'मंत्र'। 'गाथ' की भाषा सबसे पुरानी है, उसमें वैदिक रूप मिलते हैं। 'गाथ' अपोच्चरित वैदिक भाषा ही प्रतीत होती है, जिसे वैयाकरणों के शब्द में 'अपभ्रंश' या 'प्राकृत' कहना चाहिए। बहुत से मंत्र वैदिक मंत्रों से मिलते जुलते हैं। इसे कुछ लोग मद (मीडिया, मंद्र या उत्तर मद्र) की भाषा मानते हैं। इसका प्राचीन रूप अवेस्ता में मिलता है। यही पूर्वी ईरानी है।

पश्चिमी ईरानी का फारसी का प्रभाव भारतीय भाषाओं पर बहुत पड़ा है। उर्दू इससे पूर्ण प्रभावित है। अन्य देशी भाषाओं में भी फारसी के शब्द मुसलमानी राज्यकाल में मिल गए हैं। पर बोलचाल में भारत के पश्चिम में पूर्वी ईरानी भाषाएँ ही हैं। पूर्वी ईरानी की आधुनिक बोलियों में बलोची पश्चिमी सिंध और बलोचिस्तान में बोली जाती है। इसमें अनेक पुराने रूप अब तक सुरक्षित हैं। इसकी पूर्वी बोली सिंधी और लहँदा से प्रभावित हो गई है। इसमें फारसी और अरबी के शब्दों का बराबर प्रयोग होता है। अरबी के बहुत से शब्द

गई थीं। मनुस्मृति (१०।४३,४४) बताती है—

> शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
> वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
> पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
> पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥

प्राचीन काल में पारसी सरदारों को 'पहलवान' कहते थे, अतः 'पह्लव' शब्द 'पारस' के ही लिए आया जान पड़ता है। इस प्रकार 'पह्लवी' या पहलवी का अर्थ पारस की भाषा या 'पारसी' ही है।

मुखसुख के कारण बहुत विकृत हो गए हैं। इसमें ग्राम्य गीतों और कहानियों के अतिरिक्त और कोई विशेष महत्त्वपूर्ण वाङ्मय नहीं है। आर्मुड़ी या वरगिस्ता अफगानिस्तान के मध्य में बोली जाती है। इस पर पास-पड़ोस की भाषाओं का पूरा प्रभाव पड़ा है। अफगानी बोलियाँ कई हैं पर इनके दो स्पष्ट भेद लक्षित होते हैं—पश्तो (दक्षिण-पश्चिमी) और पख्तो[1] (उत्तर-पूर्वी)। इन नामों से ही स्पष्ट हो जाता है कि भेद वस्तुतः उच्चारणगत है। अफगानी भाषाएँ व्यवहार में 'पश्तो' नाम से ही विख्यात हैं। इस भाषा की ध्वनि कर्कश है। इसकी उपमा एक भाषाविज्ञानी ने गधे के रेंकने से दी है। गांधार-लिपि के लिए व्यवहृत 'खरोष्ठी' नाम का यही कारण तो नहीं है? भारतीय भाषाओं के संपर्क के कारण इसके व्याकरण पर भारत की छाप भी है। गलचा (पामीरी) बोलियाँ उस स्थान की हैं जिसे प्राचीन काल में 'कंबोज' कहते थे।[2] इनमें 'जाने' के अर्थ में 'शू'[3] धातु का व्यवहार होता है—शोम=(मैं) जाता हूँ, शूएन=(हम) जाते हैं, शूए=(तू) जाता है, शूव=(तुम) जाते हो, शूअइ=(वह जाता है, शूएन= वे जाते हैं। शुद=(मैं) गया, शुद्-एन=(हम) गए, शुद्-ई=(तू) गया, शुद्-अव्=(तुम) गए, शुद=(वह) गया, शुद-एन=(वे) गए। शू-आक्=जाना। वर्तमान और भविष्यत् काल के रूप एक से होते हैं। अतः 'शोम' का अर्थ '(मैं) जाऊँगा' भी हो सकता है, इसी प्रकार 'शूएन=जाएँगे' आदि।[4] ये भाषाएँ ईरानी और दरदी भाषाओं को जोड़नेवाली कड़ियाँ हैं। इनमें साहित्य का अभाव है।

---

१. पश्तो या पख्तो के बोलनेवाले 'पख्तू' या 'पख्तान कहे जाते हैं। प्राचीन काल के 'पक्त' या 'पक्थ' ये ही हैं, आजकल ये 'पठान' कहे जाते हैं।

२ भारतभूमि और उसके निवासी—श्रीजयचंद्र विद्यालंकार।

३ शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते—निरुक्त।

शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति—महाभाष्य।

४ देखिए 'लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया'।

ईरानी भाषाओं के अनंतर दरदी भाषाओं का क्रम आता है। पामीर और उत्तर-पश्चिमी पंजाब के बीच दरदिस्तान की दरदी बोलियाँ हैं। इन्हें कुछ भाषाविज्ञानियों ने 'पैशाची' कहा है, पर पैशाची भाषाओं का मूलप्रदेश मालवा जान पड़ता है। पैशाची का दूसरा नाम 'भूतभाषा' है। राजशेखर ने इसके बोलनेवालों के प्रांत अवंती, पारियात्र और दशपुर माने हैं।[1] दरदी भाषाओं की शाखा-प्रशाखाएँ इस प्रकार हैं—
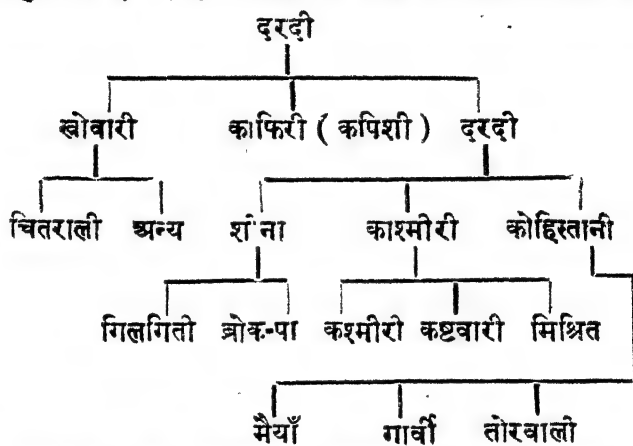
खोवारी-समूह की भाषाएँ गलचा से प्रभावित हैं और दरदी तथा ईरानी भाषाओं को मिलानेवाली श्रृंखला हैं। कपिशी या काफिरी भाषाएँ चितराल के पश्चिम में बोली जाती हैं। शिना या शीना मूल दरद-प्रदेश (गिलगित और सिंध की घाटी) की ठेठ भाषा है। केवल काश्मीरी में ही साहित्य है। श्रीमती लालदेद का शैवकाव्य इसका प्रमुख ग्रंथ है। पश्तो के प्रभाव के कारण कोहिस्तानी दबती जा रही है।

फुटकल—इन भाषाओं के अंतर्गत कुछ तो वे भाषाएँ हैं जो यायावर (खानाबदोश या जिप्सी) जातियों की बोलियाँ हैं और जो वस्तुतः भारत से लेकर यूरोप के पश्चिमी भाग तक फैली हैं। इन

---

१ आवन्त्याः पारियात्राः सहदशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते—काव्यमीमांसा।

बोलियों में अनेक भाषाओं के शब्द मिल गए हैं। इनमें कुछ वे बोलियाँ भी हैं जो बात को गोप्य बनाने के लिए प्रचलित बोली के अक्षरों (सिलेबुल्स) में स, म या सं, मं, फं जोड़कर बना ली जाती हैं, जिन्हें कहीं कहीं 'सस्सानी बोली' कहते हैं। कहीं प्रत्येक पद को विलोम रीति से पढ़कर गोप्य बोली बना लेते हैं।[१] इसके अतिरिक्त कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जो अविभक्त हैं; जैसे दरद-प्रांत की बुरुशास्की (खजुना) या अंदमान की अंदमानी।

भारतीय शाखा की भाषाएँ

भारतीय शाखा की भाषाओं पर विचार करने के पूर्व प्राचीन और अर्वाचीन मतों का भेद बतला देने की आवश्यकता प्रतीत होती है। भारत के वैयाकरण मानते हैं कि मूलभाषा संस्कृत ही है जिससे समस्त आर्यभाषाओं का क्रमशः विकास हुआ। संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश, अपभ्रंश से देशभाषा क्रमशः उद्भूत हुई। नए भाषाविज्ञानियों का कहना है कि वैदिक संस्कृत स्वयं किसी मूल आर्यभाषा से उद्भूत हुई है। एक ओर वैदिक वाङ्मय में परिष्कृत या संस्कृत भाषा चल रही थी और दूसरी ओर बोलचाल में अपरिष्कृत या प्राकृत भाषा अथवा बोली। दोनों एक ही मूल से निकली थीं। शिष्टों की बोलचाल की संस्कृत और जनता की बोलचाल की प्राकृत दोनों बहनें हैं। उस प्राकृत का नाम इन्होंने 'आदिम प्राकृत' रखा है। इसी से आगे की प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ है। कुछ लोग मानते हैं कि आदिम प्राकृत से ही लौकिक या साहित्यिक (क्लासिकल) संस्कृत का भी विकास हुआ। पर वैदिक संस्कृत से ही सीधे क्रमशः ब्राह्मण, उपनिषद्, काव्य, गाथा

---

१ श्री ईरच जहाँगीर सोराबजी तारापूरवाला ने अपने ग्रंथ (एलिमेंट्स् आव् दि सायंस आव् लैंग्वेज) में इन सबके कुछ उदाहरण भी दिए हैं। पंडों, यात्रा-वालों तथा दलालों एवं चोर-डाकुओं में ऐसी कई बोलियाँ स्थानभेद से चला करती हैं।

और लौकिक संस्कृत का विकास नए भाषाविज्ञानियों के अंतर्गत भी कुछ लोग मानते हैं। प्रातिशाख्यों में भारतीय भाषाओं के जो विभाग किए गए हैं उन्हें वे आदिम प्राकृत के प्रादेशिक रूप मानते हैं—औदीच्या (उत्तरी), प्रतीच्या (पश्चिमी), दाक्षिणात्या (दक्षिणी), मध्यदेशीया (बिचली) और प्राच्या पूर्वी)। स्वर्गीय डाक्टर भंडारकर ने प्राकृतों का विकास संस्कृत से ही माना है। उन्होंने वैदिक और लौकिक संस्कृत को एक में रखकर प्राकृतों का मूल संस्कृत को ही कहा है। इसे लोग पुराना मत कहकर त्याग देते हैं और नव्य मत के अनुसार आदिम प्राकृत को ही विकास का स्रोत मानते हैं।

ऐसी ही बात आर्यावास के संबंध में भी है। आर्यों का मूल स्थान यहाँ के लोग भारत को ही मानते आ रहे हैं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण आदि में कहीं भी आर्यों के बाहर से आकर भारत में बसने का उल्लेख नहीं है। पर पश्चिमी विद्वान् आर्यों का मूलावास मध्यएशिया ही मानते हैं। वहीं से इनकी शाखा-प्रशाखाएँ फैलीं। जो शाखा फूटकर यूरोप की ओर गई उसकी भाषा आर्य-यूरोपीय परिवार की है और जो ईरान की ओर धँसी उसकी भाषा आर्येरानी या भारतेरानी परिवार की है। भारत में भी आर्यों का आगमन कई बार करके माना जाता है। पहले जो आर्य आए वे अंतर्वेदी (गंगा-यमुना के द्वाबा) तक चले गए। पीछे आनेवाले आर्यों के कारण उन केंद्रस्थानी आर्यों को चारों ओर फैल जाना पड़ा। अतः केंद्रस्थान के चारों ओर छाए आर्यों की भाषाएँ, जो पहले आने के कारण कुछ भिन्न प्रकार की थीं, बहिर्वर्ती कही गई हैं। केवल इनमें गुजराती भाषा बाधक होती है जो वस्तुतः अंतर्वर्ती है, पर जिसे इस नियम के अनुसार होना चाहिए था बहिर्वर्ती। इसका उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि शूरसेन या मथुरा के लोगों के आक्रमण और जा बसने के कारण वहाँ की अंतर्वर्ती भाषा के प्रभाव से गुजरात की भाषा भी अंतर्वर्ती हो गई। कुछ भारतीय ऐतिहासिक आर्यों का मूलावास भारत को ही मानते हैं जिसका

तत्कालीन नाम सप्तसिंधु देश था।[1] उधर पश्चिमी ऐतिहासिकों का प्रयास आर्यों का मूलावास हरिवर्ष (यूरोप) के निकट ले जाना है। लिथुआनिया तक का नाम लिया जा चुका है। इस ऐतिहासिक झगड़े के भीतर पैठने का विचार मेरा नहीं, पर इतना तो अवश्य कहना पड़ता है कि इसके अनुसार ग्रियर्सन साहब ने जो अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती का विभाग किया है उसमें तत्त्व भी अधिक नहीं है। अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती का भेदक लक्षण इस प्रकार माना गया है—

(१) पहली में दंत्य 'स' का उच्चारण ठीक होता है पर दूसरी में वह तालव्य 'श' या मूर्धन्य 'ष' की भाँति होता है। (२) दंत्य 'स' को 'ह' में बदल देने की प्रवृत्ति दूसरी में पाई जाती है। (३) पहली वियोगावस्था में है और दूसरी संयोगावस्था में। (४) पहली में सामान्य भूत के रूप सभी पुरुषों में एक से रहते हैं और दूसरी में पुरुष और वचन अंतर्भुक्त होते हैं। इन भेदों में पहला उच्चारण-संबंधी है, जिसका कारण देशभेद है। तीसरा भेद भाषा के विकास से संबंध रखता है। अंतर्वर्ती भाषाओं में बहुत काल से साहित्य-परंपरा के चलते रहने से उसके रूपों का परिवर्तन यदि न हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतः दो ही मुख्य भेद हैं जो इनकी भिन्नता के आधार बन सकते हैं। पर 'स' से 'ह' होने की प्रवृत्ति अंतर्वर्ती भाषाओं में भी ज्यों की त्यों है—शब्दरूपों में भी और क्रियारूपों में भी। संख्यावाचक शब्दों में 'श' = 'स' का 'ह' होता है—एकादश=ग्यारह, द्वादश=बारह, त्रयोदश=तेरह आदि, इसी प्रकार ऊनसप्तति = उनहत्तर, एकसप्तति = इकहत्तर, द्विसप्तति = बहत्तर आदि। ब्रज में सर्वनामों में भी 'स' का 'ह' होकर लोप हो गया है—कस्य = कस्स = कास = काह = का। इसमें विभक्ति-चिह्न लगाकर काको, काहि आदि रूप बने। पर भविष्यत् के रूपों में अब भी 'ह' बना है—चलिष्यति = चलिस्सदि या चलिस्सइ = चलिहइ = चलिहै। इसी ढर्रे पर करिहै, होयहै, खायहै आदि, करिहौ, होयहौ, खायहौ आदि तथा

१ देखिए अविनाशचंद्रदास कृत ऋग्वेदिक इंडिया।

करिहौं, होयहौं, खायहौं आदि सभी पुरुषों के रूप बने हैं। दूसरी ओर बहिर्वर्ती भाषाओं में 'स' का 'ह' क्रियाओं में कहीं कहीं नहीं भी होता, जैसे राजस्थानी (जयपुरी) में भविष्यत् के रूप जायसी, खायसी पीसी, करसी आदि होते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी पंजाबी में भी करेसी आदि रूप भविष्यत् में चलते हैं। अतः यह भेद व्यर्थ है।

सामान्य भूत के रूपों का विचार करने से जान पड़ता है कि जिस विशेषता को आधार मानकर अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती का भेद किया जाता है वह कर्तरि और कर्मणि-प्रयोग से संबंधित है और उसका पश्चिमी तथा पूर्वी भेद है, न कि अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती; जैसे—

पश्चिमी भाषाएँ

(कर्मणि-प्रयोग)

अंतर्वर्ती {
पश्चिमी हिंदी—मैं ने पोथी पढ़ी।
गुजराती—मैं पोथी बाँची।

बहिर्वर्ती {
मराठी—मीं पोथी वाँचिली।
सिंधी—(मूँ) पोथी पढ़ी-मे।
लहँदा—(मैं) पोथी पढ़ी-म्।

पूर्वी भाषाएँ

(कर्तरि-प्रयोग)

मध्यवर्ती { पूर्वी हिंदी—मैं पोथी पढ़ेउँ।

बहिर्वर्ती {
भोजपुरिया—हम पोथी पढ़लीं।
मैथिली—हम पोथी पढ़लहुँ।
बँगला—आमि पुथी पोड़िलाम्।
उड़िया—आंभे पोथि पोढ़िलुँ।[1]

---

१ 'हिंदी-शब्दसागर' की भूमिका से उद्धृत।

यही दशा गम्य कर्म के सामान्य भूत की भी है—

पश्चिमी पूर्वी

	मराठी	गुजराती	पंजाबी	पश्चिमी हिंदी (खड़ीबोली)	पूर्वी हिंदी (अवधी)	बँगला
उत्तम पुरुष	मीं लिहिलें	मैं लख्युं	मैं लिखिआ	मैं ने लिखा	मैं लिखेउँ	आमि लिखिलाम
	आम्हीं लिहिलें	अमे लख्युं	असाँ लिखिआ	हमने लिखा	हम लिखा	आमरा लिखिलाम
मध्यम पुरुष	तू लिहिलें	तें लख्युं	तूं लिखिआ	तूने लिखा	तैं लिखेसो	तुमि लिखिले
	तुम्हीं लिहिलें	तमे लख्युं	तुसाँ लिखिआ	तुमने लिखा	तुम लिखेउ	तोमरा लिखिले
अन्य पुरुष	त्यांनें लिहिलें	तेणे लख्युं	उह लिखिआ	उसने लिखा	ऊ लिखेसि	तिनि लिखिलेन
	त्यांनीं लिहिलें	तेओए लख्युं	उन्हाँ लिखिआ	उन्हों ने लिखा	उन लिखेन	ताँहारा लिखिलेन
	बहिर्वर्ती	अंतवर्ती	अंतवर्ती	अंतर्वर्ती	मध्यवर्ती	बहिर्वर्ती

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत-वैयाकरणों ने शौरसेनी (महाराष्ट्री) और मागधी (अर्धमागधी) का विभाग करके पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं की जो सीमा बाँधी थी वही ठीक है ; बहिर्वर्ती, अंतर्वर्ती और मध्यवर्ती भेद निरर्थक हैं । यही कारण है कि बँगला भाषा की उत्पत्ति और विकास का विवेचन करते हुए डाक्टर सुनीत-कुमार चाटुर्ज्या ने प्रातिशाख्यों के ढर्रे पर भाषाओं के पूर्वी, पश्चिमी

आदि भेद ही रखे हैं। यहाँ पर ग्रियर्सन साहब और चाटुर्ज्या महोदय दोनों के विभाग क्रमशः दिए जाते हैं—

ग्रियर्सन साहब का किया हुआ विभाग

	बहिर्वर्ती	मध्यवर्ती	अंतर्वर्ती
पश्चिमोत्तरी समूह	लहँदा, सिंधी	पूर्वी हिंदी	
केंद्रीय			पश्चिमी हिंदी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खानदेशी, राजस्थानी
दक्षिणी	मराठी		
पूर्वी	बिहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी		
पहाड़ी समूह			पूर्वी पहाड़ी (नैपाली), केंद्रवर्ती पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी

चाटुर्ज्या महोदय का किया हुआ विभाग

(१) उदीच्य (उत्तरी) समूह
सिंधी, लहँदा, पंजाबी

(२) प्रतीच्य (पश्चमी) समूह
गुजराती, राजस्थानी

(३) मध्यदेशीय (बिचला) समूह
पश्चिमी हिंदी

(४) प्राच्य (पूर्वी) समूह
पूर्वी हिंदी, बिहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी

(५) दाक्षिणात्य (दक्षिणी) समूह
मराठी

भीली गुजराती में और खानदेशी राजस्थानी में अंतर्भुक्त है। पहाड़ी बोलियों को इन्होंने राजस्थानी का ही परिवर्तित रूप कहा है। दोनों का वर्गीकरण देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि सुनीतिकुमारजी ने पश्चिमी हिंदी को केंद्रस्थ मानकर विभाग किया है। यह भाषा

प्राचीन काल के मध्यप्रदेश की भाषा है[1] जहाँ की भाषा आदिकाल से राष्ट्रभाषा होती चली आ रही है और जिसे प्राचीन वैयाकरण प्रधान भाषा मानकर ही व्याकरण की रचना करते आए हैं। ग्रियर्सन साहब ने 'पूर्वी हिंदी' को मध्यवर्ती अर्थात् बहिर्वर्ती और अंतर्वर्ती दोनों की विशेषताओं से युक्त मानकर पश्चिमी हिंदी के साथ कई केंद्रीय भाषाएँ रख दीं। आगे चलकर इन्होंने अपने विभाजन में कुछ फेरफार किया, पर अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती का भेद त्यागा नहीं। वह विभाग यों है—

(क) मध्यदेशी भाषा

हिंदी

(ख) अंतर्वर्ती भाषाएँ

(१) मध्यदेशी भाषा से अधिक संबद्ध

पंजाबी

राजस्थानी (खानदेशी)

गुजराती (भीली)

पहाड़ी भाषाएँ

(२) बहिर्वर्ती भाषाओं से अधिक संबद्ध

पूर्वी हिंदी

(ग) बहिर्वर्ती भाषाएँ (जैसा विभाग ऊपर है)।

भारत की इन आधुनिक आर्यभाषाओं या देशभाषाओं पर और विचार करने के पूर्व भारत की प्राचीन भाषाओं का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है अतः उनका परिचय नीचे दिया जाता है।

भारत की प्राचीन आर्यभाषाएँ

संस्कृत

भारत की आर्यभाषाओं का मूल वैदिक भाषा है। वैदिक और उसके अनंतर लौकिक संस्कृत, अर्थात् साहित्य या अन्य विषयों के ग्रंथों

१. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥—मनुस्मृतिः २।२

और लौकिक संस्कृत का शिष्ट समाज में व्यवहार देखा जाता है। मध्य-काल में प्राकृत के साहित्य का निर्माण होने लगा था और उत्तरकाल में अपभ्रंशों तथा देशी भाषाओं के साहित्य की रचना होने लगी। प्राकृत के अंतर्गत यदि उत्तरकालीन अपभ्रंश को भी ले लें तो प्राकृत-भाषाओं का कालक्रम भी तीन भागों में बाँटा जा सकता है—प्राचीन प्राकृत, मध्य प्राकृत और उत्तर प्राकृत या अपभ्रंश। 'प्राकृत' शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ भी किए गए हैं—(१) प्रकृति अर्थात् साधारण जनता से संबंध रखनेवाली भाषा प्राकृत हुई। (२) प्राकृत और संस्कृत शब्दों को सामने रखने से स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों भाषाएँ एक ही हैं। परिष्कृत रूप में जो संस्कृत भाषा थी वही अपरिष्कृत रूप में प्राकृत। अतः प्राकृत के वैयाकरण कहते हैं कि प्रकृति (मूल) अर्थात् संस्कृत से बनने के कारण यह प्राकृत हुई। (३) जैनों ने प्राकृत शब्द की व्याख्या 'प्राक्+कृत' खंड करके सबसे विलक्षण की है। उनके अनुसार सबसे प्राचीन भाषा प्राकृत (अर्धमागधी) ही है और इसी से सब भाषाओं का विकास हुआ है।

प्राचीन प्राकृत के अंतर्गत कुछ लोगों ने जिन प्राकृतों को रखा है उन्हें 'पाली' नाम से अभिहित किया है, किंतु पाली के अतिरिक्त अन्य प्रकार की प्राचीन प्राकृतें भी मिलती हैं। अतः उसके अंतर्गत अशोक के शिलालेखों, बौद्धों की हीनयान शाखा के ग्रंथ त्रिपिटक, महा-वंश, जातकों आदि, प्राचीन जैनसूत्रों और प्राचीन नाटकों की प्राकृतें मानी जाती हैं। अशोक के शिलालेखों और हीनयान के ग्रंथों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है उसका नाम 'पाली' पड़ गया है। 'पाली' शब्द की उत्पत्ति 'पंक्ति' शब्द से मानी जा सकती है। पंक्ति से पत्ती (धेनु-पत्ती=गायों की पंक्ति), पट्टी, पाटी, पाली हुआ।[१] 'पाली' शब्द की व्युत्पत्ति लोगों ने अनेक प्रकार से की है, पर यह विशेष उपयुक्त और ठीक जान पड़ती है। धर्मग्रंथों की भाषा को तो बौद्ध लोग 'मागधी' भाषा ही मानते हैं। क्योंकि वे लिखते हैं—

१. देखिए डाक्टर श्यामसुंदरदास कृत 'हिंदी भाषा और साहित्य।'

सा मागधी मूलभासा नराया यादिकप्पिका।
ब्राह्मणो चस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासिरे॥

अशोक के शिलालेखों में जो भाषा मिलती है उसके स्थानभेद से विभिन्न रूप पाए जाते हैं। इससे जान पड़ता है कि उत्कीर्ण कराते समय उस उस देश की भाषा के अनुकूल धर्माभिलेख लिखवाए गए हैं। इनमें कम से कम दो स्पष्ट भेद अवश्य दिखाई पड़ते हैं। भगवान बुद्ध का उद्भव मगध में हुआ था और उन्होंने लोकभाषा में अपने उपदेश दिये थे। इससे जान तो यह पड़ता है कि वह भाषा 'मागधी' ही रही होगी, किंतु विचार करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने मागधी का आश्रय न लेकर सर्वसामान्य प्राकृत का आश्रय लिया था। क्योंकि बौद्धधर्म के ग्रंथों में आगे चलकर मागधी प्राकृत में दिखाई देनेवाली विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित नहीं होतीं। इसलिए महाराष्ट्र अर्थात् समस्त देश में प्रचलित महाराष्ट्री या मध्यदेशी अर्थात् मूलस्थानीय शौरसेनी प्राकृत की पूर्वजा पछाहीं भाषा में ही उन्होंने अपने उपदेश दिए थे। अशोक ने भी मुख्य आधार उसी भाषा को माना। प्राचीन जैनसूत्रों की भाषा 'अर्धमागधी' कही जाती है। 'अर्धमागधी' शब्द का अर्थ यही करना चाहिए कि उस भाषा में शौरसेनी और मागधी दोनों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन मध्यदेश की ही भाषा प्राकृतों के विकास का आधार थी।

मध्य प्राकृत के अंतर्गत महाराष्ट्री प्राकृत, नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत, जैनों के उत्तरकालीन ग्रंथों की प्राकृत और पैशाची (बृहत्कथा की भाषा) मानी जाती है। जिन प्राकृतों का वाङ्मय अधिक परिमाण में मिलता है वे ये ही हैं। नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत को विद्वान् लोग साहित्यिक प्राकृत अथवा कृत्रिम प्राकृत मानते हैं। उनका कहना है कि प्राकृत के व्याकरण-ग्रंथों के अनुसार ये प्राकृतें गढ़कर रखी गई हैं। इसमें संदेह नहीं कि महाराष्ट्री प्राकृत में संस्कृत के विभिन्न शब्दों की जैसी एकरूपता दिखाई देती है वह बोलचाल की भाषा के अनुकूल नहीं है। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राकृत

के ग्रंथों, नाटकों आदि में प्रयुक्त प्राकृतें कृत्रिम हैं। बोलचाल की भाषा के आधार पर जो प्राचीन व्याकरण प्रस्तुत हुए उनके सहारे आगे चलकर उनका निर्माण अवश्य हुआ है, किंतु संस्कृत-भाषा का सर्वत्र प्रसार होने के कारण मानना पड़ता है कि उसका ठीक ठीक उच्चारण न कर सकनेवाले विकृत-रूप में ही उसका प्रयोग किया करते थे। विकार के ये ही नियम व्याकरणों में बाँधे गए हैं। प्राकृतों में संस्कृत के शब्दों के परिवर्तन के जिन नियमों से काम लिया गया है वे प्राचीन हैं। वेदों में भी इस प्रकार के नियम चलते दिखाई देते हैं। जिनके कुछ उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। वहाँ प्राकृत की भाँति संयुक्त वर्णों में से एक का लोप भी देखा जाता है; जैसे—दुर्दभ का दुडभ, दुर्नाश का दुनाश। स्वरभक्ति भी मिलती है; जैसे—स्व का सु, स्वर्गः का सुवर्गः, रात्र्या का रात्रिया आदि। वर्णलोप भी पाया जाता है; जैसे—पशवे-पश्वे, शतक्रतवः—शतक्रत्वः। ओकार की प्रवृत्ति भी है; जैसे—देवः-देवो, सः-सो, संवत्सरः अजायत-संवत्सरो अजायत।[1]

जब जनता में प्राकृत भाषा का विशेष प्रसार हो गया और संस्कृत की कठिनाई के कारण वह उससे दूर होने लगी तो प्राकृत-साहित्य का निर्माण आरंभ हुआ। मध्य प्राकृत में जैसे साहित्य का निर्माण हुआ उससे सिद्ध होता है कि प्राकृत-भाषा लोकप्रिय हो गई थी। कवियों ने प्राकृत की प्रशंसा यों की—

अमियं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणंति।
कामस्स तत्ततंति कुणंति ते कह ण लज्जंति ॥—हाल।

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणम् ॥—राजशेखर।

प्राकृतों में से महाराष्ट्री का विशेष मान हुआ। यद्यपि शौरसेनी एवं मागधी नाम देश के आधार पर निर्मित हुए हैं और महाराष्ट्र देश से महाराष्ट्री नाम उसी प्रकार व्युत्पन्न हो सकता है, तथापि 'महाराष्ट्री

---

१. देखिए 'हिंदी भाषा और साहित्य'।

शब्द का अर्थ महा (विशाल, विस्तृत) राष्ट्र भर में फैली हुई भाषा ही लेना चाहिए। दंडी लिखते हैं—

'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।'

इस महाराष्ट्री में कई काव्य लिखे गए। सेतुबंध या दहमुहवहो (दशमुखवधः), गौडवहो (गौडवधः), बप्पइराअ (वाक्पतिराज) की रचना महुमअविअअ (मधुमतविजय), हाल की सप्तशती, राजशेखर की कर्पूरमंजरी आदि।

प्राकृत में संस्कृत की अपेक्षा व्याकरण-संबंधी जो विशेषाधिकार प्राप्त किए गए वे निम्नलिखित हैं—संज्ञा-शब्दों में अकारांत पुंलिंग के से रूप अधिक चलने लगे। क्रियाओं में परस्मैपद भ्वादि गण के रूपों की अधिकता हुई। चतुर्थी विभक्ति का एक प्रकार से लोप हो गया, षष्ठी ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। कर्ता और कर्म में बहुवचन के रूप नपुंसक शब्द की तरह एक से होने लगे। दुहरे रूपों का लोप हो गया। द्विवचन उठ गया। आत्मनेपद अप्रचलित हो गया। ठीक इसी प्रकार ध्वनि में भी परिवर्तन हुआ। संयुक्ताक्षर की जगह द्वित्व की प्रवृत्ति बढ़ी; जैसे – रक्त का रत्त, सप्त का सत्त। ऋ, ऐ और औ (मागधी और शौरसेनी की श्रुति के अतिरिक्त) लुप्त हो गए। ष, श के स्थान पर स (मागधी में श) हो गया। ह्रस्व ए और ओ दिखाई पड़ने लगे। शब्दों के अंतिम व्यंजन हटा दिए गए। किसी ह्रस्व स्वर के बाद दो व्यंजन से अधिक नहीं रह सके और दीर्घ स्वर के बाद एक व्यंजन से अधिक नहीं। परिणाम यह हुआ कि शब्दों का पहचानना कठिन हो गया। 'बप्पइराअ' 'वाक्पतिराज' से और 'ओइण्ण' 'अवतीर्ण, से निकला, कौन कह सकता था। फिर भी लोग प्राकृत समझते थे।

संस्कृत-शब्दों के परिवर्तन का मुख्य स्वरूप साहित्यिक प्राकृतों में जैसा दिखाई पड़ता है उसका संक्षेप में नीचे उल्लेख किया जाता है—(१) न, य, श, ष को छोड़ अन्य अक्षर शब्द के आरंभ में नहीं बदलते—नदी का णई, यथा का जधा, षष्ठ का छट्ठ आदि। (२) मध्य में क, ग, च, ज, त, द, प, य और व का प्रायः लोप हो जाता है; जैसे—

लोक का लोअ, नगर का णअर, प्रचुर का पउर, भोजन का भोअण, रसातल का रसाअल, हृदय का हिअअ, रूप का रूअ, प्रिय का पिअ, दिवस का दिअह। (३) शब्द के मध्य में ख, घ, थ, ध, भ और फ का भी ह हो जाता है—मुख का मुह, मेघ का मेह, यूथ का जूह, रुधिर का रुहिर, नभ का णह, शफर का सहर (पातभरी सहरी सकल सुत बारे बारे—तुलसी, कवित्तावली) (४ ऋ स्वर विभिन्न देशों के उच्चारण के अनुसार अ, इ और उ में बदल गया—वृषभ का वसह (बर बौराह बसह असवारा—'मानस'), वृश्चिक का विच्छुओ, वृक्ष का रुख। ये विशेषताएँ सर्वसामान्य हैं।

अन्य प्राकृतों की जो स्वगत विशेषताएँ हैं उनका अलग उल्लेख किया जाता है। शौरसेनी में थ के स्थान पर ध और त के स्थान पर द होता है, ह या अ नहीं—जैसे अथ का अध, लता का लदा। मागधी में दंत्य 'स' का तालव्य 'श' हो जाता है। सामवेद का शामवेद। र का ल हो जाता है; जैसे—पुरुष का पुलिशे। ज का य हो जाता है—जनपद का यणपद। अकारांत शब्दों के प्रथमा एकवचन के एक रांत रूप होते हैं। अर्धमागधी में आर्ष प्रयोग की अधिकता तथा शौरसेनी और मागधी दोनों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इसे वैयाकरणों ने स्पष्ट स्वीकार किया है—

आरिषवयणे सिद्धं देवानं अद्धमागहा वाणी।
शौरसेन्या अदूरत्वात् इयमेवार्द्धमागधी ॥—मार्कंडेय।
महाराष्ट्रीमिश्रा अर्द्धमागधी—क्रमदीश्वर।

पैशाची में वर्ग के तृतीय और चतुर्थ अक्षर मध्य में आने पर प्रथम और द्वितीय में परिणत हो जाते हैं; जैसे—गगनम् का गकनम्, राजा का राचा। आदि में भी कहीं कहीं ऐसा होता है—दामोदर का तामोतर। ण का न हो जाता है—तरुणी का तरुनी। संयुक्त अक्षर अलग हो जाते हैं—कष्ट का कसट, स्नान का सनान, पत्नी का पतनी। पिशाच देश का निर्णय इस उद्धरण में किया गया है—

पाण्ड्य, केकय, बाह्लीक, सिंह, नेपाल, कुन्तलाः।

सुदेष्ण, बोट, गान्धार, हैव, कन्नौजनास्तथा।
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद्गुणो भवेत्॥—लक्ष्मीधर

राजशेखर ने यह बात नहीँ लिखी है। उन्होँ ने 'भूतभाषा' या पैशाची का स्थान मालवा प्रांत माना है, जिसका विचार पहले किया जा चुका है। लक्ष्मीधर ने जो प्राचीन उक्ति उद्धृत की है उसे राजशेखर की उक्ति से मिलाने पर यही मानना पड़ता है कि या तो मूलतः पैशाची भाषा उत्तर की ही थी और वहीँ से मालवा मेँ फैली या वस्तुतः यह मालवा की ही भाषा थी तथा वहाँ से पश्चिमोत्तर प्रदेश मेँ गई। गुणाढ्य मध्यदेश के रहनेवाले थे ऐसा परंपरा मेँ प्रसिद्ध है। उधर उनके ग्रंथ के संस्कृतानुवाद काश्मीरी पंडितोँ ने किए हैँ।

अपभ्रंश

प्राकृतोँ के बाद अपभ्रंशोँ का उद्भव हुआ। अपभ्रंशोँ का स्वरूप उन्हीँ प्राकृतोँ के अनुसार स्थानभेद से भिन्न भिन्न रहा होगा, किंतु ये अब अपभ्रंश मिलते नहीँ। 'विक्रमोर्वशी' नाटक मेँ अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है, किंतु पश्चिमी लोग उसे अपभ्रंश नहीँ मानते। शब्दोँ का अपभ्रष्ट रूप तो महर्षि पतंजलि के समय से ही प्रचलित हो गया था। वे महाभाष्य मेँ लिखते हैँ—'भूयांसो ह्यपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दाः, एकैकस्य शब्दस्य बहवः **अपभ्रंशाः**, यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेति एवमादयोऽपभ्रंशाः।' भाष्यकार ने 'गौ' शब्द के लिए गावी गोणी, गोता और गोपोतलिका चार अपभ्रंश दिए हैँ। इनमेँ से 'गावी' (गाही) बँगला मेँ पाया जाता है। 'गोणी' का प्रयोग पाली मेँ हुआ है[1] और सिंधी मेँ मिलता है। वैयाकरणोँ ने अपभ्रंश के नागर और व्राचड़ दो भेद किए हैँ। नागर अपभ्रंश से गुजराती, राजस्थानी, व्रज-भाषा आदि का उद्भव हुआ है। व्राचड़ का संबंध सिंधी से है। अपभ्रंश भाषा मेँ अधिक साहित्य नहीँ मिलता। कुछ तो जैनोँ के ग्रंथ मिलते हैँ

---

१. कच्चायन के पाली-व्याकरण के वार्तिक मेँ 'गोण गु गवयादेसो होति' तथा 'गोणनम्हि वा' सूत्र मिलते हैँ।

जिनमें से भविसयत्तकहा (भविष्यदत्तकथा) प्रकाशित हो चुकी है। हेमचंद्र के व्याकरण तथा कुमार पालचरित में और मेरुतुंगाचार्य के प्रबंधचिंतामणि में अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं। जैसा कहा जा चुका है देशभेद के अनुसार इसके स्वरूप में भेद अवश्य होता था। रुद्रट लिखते हैं—'भूरिभेदात् देशविशेषात् अपभ्रंशः' इसका प्रमाण विद्यापति की कीर्तिलता से भी मिलता है। कीर्तिलता में शब्दों के प्रयोग प्रचलित पश्चिमी शौरसेना या नागर अपभ्रंश के अनुसार तो हैं ही, कुछ पूर्वी प्रयोग भी पाए जाते हैं। इसलिए इसे पूर्वी या मागध अपभ्रंश का उदाहरण समझना चाहिए।

कुछ लोग अपभ्रंश के अनंतर 'अवहट्ट' या 'अवहट्ठ' अवस्था भी मानते हैं, किंतु इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। विद्यापति ने 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग 'अपभ्रंश' ही के लिए किया है। वहाँ 'अवहट्ठ' शब्द 'अपभ्रष्ट' का अपभ्रंश-रूप मात्र है। जिस प्रकार उन्होंने अपने नाम 'विद्यापति' से 'विज्जावइ' अपभ्रंश बनाया उसी प्रकार 'अपभ्रष्ट' से 'अवहट्ठ' भी। 'अपभ्रंश के लिए 'प्राकृत' शब्द का जिस प्रकार प्रचुर व्यवहार मिलता है उसी प्रकार विरल व्यवहार 'अवहट्ट' या 'अवहट' का भी। 'प्राकृत-पैंगलम्', के भाष्यकार वंशीधर ने अपने 'पिंगल-प्रकाश' नामक भाष्य में इसे 'अवहट' ही कहा है—"प्रथमो भाषातरण्डः प्रथम आद्यः भाषा अवहट् भाषा यया भाषया अयं ग्रंथो रचितः सा अवहट् भाषा तस्या इत्यर्थः।"

अपभ्रंश की विशेषताएं निम्नलिखित हैं। प्राकृत-भाषाओं की अपेक्षा अपभ्रंश और अधिक स्वच्छंद होकर चलने लगे। केवल परस्मैपद रूप में ही धातुओं का व्यवहार होने लगा। वर्तमान काल का प्रयोग मुख्य हुआ। विभक्ति-चिह्नों का प्रायः लोप होने लगा। 'म्' अनुस्वार के रूप में परिणत हो गया। लिंग अतंत्र हो गया अर्थात् शब्दों का मनमाने लिंग में प्रयोग होने लगा। अनुस्वार वैकल्पिक हो गया अर्थात् सभी स्थानों में उसका प्रयोग होने लगा। जिन शब्दों में अनुस्वार की प्राप्ति किसी प्रकार भी नहीं होती थी वहाँ भी वह वैकल्पिक रूप में आ लगा।

सुदेष्ण, बोट, गान्धार, हैव, कन्नौजनास्तथा ।

एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद्गुणो भवेत् ॥—लक्ष्मीधर

राजशेखर ने यह बात नहीं लिखी है। उन्हों ने 'भूतभाषा' या पैशाची का स्थान मालवा प्रांत माना है, जिसका विचार पहले किया जा चुका है। लक्ष्मीधर ने जो प्राचीन उक्ति उद्धृत की है उसे राजशेखर की उक्ति से मिलाने पर यही मानना पड़ता है कि या तो मूलतः पैशाची भाषा उत्तर की ही थी और वहीं से मालवा में फैली या वस्तुतः यह मालवा की ही भाषा थी तथा वहाँ से पश्चिमोत्तर प्रदेश में गई। गुणाढ्य मध्यदेश के रहनेवाले थे ऐसा परंपरा में प्रसिद्ध है। उधर उनके ग्रंथ के संस्कृतानुवाद काश्मीरी पंडितों ने किए हैं।

अपभ्रंश

प्राकृतों के बाद अपभ्रंशों का उद्भव हुआ। अपभ्रंशों का स्वरूप उन्हीं प्राकृतों के अनुसार स्थानभेद से भिन्न भिन्न रहा होगा, किंतु ये सब अपभ्रंश मिलते नहीं। 'विक्रमोर्वशी' नाटक में अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है, किंतु पश्चिमी लोग उसे अपभ्रंश नहीं मानते। शब्दों का अपभ्रष्ट रूप तो महर्षि पतंजलि के समय से ही प्रचलित हो गया था। वे महाभाष्य में लिखते हैं—'भूयांसो ह्यपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दाः, एकैकस्य शब्दस्य बहवः **अपभ्रंशाः**, यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेति एवमादयोऽपभ्रंशाः।' भाष्यकार ने 'गौ' शब्द के लिए गावी गोणी, गोता और गोपोतलिका चार अपभ्रंश दिए हैं। इनमें से 'गावी' प्राह्वी) बँगला में पाया जाता है। 'गोणी' का प्रयोग पाली में हुआ है[1] और सिंधी में मिलता है। वैयाकरणों ने अपभ्रंश के नागर और व्राचड़ दो भेद किए हैं। नागर अपभ्रंश से गुजराती, राजस्थानी, व्रज-भाषा आदि का उद्भव हुआ है। व्राचड़ का संबंध सिंधी से है। अपभ्रंश भाषा में अधिक साहित्य नहीं मिलता। कुछ तो जैनों के ग्रंथ मिलते हैं

१. कच्चायन के पाली-व्याकरण के वार्तिक में 'गोण गु गवयादेसो होति' तथा 'गोणनम्हि वा' सूत्र मिलते हैं।

जिनमें से भविसयत्तकहा (भविष्यदत्तकथा) प्रकाशित हो चुकी है। हेमचंद्र के व्याकरण तथा कुमार पालचरित में और मेरुतुंगाचार्य के प्रबंधचिंतामणि में अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं। जैसा कहा जा चुका है देशभेद के अनुसार इसके स्वरूप में भेद अवश्य होता था। रुद्रट लिखते हैं—'भूरिभेदात् देशविशेषात् अपभ्रंशः' इसका प्रमाण विद्यापति की कीर्तिलता से भी मिलता है। कीर्तिलता में शब्दों के प्रयोग प्रचलित पश्चिमी शौरसेनी या नागर अपभ्रंश के अनुसार तो हैं ही, कुछ पूर्वी प्रयोग भी पाए जाते हैं। इसलिए उसे पूर्वी या मागध अपभ्रंश का उदाहरण समझना चाहिए।

कुछ लोग अपभ्रंश के अनंतर 'अवहट्ट' या 'अवहट्ठ' अवस्था भी मानते हैं, किंतु इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। विद्यापति ने 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग 'अपभ्रंश' ही के लिए किया है। वहाँ 'अवहट्ठ' शब्द 'अपभ्रष्ट' का अपभ्रंश-रूप मात्र है। जिस प्रकार उन्होंने अपने नाम 'विद्यापति' से 'विज्जावइ' अपभ्रंश बनाया उसी प्रकार 'अपभ्रष्ट' से 'अवहट्ठ' भी। 'अपभ्रंश के लिए 'प्राकृत' शब्द का जिस प्रकार प्रचुर व्यवहार मिलता है उसी प्रकार विरल व्यवहार 'अवहट्ट' या 'अवहट' का भी। 'प्राकृत-पैंगलम्' के भाष्यकार वंशीधर ने अपने 'पिंगल-प्रकाश' नामक भाष्य में इसे 'अवहट' ही कहा है—"प्रथमो भाषातरण्डः प्रथम आद्यः भाषा अवहट् भाषा यया भाषया अयं ग्रंथो रचितः सा अवहट् भाषा तस्या इत्यर्थः।"

अपभ्रंश की विशेषताएं निम्नलिखित हैं। प्राकृत-भाषाओं की अपेक्षा अपभ्रंश और अधिक स्वच्छंद होकर चलने लगे। केवल परस्मैपद रूप में ही धातुओं का व्यवहार होने लगा। वर्तमान काल का प्रयोग मुख्य हुआ। विभक्ति-चिह्नों का प्रायः लोप होने लगा। 'म्' अनुस्वार के रूप में परिणत हो गया। लिंग अतंत्र हो गया अर्थात् शब्दों का मनमाने लिंग में प्रयोग होने लगा। अनुस्वार वैकल्पिक हो गया अर्थात् सभी स्थानों में उसका प्रयोग होने लगा। जिन शब्दों में अनुस्वार की प्राप्ति किसी प्रकार भी नहीं होती थी वहाँ भी वह वैकल्पिक रूप में आ लगा।

भारत की आधुनिक देशभाषाएँ

अपभ्रंश के अनंतर आधुनिक देशभाषाओं का उद्भव हुआ। देशी भाषाओं की पद्य-रचना कब से होने लगी यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता किंतु उत्तरकाल न अपभ्रंशों के देखने से यह स्पष्ट है कि आधुनिक देशी भाषाओं के शब्दरूप उनमें दिखाई पड़ने लगे थे। इससे इनके उद्भव का समय विक्रम की ग्यारहवीं शती समझना चाहिए।

इन भाषाओं के भेदोपभेद का वर्णन पहले किया जा चुका है। इनका कुछ परिचय यहाँ दिया जाता है—

सिंधी—सिंधी में कुछ साहित्य है, पर सूफी शैली का। यह अरबी-फारसी से दिन दिन लदती जा रही है। इसकी वर्णमाला भी अरबी-फारसी के वर्णों से बनाई गई है। इसमें मुख्यत: दो लिपियों 'लंडा' और 'गुरुमुखी' का व्यवहार होता है। कभी कभी नागरी भी काम में लाई जाती है। आधुनिक सिंधी के लेखक अधिकतर मुसलमान हैं। इसकी उपभाषाएँ ये हैं—विचोली, सिरैकी, लाड़ी, थरेली (राजस्थानी से प्रभावित) और कच्छी (गुजराती से प्रभावित)।

लहँदा—'पंजाबी' भाषा के पूर्वी-पश्चिमी के विचार से दो भेद हैं। पूर्वी पंजाबी को केवल 'पंजाबी' कहते हैं और पश्चिमी पंजाबी को 'लहँदा'। 'लहँदा' का अर्थ पंजाब में 'पश्चिम' होता है। इसमें गीतों और चारणकाव्य के अतिरिक्त और कोई साहित्य नहीं है। इसकी लिपि 'लंडा' है। इसके अंतर्गत ये बोलियाँ हैं—
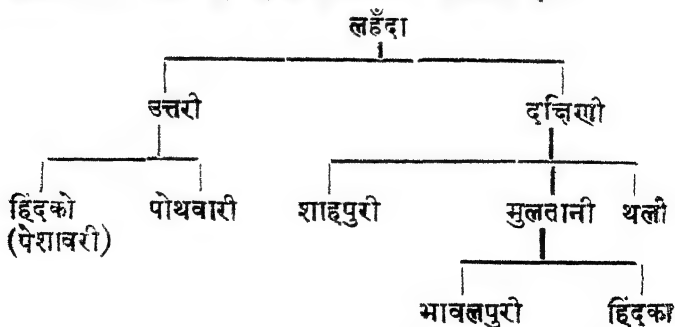
मुलतानी पर सिंधी का पूरा प्रभाव है।

पंजाबी—इस पर पैशाची प्राकृत का पूरा प्रभाव है। 'युक्तविकर्ष' के उदाहरण इसमें पर्याप्त मिलते हैं—पत्नी=पतनी, स्पर्श=परस, कष्ट=कसट, स्कूल=सकूल। महाप्राण वर्णों के स्थान पर वर्ग के अल्प-प्राण का व्यवहार भी है—अध्यापक=हत्तापक, भाईजी=पाईजी। ध्यान देने की बात है कि इसमें न तो संस्कृत के शब्दों की प्रचुरता हुई और न अरबी-फारसी के शब्द घुसे। इसमें सिख-गुरुओं की रचनाएँ मिलती हैं। पश्चिमी हिंदी पर इसका प्रभाव पड़ा है। इसकी लिपि गुरुमुखी है। इसमें अमृतसरी और डोगरी दो बोलियाँ हैं।

गुजराती—जैनों के धर्म-ग्रंथ प्राचीन गुजराती में हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचंद्र गुजरात के ही थे। काठियावाड़ी में चारण-काव्य की प्रचुरता है। जिसमें से अधिकांश अप्रकाशित है। गुजराती बहुत अधिक उन्नति कर रही है। इसमें भी संस्कृत का प्रभाव अन्य देश-भाषाओं की भाँति पूरा पड़ रहा है। इसकी अपनी लिपि भी है जिसमें शिरोरेखा का अभाव है। बीच बीच में 'नागरी' लिपि का भी व्यवहार देख पड़ता है। इसकी उत्पत्ति नागर अपभ्रंश से है। यह राजस्थानी से प्रभावित है। इसी से गुजरातवाले मीराबाई को, जिनकी रचना राजस्थानी-मिली हिंदी में है, अपनी कवयित्री मानते हैं। इसके दो रूप हैं—साहित्यिक और बोलचाल का रूप। साहित्यिक रूप का व्यवहार पारसी (बंबई) और हिंदू (अहमदाबाद) दोनों के द्वारा होता है और दोनों में भेद लक्षित होता है। बोलचाल में अहमदाबादी प्रधान है। देशभेद से इसकी बंबइया, सूरती, काठियावाड़ी आदि अन्य बोलियाँ भी हैं।

राजस्थानी—राजपूताने में 'राजस्थानी' भाषा बोली जाती है। इसका एक ओर ब्रजभाषा से और दूसरी ओर गुजराती से लगाव है। प्राकृत-काल के बहुत से शब्द और प्रयोग इसमें अब तक चल रहे हैं। इस भाषा में जो साहित्य निर्मित होता है उसे 'डिंगल' कहते हैं। राज-स्थानी लोग ब्रजभाषा का सामान्य स्वरूप लिए हुए जिस भाषा का

व्यवहार करते हैं उसे 'पिंगल' नाम से पुकारते हैं। स्थूल रूप से व्रज भाषा को 'पिंगल' और राजस्थानी को 'डिंगल' कहते हैं। व्रजरीति को 'पिंगल' कहने से ही राजस्थानी रीति 'डिंगल' नाम से प्रसिद्ध हुई। यद्यपि इस शब्द की व्युत्पत्ति लोग अनेक प्रकार से करते हैं पर जान पड़ता है कि यह शब्द संस्कृत के 'डिगर' से बना है संस्कृत में मोटे-मुसंड अपरिष्कृत रुचिवाले व्यक्ति को 'डिंगर' कहते हैं। अतः ज्ञात होता है कि व्रजभाषा या पिंगल की परिष्कृत साहित्यिक रुचि की रचना के प्रतिपक्ष में राजपूताने की देशी भाषा की काव्यपद्धति 'डिगर' या 'डिंगल' कहलाने लगी। 'डिंगल' में चारणों के अनेक काव्य-ग्रंथ हैं। राजस्थानी के अंतर्गत जंगली बोलियाँ भी समझनी चाहिए। भीली को ग्रियर्सन साहब ने गुजराती के अंतर्गत रखा है, पर है वस्तुतः वह राजस्थानी ही बोली। इस प्रकार राजस्थानी की बोलियों का प्रस्तार इस प्रकार होगा –
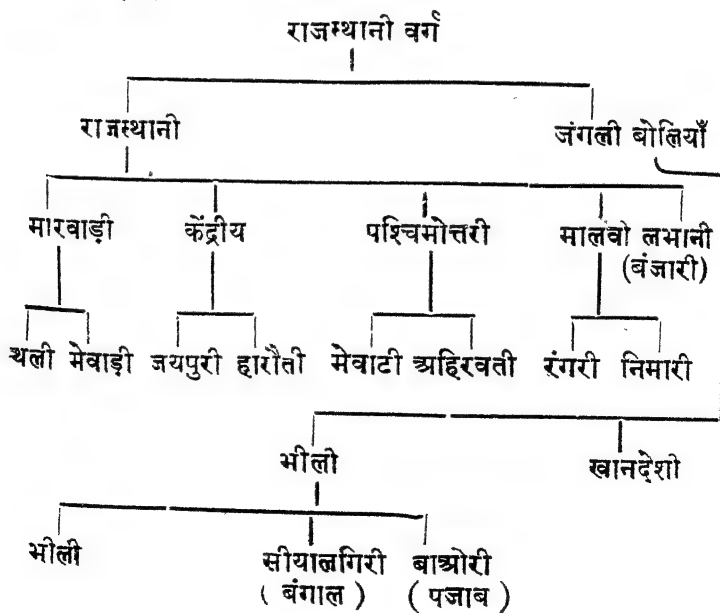
पहाड़ी बोलियाँ—ये बोलियाँ चाटुर्ज्या महोदय ने राजस्थानी के ही अंतर्गत मानी हैं। कुछ लोग पहाड़ी बोलियों को पृथक वर्ग में ही रखना चाहते हैं पर इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। पहाड़ी बोलियाँ दरदी से भी प्रभावित हैं और तिब्बत-हिमालयी से भी। इसके तीन भेद माने गए हैं—पूर्वी, मध्यवर्ती और पश्चिमी पूर्वी पहाड़ी में नेपाली आती है। इसमें थोड़ा सा आधुनिक वाङ्मय है, जो प्रायः धार्मिक बातों या किस्से-कहानियों से ही संबंधित है। इसका नाम परबतिया (गोरखाली) या खसकुरा भी है। इसकी लिपि नागरी है। इसके अंतर्गत पल्पा तथा अन्य बोलियाँ हैं। मध्य पहाड़ी में भी कुछ साहित्य इधर लिखा गया है, पर साधारण कोटि का। इसमें भी नागरी लिपि प्रयुक्त होती है। इसमें दो बोलियाँ हैं—कुमाउनी औ गढ़वाली। पश्चिमी पहाड़ी में जोनसार से चंबा तक की बोलियाँ मानी जाती हैं। इनमें तकरी लिपि चलती है। ग्राम-गीतों के अतिरिक्त इनमें और कोई साहित्य नहीं।

मराठी—इसमें देशी शब्दों की अधिकता है। इसकी बोलियों में अंतर बहुत ही कम है यहाँ तक कि शिष्ट भाषा और साधारण बोली में भी विशेष अंतर नहीं है। मराठी में बहुत ही संपन्न वाङ्मय है। संत ज्ञानेश्वर की श्रीमद्भगवद्गीता पर ज्ञानेश्वरी टीका पुरानी मराठी में ही है। नामदेव तुकाराम, रामदास आदि संतों के अभंग और पद भी इसकी प्राचीन संपत्ति हैं। आधुनिक काल में भी मराठी की सब प्रकार से उन्नति हो रही है। प्राचीन पद्यभाषा महाराष्ट्री की कुछ विशेषताओं के सहारे इसका निर्माण हुआ है। इसमें तद्धित और नामधातु का अधिक प्रयोग होता है इसमें 'ळ' का विशिष्ट वैदिक उच्चारण सुरक्षित है। मराठी की मुख्य तीन बोलियाँ हैं देशी बरारी और कोंकणी। देशी ही वस्तुतः मुख्य भाषा है। यह पूना और वरहाड़ (अमरावती) में चलती है। बरारी में वरहाड़ी, नागपुरी और हल्बी बोलियाँ हैं। नागपुरी पूर्वी हिंदी से और हल्बी उड़िया से प्रभावित है। कोंकणी के अंतर्गत गोआई, घाटी तथा अन्य बोलियाँ हैं।

विस्तार के साथ विचार किया जायगा। हिंदी के अंतर्गत जो साहित्यिक और लौकिक बोलियाँ आती हैं उनका प्रस्तार इस प्रकार है—
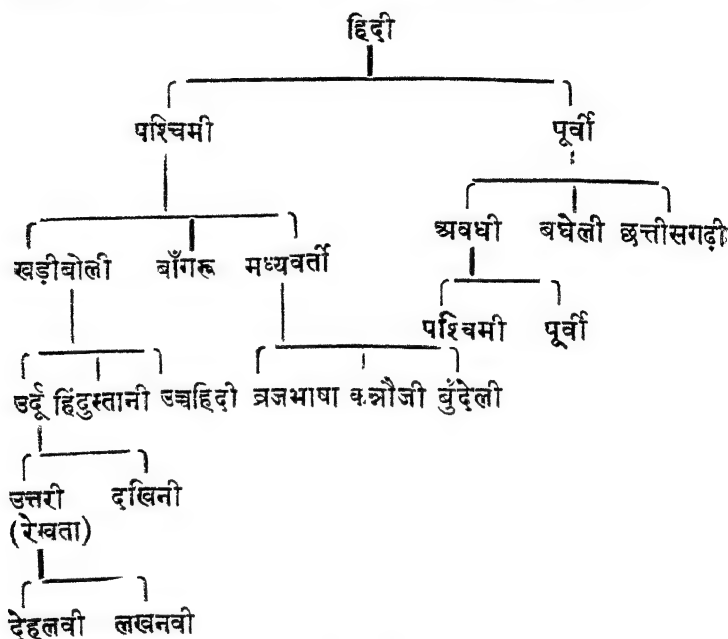
हिंदी भाषा

देशी भाषाओं में से हिंदी का उद्भव सबसे पहले हुआ, यह बतलाने की कदाचित् आवश्यकता नहीं। हिंदी जिस परंपरा को लेकर चल रही है वह शौरसेनी की परंपरा है, लेकिन उसके साथ ही इसका मागधी या अर्धमागधी से भी पूरा लगाव है। यही कारण है कि संस्कृत तथा प्राकृत से संबंध रखनेवाली अन्य देशी भाषाओं के प्राचीन साहित्य का लगाव इसी से है अर्थात् गुजराती, मराठी, बंगला आदि के प्राचीन साहित्य का। पुरानी रचनाओं की परंपरा हिंदी की ही है अर्थात् हिंदी इन देशी भाषाओं की बड़ी बहन है।

'हिंदी' शब्द के अर्थ

'हिंदी' शब्द का प्रयोग पुराना है। किंतु बहुत दिनों तक लोग इसे 'भाषा' ही कहते रहे और पुराने कँड़े के लोग इसे अब भी 'भाखा' ही कहते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि जिस प्रकार 'हिंदू' शब्द विदेशियों का दिया हुआ है उसी प्रकार 'हिंदी' भी और इसमें 'ई' प्रत्यय 'याये निस्बती' है। किंतु कुछ लोग इसका विरोध करते हैं। उनके अनुसार जब गुजरात से गुजराती, बंगाल से बंगाली आदि सैकड़ों प्रयोग होते हैं और केकय से केकयी, दिनकर से दिनकरी (टीका) आदि पुराने प्रयोग भी मिलते हैं तो 'हिंदी' में 'ई' को 'याये निस्बती' कैसे कहा जाय। 'पाली' में 'ई' का प्रयोग संबंध के अर्थ में बराबर मिलता है; जैसे—

अप्पमत्तो अयं गंधो यायं तगरचंदनी—धम्मपद।[1]

मेरे विचार से 'हिंदी' शब्द मुसलमानों का ही दिया हुआ है। इसे स्वीकार करने में हिचक नहीं होनी चाहिए। 'याये निस्बती' की भाँति संबंध में 'ई' प्रत्यय हमारे यहाँ भी है इसमें संदेह नहीं, पर 'हिंद' और 'हिंदुस्तान' शब्द जैसे विदेशियों के दिए हुए हैं वैसे ही 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' नाम भी। आर्यसमाजी आंदोलन के समय लोग इसे 'आर्यभाषा' इसी लिए कहने लगे थे। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा का हिंदी-पुस्तकालय 'आर्यभाषा-पुस्तकालय' अब तक कहलाता है। हम लोग स्वभावतः इसे 'भारती' कहते, पर भारती नाम सरस्वती या 'अमरभारती' (संस्कृत) का है अतः इसे पुराने कवि भासा या भाखा ही कहते आए हैं।

अब देखना चाहिए कि 'हिंदी' शब्द का व्यवहार कितने अर्थों में होता है। हिंदी शब्द केवल भाषा का ही बोधक नहीं, साहित्य का भी बोधक है। 'हिंदी में अलंकारशास्त्र संस्कृत के सहारे चलता है' वाक्य में 'हिंदी' शब्द 'साहित्य' के लिए आया है अथवा यह मानिए कि हिंदी

---

१. देखिए 'हिंदी भाषा और साहित्य'।

के आगे 'साहित्य' शब्द का लोप है। 'हिंदी' का व्यवहार वर्तमान भाषा अर्थात् 'खड़ी' के लिए भी होता है और पुरानी कई भाषाओं या उनके समूह के लिए भी।

'खड़ी बोली', 'रेखता', 'नागरी' और 'उच्च हिंदी'

हिंदी में संप्रति गद्य और पद्य दोनों में जिस भाषा का व्यवहार हो रहा है उसका नाम है 'खड़ी बोली'। इस शब्द के मूल अर्थ के संबंध में कई प्रकार के अनुमान लगाए जाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि बाजारों में जिस भाषा का व्यवहार होता था वह भाषा व्यवहृत भाषा के आधार पर खड़ी हुई थी। इसलिए उसका नाम 'खड़ी बोली' हुआ। इसके प्रमाण में 'रेखता' शब्द प्रस्तुत किया जाता है। 'रेखता' के गानों में जिस भाषा का व्यवहार हुआ है वह खड़ी बोली है।

अतः इस 'रेखता' शब्द पर ही पहले विचार कर लेना चाहिए। 'रेखता' शब्द फारसी के 'रेखतन्' धातु से बना हुआ है। इस धातु के दो मुख्य अर्थ हैं—डालना और बैठना। अतः 'रेखता' का अर्थ हुआ 'डाली हुई' या 'बैठी हुई'। कुछ लोगों ने पहला अर्थ लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जो भाषा पहले डाली हुई, फेंकी हुई अर्थात् पड़ी हुई थी वही जन-समाज से उठाकर साहित्य-क्षेत्र में जब खड़ी की गई या खड़ी हुई तब खड़ी बोली कहलाई। ऐसे मत वालों के अनुसार बोलचाल की अपरिष्कृत भाषा पृथक् थी और साहित्य की पृथक्। किंतु बात ऐसी नहीं है। हिंदी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों के मिश्रण से एक भाषा बनी थी, जिसमें मुसलमानी जमाने में गजलें या गान लिखे जाते थे। वही भाषा 'रेखता' कहलाती थी और उन गानों को भी 'रेखता' कहते थे। आगे चलकर रेखता नाम त्याग दिया गया और वह उर्दू कहलाने लगी। 'उर्दू' से भेद करने के लिए देशी भाषा का नाम, जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों का धड़ल्ले के साथ प्रयोग नहीं होता था, 'हिंदी', 'भाखा' या 'खड़ी बोली' पड़ गया। यदि रेखता का अर्थ 'बैठी हुई' या 'जमी हुई' अर्थात् 'पुष्ट'

लिया जाय तो 'रेखता' और 'खड़ी बोली' शब्दों का समन्वय स्थापित हो सकता है।

'खड़ी' या हिंदी' के लिए एक शब्द और प्रयुक्त होता है, वह है 'नागरी' शब्द। पश्चिम में अर्थात् मुरादाबाद, मेरठ आदि प्रांतों में शिष्ट भाषा के लिए **'नागरी'** शब्द का व्यवहार होता है—केवल लिपि के लिए नहीं, भाषा के लिए भी। इसका भी अर्थ है—'नगर की भाषा' या 'शिष्ट समाज की भाषा'। बहुत संभव है कि 'नागर' अपभ्रंश से उद्भूत होने के कारण ही 'नागरी' नाम चलता हो। शिष्ट भाषा के लिए 'नागरी' शब्द का प्रयोग भी बतलाता है कि 'खड़ी बोली' में 'खड़ो' शब्द 'खरी' (परिष्कृत) का ही दूसरा रूप है।

आजकल एक शब्द भाषाविज्ञान के भीतर और चल पड़ा है। वह है **उच्च हिंदी या परिष्कृत हिंदी (हाई-हिंदी)**। ग्रंथों में व्यवहृत होनेवाली और संस्कृत का कुछ अधिक सहारा लेनेवाली भाषा को ही लोग परिष्कृत हिंदी या ग्रांथिक भाषा मानते हैं। किंतु बात ऐसी नहीं है कि ग्रंथों में व्यवहृत होनेवाली भाषा व्यावहारिक भाषा से सर्वत्र भिन्न या परिष्कृत ही होती हो। अँगरेजी, बँगला, गुजराती सभी भाषाओं में यह बात देखी जा सकती है। हिंदी में अभी इस प्रकार का भेद नहीं आया है कि ग्रंथों और व्यवहार की भाषा को पृथक् पृथक् घोषित कर दिया जाय अतः यह भेद व्यर्थ जान पड़ता है।

उर्दू

यहीं पर 'उर्दू' के संबंध में भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। 'उर्दू' शब्द का अर्थ है 'सैनिक हाट'। सैनिक हाट में जिस भाषा का व्यवहार होता था उसे 'उर्दू बोली' कहते थे। धीरे धीरे विदेशियों में यह बोली फैली और आगे चलकर इसमें रचनाएँ भी होने लगीं और इसका नाम 'उर्दू भाषा' पड़ गया। इससे स्पष्ट है कि मूल में यह भाषा हिंदी ही है और उर्दू के आरंभिक कवियों ने इसे हिंदी, हिंदवी या हिंदुई वचन आदि कहा भी है। कहीं कहीं इसे 'भाखा' भी कहा

गया है। आगे चलकर इसमें अरबी-फारसी के विदेशी शब्द भी अधिक मात्रा में रखे जाने लगे और इसमें होनेवाली रचना विदेशी रंग-ढंग पकड़ने लगी। धीरे धीरे यह भाषा विदेशी शब्दों, प्रयोगों और शैलियों से ऐसी बँधी कि यह हिंदी के प्रवाह से अलग होकर अपना पृथक् ही अस्तित्व बना बैठी। उर्दू मूल में हिंदी ही है, यह बात इसके क्रियापदों और कुछ प्रत्ययों से अब तक प्रमाणित होती है। इस भाषा को अरबी-फारसी रंग-ढंग से छाने-छोपने का काम किस प्रकार समय समय पर हुआ इसे हिंदी के विद्वान् दिखला चुके हैं।[1] हैदराबाद (दक्षिण) से निकलनेवाले पुरानी उर्दू-कविता के संग्रहों से, जो 'शहपारे' नाम से प्रकाशित हो रहे हैं, सिद्ध होता है कि पहले उन रचनाओं में किस प्रकार प्राकृत, अपभ्रंश आदि के शब्दों का ठीक उसी प्रकार व्यवहार होता था जिस प्रकार हिंदी-कविता में। पुराने हिंदी-शब्दों से परिचित न होने के कारण संग्रहकारों ने कैसे कैसे गोते खाए हैं इस पर स्वतंत्र निबंध लिखने की आवश्यकता है।

यों तो उर्दू-साहित्य के धनी-धोरी उर्दू का आरंभ उसी समय से मानने लगे हैं जब दारयवहु का सिंध पर आक्रमण हुआ था, पर कोई ऐतिहासिक या भाषाविज्ञानी इसे नहीं मानता। उर्दू का उद्भव वस्तुतः दक्षिण में ही हुआ है। दक्षिण में मुसलमानी बादशाहों ने जब राज्य स्थापित कर लिए तब इन्हीं राज्यों की छत्र-छाया में उर्दू का विकास हुआ। यह तो निश्चित है कि वे जो भाषा ले गए थे वह दिल्ली प्रांत की ही भाषा अर्थात् हिंदी या खड़ी बोली थी। जिन 'हिंदवी वचनों' में अमीर खुसरो अपनी चलती रचनाएँ कर चुके थे वे ही दक्खिन में जाकर विकसित हुए। आरंभ में इनका स्वरूप बोलचाल की ठेठ हिंदी के निकट था, पर आगे चलकर अरबी-फारसी के शब्द लादे जाने लगे। बात यह थी कि वहाँ मुसलमानों के साथ जो हिंदी गई वह चारों ओर

---

१. देखिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल का फैजाबाद हिंदी-साहित्य-संमेलन वाला भाषण—हिंदी और हिंदुस्तानी।

द्राविड़ या हिंदी से इतर आर्यभाषाओं से घिरी हुई थी। सामी संस्कृति के हामी मुसलमानों को, बोलचाल को चलती हिंदी से विच्छिन्न हो जाने के कारण, अरबी-फारसी ही अनुकूल प्रतीत हुई, जिस पर धर्म ने भी रंग चढ़ाया। दक्षिण भारत की यही उर्दू 'दखिनी' कहलाती है। यों तो इसमें भाषा-संबंधी भेद बहुत सा दिखाई पड़ता है, पर इसमें कर्ता के 'ने' चिह्न का प्रयोग सकर्मक क्रिया के सामान्य-भूतकाल में नहीं होता यह बहुत बड़ी भिन्नता है।

'वली', जिनका पूरा नाम शम्सवली उल्ला था, विक्रमीय अठारहवीं शती के मध्य में दिल्ली आए और 'उर्दू' का रंग दिल्ली में जमने लगा। आरंभ में 'वली' की रचना 'दखिनी' का पुराना रूप लेकर बहुत कुछ स्वाभाविक शैली पर चलती रही, पर आगे चलकर इन्होंने भी अपना रंग ढंग बदल दिया और अरबी-फारसी के विदेशी शब्द अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में लाद दिए। बहुत से लोग इन्हें ही उर्दू का जन्मदाता कहते हैं। दिल्ली की उर्दू 'देहलवी' कहलाती है। मुगल-साम्राज्य के पतन से और विदेशी आक्रमणों से दिल्ली का रंग उखड़ गया, इसलिए उर्दू का अखाड़ा लखनऊ में खुला। यहाँ नवाबों के आश्रय में यह अखाड़ा खूब जमा। 'दखिनी' में जो प्रकृत प्रवाह था वह दिल्ली में आकर बदल चुका था, लखनऊ में पहुँचकर उसने पूरी उलटी गति पकड़ी। अरबी-फारसी के शब्द इतने अधिक लदे कि उर्दू हिंदी से बहुत दूर जा पड़ी। दिखावट, सजावट, कारीगरी आदि की अधिकता से भाषा में बनावटीपन बहुत आ गया। दिल्ली और लखनऊ के संप्रदायों में शब्द, प्रयोग, मुहावरों और लिंगभेद के झगड़े प्रायः होने लगे और होते रहते हैं। दिल्ली-संप्रदाय में जिस प्रकार परिष्कृत भाषा किले के भीतर की ही समझी जाती थी उसी प्रकार लखनऊ-संप्रदाय में नवाबों के इर्दगिर्द की। नवाबी सल्तनत की समाप्ति के बाद लखनऊ का समाज भी विच्छिन्न हो गया और उर्दू के शायरों का कोई अच्छा आश्रयस्थान नहीं रह गया। बाद में मुर्शिदाबाद आदि इनके छोटे छोटे कई केंद्र बने। अब उर्दू अपना विदेशी रंग-ढंग

से भरा साहित्य लिए हिंदी ही क्या, भारत की समस्त समृद्ध आर्य-भाषाओं से पृथक् हो गई है। इसमें विदेशी संस्कृति इतनी समा गई है कि यह साहित्य ही नहीं भाषा की शैली भी भारतीयों के लिए अजनवी बना बैठी। साहित्य में बुलबुल, चमन, नरगिस, कोहकाफ, दजला, फरात आदि विदेशी प्रतीक या वर्ण्य विषय ही अधिक चलते हैं, कोयल, चातक, रमणीय वनस्थली, कमल, चंपा, चमेली, मालती, हिमालय, विंध्य, गंगा, यमुना आदि के दर्शन दुर्लभ ही नहीं, असंभव भी हो गए हैं। भाषा में शब्दों के बहुवचन, विभक्तिचिह्न, पदावली आदि विदेशी ही बढ़ रहे हैं। शायर, मकान, अखबार आदि के बहुवचन शुअरा, मकानात, अखबारात होंगे, शायरों, मकानों, अखबारों नहीं। 'असल में' 'बनारस से' आदि के स्थान पर 'दर असल', 'अज़ बनारस' ही लिखेंगे। संप्रति सभी भारतीय भाषाओं की प्रवृत्ति संस्कृत से शब्द लेने की है, ऐसा करना तो दूर रहा हिंदी के जो तद्भव या ठेठ शब्द थे वे भी उर्दू से बहुत कुछ निकाल डाले गए और जो हैं वे भी धीरे धीरे हटाए जा रहे हैं। अतः उर्दू एक तरह की किताबी भाषा हो गई है।

हिंदुस्तानी

अँगरेजों के भारत पर अधिकार कर लेने के अनंतर देश की वास्तविक भाषा का प्रश्न उठा। कुछ लोगों के प्रयत्न से फारसी के साथ साथ अदालतों में उर्दू का प्रवेश हो गया था। इसके बहुत पहले अँगरेजों ने हिंदी और उर्दू दोनों को व्यवहृत भाषा के रूप में ग्रहण कर लिया था। ईसाई मिश्नरियों के बाइबिल के अनुवाद पहले हिंदी में फिर उर्दू में प्रकाशित हुए थे। आगे चलकर शासन-कार्य में काम देने योग्य व्यावहारिक भाषा की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई। उसका नाम अँगरेजों ने **'हिंदुस्तानी'** रखा।

इधर राजनीतिक दृष्टि से उर्दू-हिंदी का झगड़ा व्यर्थ ही खड़ा कर दिया गया है। इसमें राजनीति का दंभ भरनेवाले भी संलग्न हुए।

उर्दूवालों की ओर से अब कहा जाने लगा है कि देश की लोकभाषा वस्तुतः उर्दू है, यद्यपि अपने गुणों के कारण कठिन अरबी फारसी शब्दों से रहित हिंदी स्वतः और बहुत पहले ही लोकभाषा के रूप में गृहीत हो चुकी है। राजनीतिक क्षेत्र में मेल-मिलाप के यत्न में लगे रहनेवाले नेता इस उद्योग में लगे हुए हैं कि हिंदी और उर्दू नाम हटकर **'हिंदुस्तानी'** नाम से एक ऐसी भाषा प्रचलित हो जिसमें दोनों भाषाओं के शब्दों का ग्रहण हो। राजनीतिज्ञों के कूद पड़ने से भाषा का प्रश्न दिन दिन उलझता जा रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि हिंदी और उर्दू संप्रति दो विभिन्न भाषाओं का रूप धारण कर चुकी हैं। इन दोनों के पार्थक्य की घोषणा आज से पचासों वर्ष पहले राजा लक्ष्मणसिंह कर चुके हैं। यदि केवल पार्थक्य का ही प्रश्न होता तो संभव था कि दोनों भाषाओं में मिलनेवाले सामान्य शब्दों के आधार पर कोई मार्ग निकल भी सकता। किंतु इन दोनों भाषाओं में संस्कृतियों का भेद भी स्पष्ट लक्षित होता है जो इनमें प्रस्तुत साहित्यों से प्रत्यक्ष है।

उर्दू जिस प्रकार अरबी-फारसी के शब्दों को अपनाती है उसी प्रकार अरबी अर्थात् सामी संस्कृति को भी और हिंदी जिस प्रकार 'भारती' (संस्कृत) के शब्दों की ओर आवश्यकता-वश झुकती है उसी प्रकार इसका साहित्य भी भारतीय संस्कृति का अवलंबन करता है। फल यह हुआ है कि इन दोनों भाषाओं में एक ही अर्थ के लिए प्रयुक्त होनेवाले शब्दों में भी स्पष्ट भेद दिखाई देता है। 'प्रणाम' और 'सलाम' का एक ही अर्थ नहीं है। 'पाणि-ग्रहण' (बिहारी का 'हथलेवा') या गँठबंधन' और 'निकाह' से एक ही स्थिति का बोध नहीं होता। 'धर्म' और 'मजहब' में 'जमीन-आसमान' का ही नहीं 'आकाश-पाताल' का अंतर है। इधर देशप्रेम की झोंक में 'हिंदुस्तानी' के नाम पर जिस प्रकार की भाषा राजनीतिक क्षेत्र में व्यवहृत हो रही है उसमें जान-बूझकर उर्दू से चुराए हुए अरबी-फारसी के शब्दों का अत्यधिक व्यवहार हो रहा है। इस प्रकार विदेशी शब्दों से ही यह

नकली भाषा नहीं लादी जा रही है इस पर जाने या अनजाने विदेशी संस्कृति भी लद रही है। एक ओर तो तुर्कों ने अपनी 'तुर्की भाषा' से अरबी-फारसी का एक एक शब्द निकाल बाहर किया तथा ईरानियों ने अपने देश की फारसी से विदेशी 'अरबी' शब्दों को देश-निकाला दे दिया और दूसरी ओर उर्दू से अरबी-फारसी के विदेशी शब्दों को निकालने का प्रयत्न न करके उलटे भारत की लोक-भाषा 'हिंदी' में 'हिंदुस्तानी' नाम की आड़ में जान-बूझकर विदेशी शब्दों का आह्वान किया जा रहा है। इसी से इस प्रवृत्ति को कुछ लोग 'देशद्रोह' तक कहते हैं।

बाँगरू

पंजाब का दक्षिण-पूर्वी भाग 'बाँगर' कहलाता है। इस स्थान की भाषा 'बाँगरू' नाम से प्रसिद्ध है। इस भाषा में व्रजभाषा, राजस्थानी और पंजाबी का मिश्रण पाया जाता है। इसी का नाम 'जाटू' भी है, बाँगरू की कुछ प्रवृत्तियाँ खड़ी बोली में भी मिलती हैं।

व्रजभाषा

व्रजभाषा का हिंदी में बहुत बड़ा महत्त्व है। हिंदी का अधिकांश प्राचीन वाङ्मय व्रजभाषा में ही है। पर व्रज की बोली से काव्य की भाषा कुछ भिन्न है। सामान्य काव्यभाषा के रूप में ही नहीं, शब्दसंग्रह में भी भेद हो गया है। काव्यभाषा में व्रज के ठेठ शब्द बहुत अधिक नहीं हैं; प्रत्युत अन्य प्रांतों के शब्दों का भी स्वतंत्रतापूर्वक विधान होता आया है, शब्द ही नहीं प्रयोगों का भी। इसी से 'दास' ने कहा कि व्रजभाषा (काव्यभाषा) का ज्ञान केवल व्रजवास से ही नहीं होता उसमें रचना करनेवाले कवियों की रचनाओं से भी होता है। इस स्थान पर व्रजभाषा से तात्पर्य 'बोली' से है, साहित्य की भाषा से नहीं। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इसका विकास शौरसेनी प्राकृत से हुआ है।

कन्नौजी और बुंदेली

कन्नौजी भाषा इटावा से प्रयाग तक फैली है। इसमें गीतों तथा

कुछ अन्य कविताओं का थोड़ा ही साहित्य पाया जाता है। यह ब्रज-भाषा से बहुत मिलती-जुलती है। बुँदेली बुँदेलखंड तथा उसके आस-पास की भाषा है। बुँदेली में कुछ साहित्य भी है। केशवदासजी ने वैसे ही बुँदेली-मिश्रित ब्रज में कविता की है जैसे आगे चलकर कवियों ने अवधी-मिश्रित ब्रज में रचना की। बुँदेली के बहुत से शब्द और प्रयोग अन्य भाषाओं में भी फैल गए हैं। 'छूना' को बुँदेली में 'छोना' बोलते हैं।[1] कुछ शब्दों में 'उ' के स्थान पर 'इ' की यह प्रवृत्ति इसका भेदक लक्षण है; जैसे झूमना का झोमना। आयबी, जायबा, खायबी इत्यादि में 'बी' से अंत होनेवाला भविष्यत् का रूप इसी बोली का है, जो ब्रज ही क्या, तुलसी द्वारा अवधी में भी प्रयुक्त हुआ है।[2] 'सहित' के अर्थ में 'स्यौं', जो केशव में बहुत मिलता है, इसी बोली का है और ब्रजभाषा के अन्य कवियों द्वारा भी समय समय पर व्यवहृत हुआ है।

पूर्वी हिंदी

पूर्वी हिंदी का विकास अर्धमागधी प्राकृत से हुआ है। अर्धमागधी में शौरसेनी और मागधी दोनों की कुछ कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं। यही कारण है कि पूर्वी हिंदी में भी ब्रजभाषा और बिहारी की कुछ कुछ विशेषताओं का समावेश है। इस पर ध्यान न रखने से कैसा भ्रम होता है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण अभी थोड़े दिन हुए मिला था। जायसी की 'पद्मावत' और तुलसी का 'मानस' दोनों ही पूर्वी हिंदी अर्थात् अवधी में लिखे गए हैं। पश्चिम और पूर्वी दोनों प्राकृतों की विशेषताओं से युक्त होने के कारण इनकी भाषा में ब्रज की भी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। इससे धोखा खाकर हिंदी के एक पुराने वैयाकरण ने घोषणा की कि जिसे 'अवधी' कहते हैं वह वस्तुतः 'ब्रजभाषा' ही है। इसके लिए उन्होंने उक्त ग्रंथों से ब्रज की विशेषताएँ छाँटकर दिखाईं।

---

१. घनआनँद कैसे सुजान हौ जू जेहि सुखत सींचि न छाँह छियो।

२. ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई।

पर दोनों में सबसे स्पष्ट अंतर यह है कि 'ने' चिह्न का प्रयोग पूर्वी में होता ही नहीं, पश्चिमी अर्थात् व्रज में होता है और कभी कभी नहीं भी होता, खड़ी में अवश्य होता है।

पूर्वी हिंदी की अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी तीन शीखाएँ हैं। अवधी के भी दो भेद हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी अवधी ही मूल अवधी है, जो गोंड़ा, फैजाबाद आदि पूर्वी प्रदेशों की बोल-चाल है। पश्चिमी अवधी बैसवाड़े आदि पश्चिमी प्रदेशों में चलती है। यह व्रजभाषा से पूर्वी की अपेक्षा अधिक प्रभावित है। तुलसी का 'मानस' पश्चिमी अवधी का रूप अधिक लिए हुए है। रामललानहछू, जानकी-मंगल और पार्वतीमंगल में उन्होंने पूर्वी का प्रयोग किया है। जायसी की 'पदमावत' में पूर्वी का आधार विशेष है। यह भेद सर्वनाम के रूपों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पश्चिमी अवधी में शौरसेनी के अनुकूल ओकारांत रूप सो, जो, को चलते हैं, पर पूर्वी में मागधी के अनुकूल एकारांत रूप ते (से), जे, के। 'बघेली' अवधी ही है, थोड़ा उच्चारण का ही भेद दिखाई देता है। स्पष्ट अंतर केवल दो स्थानों में दिखाई पड़ता है। भूतकाल में बघेली में 'ते' का योग भी दिखाई पड़ता है, जैसे—तयँ या तैँ रहे या रहते। भविष्यत् में ब' के स्थान पर, 'ह' की प्रवृत्ति है; जैसे अवधी 'देखबौं' के स्थान पर बघेली 'देखिहौं'। इस प्रकार बघेली पश्चिमी अवधी के निकट है। 'छत्तीसगढ़ी' पर भी पास-पड़ोस की भाषाओं का प्रभाव पड़ा है, पर अवधी के कुछ पुराने शब्द इसमें तो बने हैं, किंतु अवधी में सुनने को भी नहीं मिलते। एक उदाहरण लीजिए। जायसी ने 'पदमावत' में चींटे या चींटी के अर्थ में 'चाँटा' या 'चाँटो' का व्यवहार किया है—

नियरे दूर फूल जस काँटा। दूरि जो नियरे, जस गुड़ चाँटा।

छत्तीसगढ़ी में चाँटा' 'चींटे' ही नहीं 'चींटी' के लिए भी चलता है।

हिंदी की उपभाषाओं में भिन्नता

हिंदी के अंतर्गत जिन जिन भाषाओं का ग्रहण होता है उनका भेद समझ लेना आवश्यक है। सबसे पहले उर्दू और आधुनिक हिंदी

(खड़ी बोली) को लीजिए। इन दोनों में संप्रति भेद यह है कि पहली विदेशी अरबी-फारसी लिपि में लिखी जाती है और दूसरी नागरी लिपि में। पहली में जिस प्रकार अरबी-फारसी के शब्दों का ग्रहण अधिक होता है उसी प्रकार व्याकरण का बंधन भी विदेशी ही होता जा रहा है। दूसरी में स्वभावतः संस्कृत-शब्दों का ग्रहण अवश्य अधिक हो रहा है, पर संस्कृत-व्याकरण का उतना प्रभाव नहीं पड़ रहा है। इसका कारण यह है कि उर्दू और हिंदी का मूल एक होते हुए भी, उर्दू उन लोगों के बीच पलती रही जिनका अधिक संबंध अरबी-फारसी से था और हिंदी उनके हाथों से सँवरती रही जिनका अधिक संबंध संस्कृत से। फल यह हुआ कि उर्दू में साहित्य का निर्माण अधिकांश क्या, पूर्णांश विदेशी संस्कृति से लद गया और हिंदी में संस्कृत लदते लदते भी लद तो न सकी, पर उसने भारतीय संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधित्व हिंदी को अवश्य दे दिया। हिंदी में तो अरबी-फारसी शब्दों का ग्रहण अब भी है, पर उर्दू से संस्कृत के शब्द अब भी चुन चुनकर निकाले जा रहे हैं। प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों में जैसी भाषा दिखाई पड़ी, हिंदीवालों ने उसका कभी विरोध नहीं किया, पर प्रेमचंद की जो रचनाएँ उर्दू में हुईं उनमें संस्कृत के शब्दों का उसी अनुपात में क्या, एकदम व्यवहार नहीं है। हिंदी में संस्कृत से बने हुए अव्यय इधर अवश्य लिए गए; जैसे, येन केन प्रकारेण, अगत्या, फलतः, सर्वशः, किं बहुना आदि, किंतु संस्कृत के विभक्ति-चिह्न, उपसर्ग एवं प्रत्यय की अधिकता नहीं हुई। उधर उर्दू में 'से' की जगह 'अज़' ने दखल जमाया। 'में' की जगह 'दर' या 'फ़िल' ने कदम रखे। 'का की के' आदि संबंधबोधक विभक्तियों की जगह 'ए' ने छीनी। इस प्रकार 'बनारस से', 'लखनऊ से' के बदले 'अज़ बनारस', 'अज़ लखनऊ' का शोर बढ़ा। 'असल में' को 'दर अस्ल' होना पड़ा। इसे हिंदी की बोलचाल में अविभक्तिक समझकर लोग फिर से चिह्न लगाते और 'दर असल में' बोलते हैं। 'मकान-मालिक' या 'मकान का मालिक' 'मालिके मकान' बन बैठा। शब्दों का बहुवचन भी विदेशी रंगत में रँगा गया।

'खबर' का बहुवचन 'अखबार' हुआ और 'समाचार-पत्र' के अर्थ में चला, इसे हिंदी ने ग्रहण कर लिया, पर इसका बहुवचन उर्दू 'अखबारात' बनाती है और हिंदी 'अखबारों'। दोनों का वाक्य-विन्यास भी पृथक् पृथक् हो गया है। मियाँ इंशा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखते हुए यह प्रतिज्ञा की थी कि इसमें 'हिंदवी छुट और किसी बोली की पुट' न आने दूँगे, पर फारसी ढंग का वाक्य-विन्यास उनकी रचना में आ ही गया। उर्दू में विदेशी वाक्य-विन्यास बहुत चलता है। यह दो बातों में दिखाई पड़ता है; एक तो विशेषण या विशेषणवत् प्रयुक्त वाक्य-खंड का न्यास पीछे करने में, दूसरे वाक्य में कर्ता को क्रिया के पास बिठाने में। हिंदी में कहेंगे—'काशी में हिंदी की तीन पाठशालाएँ चल रही हैं'। उर्दू में यों भी बोलेंगे—'काशी में तीन पाठशाले (उर्दूवाले 'पाठशाला' को पुंलिंग ही बोलते या लिखते हैं) हिंदी के चल रहे हैं।' इसी प्रकार हिंदी में कहेंगे—'मैं ने आपके यहाँ से लाई हुई दोनों पुस्तकें पढ़ लीं' उर्दू में यों भी बोलेंगे—'दोनों किताबें आपके यहाँ से लाई हुई, मैं ने पढ़ लीं।'

अब खड़ी बोली और ब्रजभाषा का भेद देखिए। ये दोनों ही पश्चिमी भाषाएँ हैं, अतः दोनों में बहुत अधिक समानता है। इन दोनों में 'ने' चिह्न चलता है। खड़ी बोली में तो अब 'ने' चिह्न अनिवार्य हो गया है, पर ब्रज में यह लुप्त भी रहता है। किंतु इसके अनुसार सकर्मक क्रिया के सामान्यभूत का रूप अर्थात् 'कर्मणिप्रयोग' ज्यों का त्यों रहता है; जैसे, 'उसने मिठाई खाई' (खड़ी), 'वाने मिठाई खाई' (ब्रज); 'उसने देखा' (खड़ी), 'वाने देख्यो' या 'वा देख्यो' (ब्रज)। इन दोनों में शब्दों को दीर्घांत रखने की प्रवृत्ति है। भेद यही है कि खड़ी में आकारांत रूप होते हैं तो ब्रज में ओकारांत। यह बात पुंलिंग संज्ञाओं, विशेषणों, सर्वनामों (संबंधकारक), साधारण क्रियाओं और भूत कृदंतों में स्पष्ट दिखाई देती है। जैसे—झगड़ा–झगड़ो, प्यारा–प्यारो, मेरा–मेरो, देना–देनो, खाया–खायो, जायगा–जायगो इत्यादि। इसी प्रकार 'इ' या 'उ' के अनंतर 'आ' का उच्चारण दोनों को सह्य नहीं–

शृगाल = सियार = स्यार; केदार = किआर = कियार=कियारी (स्त्रीलिंग) = क्यारी; कुमार = कुवाँर = क्वारा। खड़ी के कालवाचक क्रियापद भूत या वर्तमान कालबोधक कृदंत के रूप हैँ, अतः विशेषण हैँ। केवल वास्तविक क्रिया 'है' होती है। इसी से उनमेँ लिंग-वचन के अनुसार रूप बदलते हैँ—चलता, चलती, चलते अथवा गया, गई, गए। पर व्रज मेँ 'चलै, चलौ, चलौँ' ऐसे तिङंत रूप भी होते हैँ। खड़ी मेँ केवल आज्ञा और विधि मेँ ऐसे रूप दिखाई पड़ते हैँ—चले, चलो, चलूँ, वर्तमान-काल मेँ नहीँ। सविभक्तिक बहुवचन मेँ खड़ी 'ओँ' प्रत्यय लगाती है और व्रज 'न'; जैसे, घोड़ोँ को (खड़ी), घोड़ान को या घोड़न को (व्रज)। कारण या हेतुकारक मेँ सविभक्तिक रूप खड़ी मेँ साधारण क्रिया से बनता है—चलने से, पर व्रज मेँ भूतकालिक रूप मेँ–'चले तेँ'। साधारण क्रिया का रूप खड़ी मेँ 'ना' से ही अंत होनेवाला (आना) होता है, पर व्रज मेँ—आवनो, आवन और आयबो तीन रूप होते हैँ।

व्रज का स्पष्ट भेदक लक्षण खड़ी की आकारांत पुंलिंग संज्ञाओँ और विशेषणोँ का ओकारांत रूप है। पर आकारांत रूप भी अपवाद-स्वरूप मिलते हैँ। वस्तुतः ये शब्द स्वार्थ मेँ आकारांत प्रत्यय लगने से बने हैँ। कारकचिह्न लगने से इनके रूप बदलते नहीँ और न कभी ये ओकारांत ही होते हैँ। वे प्रत्यय हैँ 'रा' (खड़ी मेँ 'ड़ा') और 'आ'। रा—हियरा, जियरा। आ—हरा, लला, भैया। क्रिया के विचार से खड़ी मेँ लीजिए, दीजिए आदि रूप आज्ञा और विधि मेँ ही आते हैँ, पर व्रज मेँ ऐसे रूपोँ का व्यवहार वर्तमान और भविष्यत् मेँ भी होता है। इसका कारण यही है कि प्राकृत की परंपरा व्रज मेँ सुरक्षित है। प्राकृत मेँ 'ज्ज' या 'ज्जा' से अंत होनेवाले क्रियापदोँ का व्यवहार विधि, वर्तमान और भविष्यत् तीनोँ मेँ होता रहा है, कुछ वैयाकरण तो इस प्रत्यय का व्यवहार भूतकाल मेँ भी मानते हैँ अर्थात् एक प्रकार से वे सभी लकारोँ मेँ इनका प्रयोग विहित ठहराते हैँ।[1] व्रज मेँ 'जै' या

---

१. वर्तमाना-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा। वर्तमानाया भविष्यन्त्याश्च विध्यादिषु च विहितस्य प्रत्ययस्य स्थाने ज्ज ज्जा इत्येतावादेशौ भवतः। अन्ये

'ए' से अंत होनेवाले रूप तो मिलते ही हैं (शोभिजै, घोरिए आदि), 'यत' से अंत होनेवाले रूप भी मिलते हैं (मानियत, जानियत आदि), जिनमें 'त' वर्तमान का ही प्रत्यय है। व्रज में खड़ी के 'हो' धातु के भूतकाल के रूप ध्यान देने योग्य हैं। हुतो, हतो रूप तो चलते ही हैं, इनका घिसा रूप हो' भी चलता है, जो स्त्रीलिंग में 'ही' और बहुवचन में 'हे' हो जाता है। संयुक्त क्रिया के रूप में यह बुँदेली में 'तो, ते, ती, तीं' हो जाता है, 'ह' निकल जाता है। व्रजकाव्य में इनका प्रयोग बुँदेली से ही आया है, ठीक वैसे ही जैसे उसके 'स्यौं' (सहित के अर्थ में) और 'आयबी' 'जायबी' आदि भविष्यत्काल के 'बी' से अंत होनेवाले प्रयोग आए हैं।

अवधी के संबंध में कहा जा चुका है कि इसके पूरब-पछाहँ के विचार से दो भेद होते हैं और पछाहीं रूप व्रज के निकट पड़ते हैं। पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं का स्पष्ट भेदक लक्षण सर्वनामों में दिखाई देता है, जिसे प्राकृत के वैयाकरणों ने भी निर्दिष्ट किया है। पश्चिमी भाषा में जहाँ एकवचन के रूप सो, जो, को आदि होते हैं वहाँ पूर्वी में से (ते), जे, के आदि। पश्चिमी अवधी पश्चिमी रूपों को भी ग्रहण करती है। कारकचिह्न लगने पर इसमें भी व्रज की भाँति ताकर, जाकर, काकर रूप होते हैं। पर 'केर' चिह्न लगने पर पूर्वी अवधी की भाँति तेहिकेर, जेहिकेर, केहिकेर रूप होते हैं। यहाँ 'हि' विभक्ति लगने पर भी ते, जे, के ज्यों के त्यों हैं। कविता में 'तिहि, जिहि, किहि' रूप कवियों की कृपा है। पश्चिमी अवधी में व्रज या खड़ी की भाँति 'न' से अंत होनेवाले साधारण क्रिया के रूप चलते हैं; जैसे, उठन, बैठन आदि, पर पूर्वी में 'ब' से अंत होनेवाले रूप उठब, बैठब इत्यादि हैं। कारकचिह्न या दूसरी क्रिया जुड़ने पर पश्चिमी अवधी में 'नांत' रूप बना रहता है; जैसे, उठन काँ, बैठन माँ, चलन लाग, उड़न चहो

स्त्वन्याशामपीच्छन्ति। होज। भवति। भवेत्। भवतु। अभवत्। अभूत। बभूव। भूयात्। भविता। भविष्यति। अभविष्यत वेत्यर्थः।—हेमचंद्र।

इत्यादि, पर पूर्वी में वर्तमानकाल का तिङंत रूप होता है; जैसे, उठै काँ, बैठै माँ, चलै लाग, उड़ै चहौ इत्यादि। पश्चिमी अवधी में अन्य-पुरुष एकवचन की भविष्यत् क्रिया 'है' से अंत होती है; जैसे, उठिहै, बैठिहै, चलिहै इत्यादि, पर पूर्वी में 'हि' से; जैसे, उठिहि, बैठिहि, चलिहि इत्यादि; इन्हीं के घिसे रूप 'उठी, बैठी, चली' हैं। 'ह' के हटने से बची हुई 'इ' से दीर्घ संधि हो गई है।

भूतकालिक क्रिया का आकारांत रूप अवधी की बोलचाल में दो स्थानों पर मिलता है एक तो उत्तमपुरुष बहुवचन (सकर्मक) में; जैसे, हम खावा, हम दिहा इत्यादि और दूसरे अन्यपुरुष एकवचन (अकर्मक) पुंलिंग में; जैसे, ऊ गवा, ऊ आवा इत्यादि। कविता में पुरुषभेदमुक्त रूप भी मिलते हैं; जैसे. मैं जो कहा रघुबीर कृपाला (उत्तमपुरुष), जो तुम कहा सो मृषा न होई (मध्यमपुरुष), कहा बालि सुनु भीरु पिय (अन्यपुरुष)। शुद्ध अवधी में क्रिया कर्ता के अनुसार ही चलती है। यहाँ तक कि लिंग और वचन भी उसी के अनुसार होते हैं। तुलसी और जायसी दोनों ने भूतकालिक क्रिया के कर्ता के लिए अकर्मक में तो पश्चिमी अवधी के जो, सो, को रखे हैं, पर सकर्मक क्रिया में एकवचन जेहि, तेहि, केहि और बहुवचन जिन, तिन, किन। एक एक उदाहरण लीजिए—तुलसी—(१) सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा, (२) तेहि तब कहा करहु जलपाना। जायसी—(१) जो जाकर सो ताकर भयऊ, (२) केइ यह बसत बसंत उजारा ? कर्मणि-प्रयोग के रूप में ही इनका ग्रहण समझना चाहिए। तेहि आदि के ये रूप वस्तुतः पूर्वी अवधी के न होकर अपभ्रंश के हैं और तृतीया की विभक्ति के साथ प्रयुक्त हैं। पछाहीं 'सो' आदि के बदले इनका ग्रहण अवधी के मेल में अधिक दिखाई पड़ने के ही कारण किया गया जान पड़ता है। तुलसी और जायसी दोनों के ग्रंथों में कर्मणि-प्रयोग के रूप देखकर ही थोड़े दिन हुए एक प्रसिद्ध वैयाकरण ने अवधी को भी व्रजभाषा ही मान लेने की घोषणा की थी और 'अवधी' नाम तक को व्यर्थ बतलाया था। बात यह है कि व्रज बहुत दिनों से काव्यभाषा रही और हिंदी के कवि के

लिए व्रजकाव्य का अवलोकन भी अपेक्षित रहा है, अवधी में रचना करते समय इसी से व्रज के प्रयोग भी उसी प्रकार आपसे आप या सुभीते के लिए गृहीत हो गए हैं जैसे व्रज में अवधी के प्रयोग सुभीते के लिए आगे चलकर गृहीत हुए। घनानंद 'व्रजभाषा-प्रवीन' थे, पर अवधी के शब्द या, क्रियापद उनकी रचना तक में जहाँ तहाँ मिलते ही हैं – 'मोहिं तुम एक तुम्हैं मो सम अनेक आहिं'। बिहारी की भाषा बहुत साफ समझी जाती है पर उसमें आहि, जेहि, तेहि, जिमि, तिमि इत्यादि पूर्वी रूप तो मिलते ही हैं, 'चितई' का विलक्षण प्रयोग भी दिखाई पड़ता है—'चितई ललचौहैं चखनि'। अब 'चितई' को या तो अकर्मक क्रिया का प्रयोग मानिए, या 'कहा' के स्थान पर 'कही' का जैसा स्त्रीलिंग प्रयोग व्रज की बोलचाल में चलता है वैसा ही 'चितई' का भी समझिए अथवा यह कहिए कि यह पूर्वी है। उन्होंने 'लखना' क्रिया का भी ऐसा ही प्रयोग किया है—'पति रति की बतियाँ कहीं, सखी लखी मुसकाय'। पिछले काँटे 'रत्नाकर' जी ने सरस्वती से अपने को 'घनआनंद, बिहारी' बनाने की प्रार्थना ही नहीं की, बहुत कुछ वैसा ही बना भी डाला, पर उनकी रचना में पूर्वी प्रयोग भरे पड़े हैं। अवधी में व्रजभाषा या खड़ी के भी जो प्रयोग मिलते हैं उनका कारण कवियों की स्वच्छंदता है। इतना अवश्य कहना पड़ता है कि तुलसी ने जितने पश्चिमी प्रयोग 'मानस' में रखे हैं जायसी ने 'पद्मावत' में उतने नहीं। जायसी ने अपने को कर्मणि-प्रयोग से प्रायः बचाया है। तात्पर्य यह कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन काव्यग्रंथों को हाथ में लेते समय सावधानी की आवश्यकता है।

खड़ी की भूतकालिक क्रिया में जहाँ य-श्रुति होती है वहाँ अवधी में व-श्रुति। इसी से खड़ी के पाया, आया, खाया का इसमें क्रमशः पावा, आवा, खावा होता है, कहीं कहीं ('जाना', होना' में) व-श्रुति भी नहीं होती, अतः गा, भा रूप भी हो जाते हैं।[1] अवधी के भूतकालिक

[1] इधर खड़ी के गद्य में जाएँगे, आएगा, खाएगी इत्यादि के लिए जावेंगे, आवेगा, खावेगी इत्यादि रूप अवधी के प्रभाव से ही चल पड़े हैं—

लव्वंत रूपों में पुरुष, लिंग, वचन से विकार नहीं होते—कीन्ह, दीन्ह, बैठ इत्यादि। कविता में कभी कभी लव्वंत रूप प्रत्यय नोचकर वर्तमान में भी रख दिया जाता है; जैसे, कह दसकंध कौन तैं बंदर। अवधी में ओकारांत रूप नहीं होते, इसलिए दीन्हेउ, गयउ इत्यादि रूप व्रज के ही हैं, जिनका व्रज के अनुकूल खिंचा रूप दीन्ह्यो, गयो इत्यादि होता है। जहाँ सकर्मक भूतकाल के पश्चिमी रूप लिए भी गए हैं वहाँ ओकारांत के स्थान पर आकारांत रूप ही रखे गए हैं; जैसे, फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा।

अवधी में संबंध के चिह्न ध्यान देने योग्य हैं। ये तीन हैं—कै, कर और केर। तुलसी ने कै या कइ का प्रयोग स्त्रीलिंग में करके इनमें लिंगभेद भी किया है। 'कर' का प्रयोग वस्तुतः सर्वनामों में होता है—जेकर, तेकर या जेहिकर, तेहिकर इत्यादि। पश्चिमी अवधी में 'केर' चलता है और उसमें स्पष्ट लिंगभेद है। बैसवाड़ी का य-श्रुतियुक्त रूप 'क्यार' इसी से बना है। इसके लव्वंत रूप ही अवधी के हैं। व्रज का ओकारांत रूप 'केरो' बोलचाल में नहीं है, कविता में कहीं कहीं दिखाई पड़ता है। इसमें लिंगभेद प्राकृतकाल से ही होता आया है और यह संस्कृत 'कृत' या 'कृते' से उद्भूत माना जाता है। काव्यग्रंथों में 'हि' या 'हिं' से युक्त रूप प्राकृत-अपभ्रंश की परंपरा के कारण मिलते हैं। हि, हिं या ह अपभ्रंश में षष्ठी की विभक्ति है जो सभी कारकों में आती है। यह 'ह' संज्ञाशब्दों से तो हट गया, पर सर्वनामों में अभी तक चिपका है—अवधी, व्रज, खड़ी तीनों में; जैसे, तेहिसन, इन्हें उन्हें इत्यादि। यही बात क्रियाओं के 'हि' या 'हु' प्रत्यय की भी समझनी

शुद्ध खड़ी में पहले ही रूप चलते हैं। य-श्रुति के विशेष आग्रही और व्याकरण की एकरूपता के अत्यधिक पक्षपाती इन्हें जायेंगे आयेगा, खायेगी लिखेंगे। ऐसे रूप विधि और आज्ञा तथा भविष्यत् में ही चलते हैं जो अवधी के वर्तमान तिङंत के रूप हैं। खड़ी में भविष्यत् के 'गा' को हटाने से जो रूप बचता है वह वर्तमान का ही है।

चाहिए। 'करिहहिं, करहु इत्यादि पुराने रूपों की रक्षामात्र हैं, इनके बोलचाल के रूप करिहै, कहौ इत्यादि ही होते थे। इन्हें करिहइ या करउ लिखने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि अवधी में ऐ और औ का उच्चारण 'अइ' और 'अउ' ही होता है। पश्चिमी हिंदी की भाँति 'अय या अव' सा नहीं। पश्चिमी हिंदी (खड़ी और व्रज) में केवल 'य' और 'व' के पहले इन संयुक्त स्वरों का उच्चारण अब भी सुरक्षित है, पर पुस्तक पढ़कर भाषा का उच्चारण करनेवाले ऐसे स्थलों पर भी 'य' या 'व' श्रुतियुक्त ही उच्चारण करते हैं, जो बड़ा ही कर्णकटु होता है; जैसे, गैया या कन्हैया का उच्चारण गइया या कन्हइया न करके गयया या कन्हयया का सा करना अथवा कौवा या हौवा का उच्चारण कउवा या हउवा न करके कववा या हववा का सा करना। खिंचा उच्चारण करने से ही इनका 'व' हटकर 'अ' हो गया है। अब कौवा, हौवा ने अपना वेश बदलकर कौआ, हौआ रूप धर लिया है क्योंकि दो 'व' के एक साथ उच्चरित करने में मुँह बनाना पड़ता है। पुस्तकी ज्ञानवाले तो 'गैया' या 'भैया' को भी गयआ या भयआ ही बोलने लगते हैं, पर लिखने में इन रूपों का चलन नहीं हुआ है।

शब्दरूप अवधी में प्रायः लघ्वंत ही होते हैं और शब्द के मध्य में भी फैले रूप ही पाए जाते हैं, पश्चिमी की भाँति खिंचे नहीं। पश्चिमी का 'ब्याह' अवधी में 'बियाह' हो जाता है (करिय बियाह सुता-अनुरूपा)। इसी प्रकार पश्चिमी में 'य' और 'व' की प्रवृत्ति है और पूर्वी में 'इ' और 'उ' की। खिंचाव और 'य' और 'व' की रुचि के कारण पश्चिमी में तो ह्याँ, ह्वाँ (यहाँ, वहाँ) रूप होते हैं और ढिलाव तथा 'इ' और 'उ' के अपनाव के कारण पूर्वी (अवधी) में इहाँ, उहाँ रूप चलते हैं। बिहारी ने तो एक ही पंक्ति में दोनों प्रकार के रूप रख दिए हैं—ह्याँ तैं ह्वाँ ह्वाँ तैं इहाँ नेकौ धरति न धीर। पश्चिमी के अनुसार 'ह्याँ' नहीं तो 'इहाँ' को 'यहाँ' तो लिखना ही चाहिए। यही बात क्रियापदों की है। व्रज में 'य' और अवधी में 'इ' ही चलता है; जैसे, व्रज में आय, जाय; आयहै, जायहै (अथवा

ऐहै, जैहे ; उच्चरित रूप अयहै, जयहै) और अवधी मैं आइ, जाइ ; आइहै, जाइहै (अथवा ऐहै, जैहै ; उच्चरित रूप अइहै, जइहै)। व्रजकाव्य मैं भी जो 'इ' वाले रूप मिलते हैं उनका कारण पुरानी कविता मैं तो प्राकृत रूपों का अनुगमन या रक्षामात्र है और पिछले काँटे की कविता मैं अवधी का संपर्क।[1]

लघ्वंत शब्दरूप के अतिरिक्त स्वार्थबोधक 'वा', 'या' अथवा 'आ' और 'ना' का प्रयोग भी अवधी मैं है। 'या' का प्रयोग स्त्रीलिंग मैं ही होता है। 'ना' के पूर्व कहीं कहीं 'औ' भी जुड़ जाता है। उदाहरण लीजिए—घोड़, घोड़वा, घोड़ौना ; नार (नारी), नरिया, नरीवा ; सुगना, बिधना। घोड़वा, घोड़ौना मैं 'ओ' का उच्चारण ह्रस्व है। कारकचिह्न लगाने पर इनके रूप मैं विकार नहीं होता। तीनों भाषाओं के कारकचिह्नों की सारिणी नीचे दी जाती है—

कारक	खड़ी बोली	व्रजभाषा	अवधी
कर्ता	×, ने	×, ने	×, ×
कर्म	को	को (कौं या कों)	के, काँ, कहँ (पुराना)
करण	से	सों, तें	से, सन
संप्रदान	को	को (कौं या कों)	के, काँ, कहँ (पुराना)
अपादान	से	तें	से
संबंध	का (की, के)	को (की, के)	कर, कै (क),[2] केर
अधिकरण	मैं, पर	मैं, मों, पै (पर)	मैं, माँ, महँ (पुराना), पर

१. उदाहरणों को छोड़कर खड़ी, व्रज और अवधी का भेद अधिकतर स्वर्गीय शुक्लजी कृत 'बुद्धचरित' की भूमिका के आधार पर लिखा गया है।

२. यह रूप बोलचाल का है। काव्य में भी इसका प्रयोग हुआ है—पितु आयसु सब धरम क टीका (तुलसी), ओहि क पानि राजा पै पीया (जायसी)। चरणांत में तुलसी ने 'क' का 'का' कर दिया है, इसे खड़ी का रूप नहीं समझना चाहिए ; जैसे, बेदविहित संमत सबही का।

भाषाविज्ञान के अंग

भाषा का आरंभ कब से हुआ, कैसे हुआ, इसका निश्चित पता नहीं चलता। अतः इस संबंध में अनुमान के अतिरिक्त और कोई क्रिया सहायक नहीं होती। बच्चे आज दिन जिस प्रकार भाषा सीखते हैं उसी के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि पुराकाल में मनोगत भावों की अभिव्यक्ति आंगिक चेष्टाओं द्वारा होती रही होगी। आगे चलकर व्यक्त ध्वनियों से भी उस क्रिया में सहायता मिली और अंत में लिखित भाषा का उद्भव हुआ। भाषा का आरंभ शब्दों से नहीं हुआ, वाक्यों से ही हुआ। भाषा की युति (यूनिट वाक्य ही है। शब्द, प्रत्यय, अक्षर आदि रूपों में उसके भेद सुभीते के लिए कर लिए गए हैं। जहाँ एक 'शब्द' ही प्रयुक्त होता है और किसी भाव या विचार को वहन करता है वहाँ वह वाक्य ही होता है, बिना भाव या विचार के वह कोई प्रयोजनीय अर्थ नहीं रख सकता। बच्चा जिस समय पूरा अर्थबोधक वाक्य न कहकर केवल एक शब्द ही कहता है उस समय वह पूरे वाक्य के प्रतिनिधि के रूप में ही उस शब्द का उच्चारण करता है। 'पानी' मात्र कहने से उसका तात्पर्य 'पानी पिलाओ' ही होता है। 'म्याऊँ' कहकर वह यह बताता है कि 'बिल्ली म्याँव म्याँव कर रही है'।

ईश्वर ने वाणी की अद्भुत और अमोघ शक्ति मनुष्य को दी है और उसने उसका विस्तार करके यह प्रमाणित कर दिया है कि ज्ञानवान् मनुष्य ने उसके दान का सचमुच सदुपयोग किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बोलने की शक्ति ईश्वरप्रदत्त है और भाषा का निर्माण मनुष्य-समाज ने किया है। पर धार्मिक दृष्टि से अनेक धर्मवाले भाषा को भी ईश्वर की देन समझते आते हैं। भाषाविज्ञानी ऐसा नहीं मानते। वे यही मानते हैं कि भाषा क्रमशः चेष्टा और ध्वनि के अनंतर विकसित हुई है। यह आज संसर्ग से अर्जित की जाती है। भाषा का व्यवहार करनेवालों के बीच से हटाकर यदि कोई बच्चा जंगल में रख दिया जाय तो बड़ा होने पर भी वह या तो कुछ बोल

ही न सकेगा और यदि बोलेगा भी तो प्रत्येक पदार्थ या विषय के लिए वह अपनी नई संकेत-ध्वनि बनाएगा। बच्चा अनुकरण से ही भाषा सीखता है। वह किस प्रकार संकेतग्रह करता है और किस प्रकार प्रत्येक पदार्थ (व्यक्ति) और क्रिया का पृथक् पृथक् बोध करता रहता है इस पर संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों में बहुत अधिक शास्त्रार्थ हुआ है। ठीक इसी प्रकार इस पर भी विचार किया गया है कि शब्द को अर्थ की प्राप्ति किस प्रकार होती है, शब्द नित्य है या अनित्य आदि। स्फोटवाद का व्याकरण में विशेष महत्त्व माना गया है, जिसके अनुसार शब्द नित्य है और शब्द का अर्थ से नित्य संबंध है। किसी भी शब्द (ध्वनि) से कोई भी अर्थ लिया जा सकता है। यह व्यवहार करनेवाले और समझनेवाले की स्वीकृति पर निर्भर है।

जो शब्दसंपत्ति आज भाषा के रूप में हमें पूर्वजों द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है या होती है उसमें शब्दों का संचय और किसी विशेष ध्वनि से किसी अर्थ का संबंध किस प्रकार आरंभ में स्थापित हुआ इस पर यास्क ने विचार करके बतलाया है कि शब्दों के मूल में धातु हैं और इन्हीं धातुओं से क्रमशः शब्दराशि एकत्र हुई है। जिस प्रक्रिया से धातु का आदिम उद्भव समझाया जाता है उससे सभी बातों का उत्तर आधुनिक भाषाविज्ञानी को नहीं मिलता। अतः उनके लिए वह अन्य कारणों की खोज करता है। मोक्षमूलर ने शब्दों की आदिनिर्मिति के लिए कई प्रकार की प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। ये मुख्यतः चार हैं—(१) अनुध्वनिमूलक या 'बाउ-बाउ' का सिद्धांत; जैसे 'कौवा' बोला होगा 'का का' और उसका नाम रख लिया गया होगा 'काक'। (२) मनोवेगमूलक या 'पूह पूह' का सिद्धांत; इसके अनुसार धिक् धिक् या छी छी, ओ हो आदि मनोभावव्यंजक शब्दों की उत्पत्ति हुई। (३) प्रभावमूलक या 'डिंग-डॅग' का सिद्धांत; आरंभ में कुछ पदार्थों या स्थितियों ने मनुष्य पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह सहसा कुछ ध्वनि कर बैठा, चमचम, दमदम आदि शब्द इसी कोटि के हैं। (४) श्वास-प्रश्वासमूलक या 'यो-हे-हो' का सिद्धांत;

कोई भारी वस्तु उठाते हुए श्रमजीवी लोग अपने श्रम को हलका करने के लिए कुछ ध्वनियाँ किया करते हैं; जैसे, पत्थर ढोनेवाले कहते हैं 'छमाना छे'। इस ढर्रे पर भी बहुत से शब्दों का निर्माण हुआ होगा। स्वीट महोदय ने इसी आधार पर अनुकरण, भावाभिव्यंजन और संकेत या निर्देश तीन को शब्दों का उत्पादक माना है।

विकास-क्रम से जब भाषा बन जाती है और लोक उसका शासन भली भाँति करने लगता है तब व्याकरण से उसकी व्यवस्था होती है। व्याकरण उसका अनुशासन करता है। शब्दभेद आदि का निरूपण व्याकरण द्वारा होता है। वह केवल भाषा का साधु प्रयोग बतलाता है। वह यह नहीं बतलाता कि ऐसे रूप क्यों होते हैं, इनके बनने का कारण क्या है आदि आदि। निर्वचन या निरुक्त में शब्दों के मूल, उनके अर्थ, अर्थांतर, कारण आदि का भी विचार होता है। अतः एक प्रकार से आधुनिक भाषाविज्ञान में निरुक्त की ही विकसित प्रक्रिया दिखाई देती है। यह कहा जा चुका है कि निरुक्त में भारतीय आचार्य यास्क ने धातु को ही मूल माना है। उसमें शब्द के रूप और अर्थ दो बातों का विचार किया है। रूप के विचार में बतलाया गया है कि धातु से शब्द किस प्रकार बनते हैं और उन्हें किस विधि से कोई रूप मिलता है। जहाँ किसी धातु से शब्दरूप न मिले वहाँ वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार और वर्णनाश के अनुसार विचार करना चाहिए और धातु के मूल अर्थ से दूसरे अर्थ में शब्द मिले तो उस धातु में अर्थातिशय का योग मानना चाहिए। इस प्रकार निरुक्त पाँच प्रकार का माना गया है।[1]

---

1. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥
वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्णविपर्ययः।
षोडशादौ विकारः स्याद्वर्णनाशः पृषोदरे॥
वर्णविकारनाशाभ्यां धातोरतिशयेन यः।
योगः स उच्यते प्राज्ञैर्मयूरभ्रमरादिषु॥

शब्द मेँ एक तो उसका अर्थ होता है और दूसरे उसकी ध्वनि। अतः आधुनिक भाषाशास्त्र के अर्थविचार और ध्वनिविचार दो प्रधान अंग हैँ। ध्वनि से ही शब्द के रूप का भी संबंध है। अतः शब्द का रूपविचार भी उसका एक अंग है। शब्द के रूपोँ का संघटन वाक्य मेँ होता है और उससे भाषा की पूर्णता का आभास मिलता है। इससे वाक्यविन्यास भी भाषा का प्रयोजनीय अंग हुआ. अतः इसका एक अंग वाक्यविचार भी है। शब्दोँ के निर्माण के भीतर प्राचीन इतिहास की सामग्री भी पड़ी है, इस पर भी भाषाविज्ञानी विचार करते हैँ, अतः प्राचीन शोध भी भाषाविज्ञान का एक अंग है। इस प्रकार संप्रति भाषाविज्ञान के पाँच अंग माने जाते हैँ—अर्थविचार, ध्वनि-विचार, रूपविचार, वाक्यविचार और प्राचीन-शोधविचार। इन्हीँ का यहाँ क्रमशः संक्षिप्त विचार किया जाता है।

अर्थविचार

भाषा मेँ एक तो कुछ ध्वनियाँ होती हैँ जिनका उच्चारण किया जाता है और दूसरे उसमेँ कुछ अर्थ रहता है जिससे वक्ता का प्रयोजन होता है। उच्चारण और अर्थ इन दोनोँ मेँ से उच्चारण का संबंध शरीर या मुख्यतः जीभ से है और शब्द जिन अर्थोँ का बोध कराते हैँ उनका संबंध मन या मस्तिष्क से है। ध्वनियोँ का परिवर्तन देश की स्थिति से संबंध रखता है, अर्थात् वह बहुत कुछ भौगोलिक है। किंतु अर्थ का संबंध मन से है इसलिए वह मानसिक है। ध्वनिपरिवर्तन का मूल कारण इस प्रकार शारीरिक और भौगोलिक ठहरता है और अर्थ-परिवर्तन का मूल कारण मानसिक और वैयक्तिक। मस्तिष्क मेँ जितने संस्कारोँ की छाप पड़ी रहती है वे संस्कार एक-दूसरे से संलग्न होकर अर्थभेद उत्पन्न करते हैँ। मनुष्योँ का समूह इस प्रकार के परिवर्तनोँ को स्वीकृत करता चलता है इसीलिए ये बने रहते हैँ। बहुत से शब्द विशेष समय या घटनाओँ के द्योतक होते हैँ और चल पड़ा करते हैँ। 'टंक' और 'छतरी-सेना' ऐसे शब्द वर्तमान युद्ध के कारण प्रचलित हो गए हैँ।

बौद्धिक नियम

अर्थपरिवर्तन मेँ बुद्धिव्यापार किस प्रकार प्रवर्तित होता है, अर्थात् उसके नियम क्या हैँ, इस पर विचार करने की आवश्यकता है। परिवर्तन मेँ बहुत बड़ा प्रभाव साम्य का दिखाई देता है। पहले इसके लिए मिथ्या साम्य' शब्द का व्यवहार होता था परंतु अब 'मिथ्या' शब्द फालतू समझा जाता है। संस्कृत का द्विवचन साम्य के कारण व्यापक होते होते, अंत मेँ उठ ही गया। आरंभ मेँ एक प्रकार के या परस्पर विरोधी जोड़ोँ के लिए इसका व्यवहार होता था; जैसे नेत्रे, कर्णौ, हस्तौ, पादौ, पितरौ, भ्रातरौ, रामलक्ष्मणौ, सुखदुःखे, लाभालाभौ, जयाजयौ[1] आदि। आगे चलकर सिंहशृगालौ, वराहमहिषौ, शुकपिकौ, काककूर्मौ की नौबत पहुँची। फिर यह किन्हीँ दो के लिए प्रयुक्त होने लगा। प्राकृत आदि मेँ यह व्यर्थ समझा जाकर छोड़ दिया गया, बहुवचन से ही काम चलने लगा। साम्य से कैसे कैसे शब्द बन जाते हैँ, इसके उदाहरण लीजिए। संस्कृत मेँ रक्त से रक्तिमा, नील से नीलिमा आदि शब्द चलते हैँ, जिनमेँ 'इमा' (इमनिच्) प्रत्यय लगा है। हिंदीवालोँ ने 'लाल' (फारसी) से 'लालिमा' ही नहीँ, 'हरीतिमा' भी बना ली। संस्कृत शब्द 'हरित' है जो 'हरीत' हुआ और फिर उसमेँ 'इमा' प्रत्यय लगाया गया। मुखसुख और मनसुख के कारण संकरता उत्पन्न होती है। 'मानस-सरोवर' का 'मानसरोवर' इसी प्रकार हुआ है। मिलती-जुलती ध्वनिवाले शब्दोँ मेँ प्रायः भ्रम हो जाता है। 'विकास' ('वृद्धि' या 'फैलाव' अर्थ) के लिए 'विकाश' ('प्रकाश' के भाई) का प्रयोग हिंदी मेँ प्रायः होता है। 'बाह्य' (बाहरी) के लिए वाह्य (ढोने योग्य) खूब चलता है। संस्कृत मेँ इस पर एक श्लोक ही है।[2] जिसमेँ बतलाया गया है तालव्य 'श' और दंत्य 'स' का भेद न

---

१. सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।—गीता।

२. यद्यपि बहु नाधीषे पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलः शकलः सकृच्छकृत्॥

करने से एक ही आकार-प्रकार के शब्दों में बहुत बड़ा अंतर हो जाता है। जैसे 'स्वजन' का अर्थ है 'अपना व्यक्ति', 'पति' या 'कुटुंबी' (इसी से हिंदी का 'सजन' या 'साजन' बना), पर 'श्वजन' का अर्थ है 'चांडाल'; इसी प्रकार 'सकल' (सब) और 'शकल' (टुकड़ा), 'सकृत्' (एक बार) और शकृत् (पुरीष, मल)। वाक्यों में भी ऐसा व्यतिक्रम होता है; जैसे, 'मोहन, तुम और कृष्ण जाओ'। यहाँ 'जाओ' का संबंध 'तुम' से है, मोहन और कृष्ण से नहीं। शब्दों के अर्थ (लिंग आदि) में विकार या परिवर्तन पहले किसी एक ही व्यक्ति से होता है किंतु अधिक या बड़े लोग जिसका व्यवहार करने लगते हैं वह मान्य हो जाता है। हिंदी में संस्कृत-शब्दों का लिंग-परिवर्तन इसी प्रकार मान्य हो गया है। 'सुंदर' से बना 'सौंदर्य' तो पुंलिंग है पर 'समर्थ' से बना 'सामर्थ्य' शब्द हिंदी में स्त्रीलिंग में ही चलता है। 'व्यक्ति' शब्द को पुंलिंग हुए अभी थोड़े ही दिन हुए हैं। संस्कृत में यह स्त्रीलिंग है, 'अभिव्यक्ति' का प्रयोग 'अभि' की अगाड़ी के साथ स्त्रीलिंग में अब भी बना है, पर 'व्यक्ति' शब्द 'एक' के अर्थ में पुंलिंग प्रयुक्त होने लगा है। 'आत्मा' 'अग्नि', 'वायु' संस्कृत में पुंलिंग हैं। मुसलमानों के संसर्ग से इन्हों ने बहुत पहले स्त्रीलिंग रूप धारण कर लिया था। कुछ लोगों ने इन्हें पुंलिंग बनाने को 'वीरता' भी दिखाई, पर अब तक ये स्त्रीलिंग ही हैं।

इस प्रकार यह व्यक्तिगत जान पड़ता है, पर व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य स्थितियाँ भी परिवर्तन में सहायता करती हैं। अब अन्य स्थितियों पर भी विचार करना चाहिए। जब कोई शब्द एक भाषा से दूसरी भाषा में पहुँचता है तब भी अर्थ में परिवर्तन हो जाया करता है। अरबी में 'किवाम' शहद की तरह गाढ़ी मीठी चटनी को कहते हैं, हिंदी में 'किमाम' सुरती का ही होता है। अरबी में 'जुर्राफ' एक पशु होता है पर ब्रजभाषा के कवि उसको पक्षी ही मानते रहे हैं।[1] तुरकी में 'उज़बक'

१. मिलि बिहरत बिछुरत मरत दंपति अति रसलीन।
नूतन बिधि हेमंत की जगत जुराफा कीन॥—बिहारी।

तातारी को कहते हैँ, पर हिंदी मेँ उसका अर्थ है 'उजड्ड'। फारसी मेँ 'शेर' 'सिंह' के लिए आता है, हिंदी मेँ 'बाघ' के लिए। अँगरेजी मेँ 'रेल' 'पटरी' को कहते हैँ, हिंदी मेँ 'गाड़ी' को। विजातीय ही नहीँ सजातीय भाषाओँ मेँ भी यदि कोई शब्द यात्रा करता है तो भी अर्थांतर हो जाया करता है। संस्कृत का 'बाटिका' शब्द हिंदी के 'वाड़ी' (फुलवाड़ी) या 'बारी' (आम की बारी) मेँ अपने मूल अर्थ को बनाए हुए है। पर बँगला मेँ 'बाड़ी' का अर्थ है 'घर' और मराठी मेँ 'बाड़ा' का अर्थ है 'मुहल्ला', 'आश्रयस्थान' या 'धर्मशाला'। हिंदी मेँ 'बाड़ा' पशुओँ का होता है। हिंदी मेँ 'बेटा' प्यार की बोली है। पर अपने से छोटे किसी बंगाली को यदि 'बेटा' कहकर पुकारिए तो वह आपका सिर तोड़ देगा। वृक्षोँ और पशुओँ के नाम मेँ विशेष परिवर्तन हुआ करता है। यही अवस्था रंग और स्वाद की भी है। 'नील' का अर्थ हिंदी-कविता मेँ 'काला' भी लिया जाता है।[1] संस्कृत 'कटु' से हिंदी का 'कड़ुवा' या 'कड़ुआ' बना। पर हिंदी मेँ 'कड़ुआ' का अर्थ वही है जो संस्कृत मेँ 'तिक्त' का। हिंदी का 'तीता' 'तिक्त' से बना, पर इसका अर्थ वही है जो संस्कृत के 'कटु' का। परिस्थिति के कारण भी अर्थांतर हुआ करता है। 'पत्ता' शब्द 'पान' के खेल मेँ जो अर्थ व्यक्त करता है वही 'पान-पत्ता' कहने पर नहीँ।

शब्दशक्ति

भारतीय शास्त्र मेँ 'शब्दशक्ति' के नाम से 'अर्थप्रक्रिया' का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। उसमेँ अर्थ का विचार करते हुए यह

जगत जुराफा ह्वै जियत तज्यो तेज निज भानु।
रूसि रहे तुम पूस मेँ यह धौँ कौन सयानु॥—पद्माकर।

१. वस्तुतः कृष्ण और नील की एकता के कारण कवि लोग हैँ। कवि-समय मेँ अन्य वर्णों की भी एकता मानी गई है—कृष्णनीलयोः, कृष्णहरितयोः, कृष्णश्यामयोः, पीतरक्तयोः, शुक्लगौरयोरेकत्वेन निबन्धनं च कविसमयः।
—राजशेखर।

बतलाया गया है कि शब्द से अर्थ का कई प्रकार का संबंध होता है। एक तो शब्द और अर्थ का साक्षात् संबंध होता है। किसी शब्द के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है उस अर्थ (वस्तु) के किसी के द्वारा प्रत्यक्ष दिखाए जाने पर लोग दोनों का संबंध जान लेते हैं। आगे चल-कर कोश-व्याकरणादि की सहायता से भी जिस अर्थ का ज्ञान किसी विशेष शब्द के लिए होता है वह भी साक्षात् संकेतित ही होता है। यही किसी शब्द का 'मुख्यार्थ' कहलाता है। इसका ज्ञान जिस शक्ति के द्वारा होता है उसे 'अभिधा' नाम दिया गया है। मुख्यार्थ का दूसरा नाम इसी शब्द के आधार पर 'अभिधेयार्थ' भी है। उसका तीसरा नाम 'वाच्यार्थ' भी रखा गया है। जिस शब्द के द्वारा इस अर्थ का बोध होता है वह 'वाचक' कहलाता है। पर बहुत से ऐसे शब्द भी होते हैं जिनका आकार-प्रकार एक होता है, पर अर्थ भिन्न भिन्न होते हैं। ऐसे शब्दों के प्रसंगप्राप्त अर्थ के ज्ञान में अभिधा सहायक होती है। पर किसी विशेष अर्थ का बोध अनेक विधियों से होता है; जैसे, ऊपर 'पत्ता' शब्द भिन्न भिन्न प्रसंगों या प्रकरणों में भिन्न भिन्न अर्थ का बोध कराता है। ये विधियाँ अनेक मानी गई हैं—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यशब्दसंनिधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर आदि।[1] उदाहरण लीजिए—यदि कहा जाय कि 'शंख चक्र पद्म गदाधारी हरि दिखाई पड़े' तो 'हरि' शब्द का इस वाक्य में 'शंख चक्र' आदि के संयोग से 'विष्णु' ही अर्थ किया जायगा। 'हरि' शब्द के 'बंदर' आदि जो अन्य अनेक अर्थ होते हैं वे यहाँ न लगेंगे। अतः अनेक अर्थ रखनेवाला 'हरि' शब्द यहाँ 'संयोग' के द्वारा 'विष्णु' अर्थ में नियंत्रित हो गया। यदि कहा

१. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ —भर्तृहरि।

जाय कि 'ये शंख चक्र आदि से हीन हरि हैं' तो 'हरि' शब्द का अर्थ 'शंख चक्र' के विप्रयोग या वियोग से 'इंद्र' होगा। 'राम और कृष्ण के कुशल का समाचार पाकर लोग सुखी हुए' कहने पर 'राम' शब्द का अर्थ 'बलराम' करना पड़ेगा। 'कृष्ण' के साहचर्य से यहाँ 'राम' का अर्थ 'परशुराम' या 'दशरथपुत्र राम' नहीं हो सकता। 'राम-रावण में प्रचंड युद्ध हुआ' कहने से 'राम' शब्द का अर्थ, 'रावण' के साथ प्रसिद्ध विरोध होने से, 'दशरथपुत्र राम' ही करना होगा। 'अर्थ' का अर्थ है 'प्रयोजन'। 'मोक्ष के लिए हरि की स्तुति करनी चाहिए' कहने से 'हरि' शब्द का अर्थ 'विष्णु' लेना होगा। यहाँ 'मोक्ष' 'प्रयोजन' के कारण 'हरि' का यही अर्थ लगाना पड़ता है। किंतु 'हरि हितसहित राम जब जोहे। रमासमेत रमापति मोहे—(मानस)' कहने पर 'हरि' शब्द का अर्थ 'प्रकरण' के कारण 'घोड़ा' करना होगा। क्योंकि राम 'विवाह' करने के लिए जा रहे हैं और अन्य राजकुमार भी घोड़े पर सवार हैं। इस 'विवाह-प्रकरण' से यही अर्थ नियंत्रित होता है। 'मकरध्वज कुपित हो गया' कहने से 'मकरध्वज' का अर्थ 'कामदेव' करना पड़ता है, 'समुद्र' नहीं। क्योंकि 'कोप' काम का 'लिंग' अर्थात् 'चिह्न' है, समुद्र का नहीं हो सकता। 'करि-कर सरिस सुभग भुजदंडा' में 'कर' शब्द का अर्थ 'करि' की समीपता (अन्यशब्दसंनिधि) से 'सूँड़' ही करना पड़ता है। 'मधु से कोयल मतवाली हो गई' में 'मधु' शब्द का अर्थ 'वसंत' है। क्योंकि वसंत में ही कोयल को मतवाली करने की सामर्थ्य है। 'बिनु हरि-भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल' में 'हरि' शब्द का अर्थ 'भव से तारने' के 'औचित्य' से 'विष्णु' ('राम') ही होगा। 'आकाश में घनश्याम की छाई छटा' में 'घनश्याम' शब्द का अर्थ आकाश 'देश' के कारण 'बादल' ही होगा। 'प्रलय में हरि ही बचते हैं' कहने से 'हरि' का अर्थ प्रलय 'काल' के निर्देश से 'विष्णु' ही होगा। 'हमरी गति पति कमलनयन की जोग सिखैं ते राँड़े' में 'पति' शब्द स्त्रीलिंग होने से 'प्रतिष्ठा' ही अर्थ देगा। 'व्यक्ति' का अर्थ 'लिंग' (स्त्रीलिंग, पुंलिंग) है। 'स्वर' का प्रयोग वेदों में होता

है।[1] 'आदि' के अंतर्गत 'अभिनय' और 'उपदेश' का ग्रहण किया गया है। किसी बात को कहते समय हाथ, मुख आदि की चेष्टाओं से भी किसी अर्थ का निर्णय होता है। यही 'अभिनय' है। 'इती बड़ी हैं देहरी इते बड़े हैं द्वार' कहते समय 'देहली' की छुटाई व्यक्त करने के लिए हाथ की पाँचों उँगलियों को एकत्र करने की मुद्रा दिखाना और 'इते बड़े' पद के साथ उँगलियों को फैलाकर 'द्वार' का बड़ा होना बतलाना देखा जाता है।[2] कोई वस्तु लेकर उसे दिखाते हुए किसी अर्थ का बोध कराना 'उपदेश' है।

जहाँ मुख्यार्थ इन नियामकों के द्वारा भी प्रसंगानुकूल नहीं होता वहाँ दूसरी शक्ति द्वारा शक्य संबंध से अभिप्रेत (संभावित) अर्थ का ग्रहण होता है। इस शक्ति का नाम 'लक्षणा' है, इससे निकलनेवाला अर्थ 'लक्ष्य' होता है और जिस शब्द से यह अर्थ निकलता है उसे 'लक्षक' कहते हैं। लक्षणा के लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं—(१) मुख्यार्थ का बाध, (२) दूसरे अर्थ का मुख्यार्थ से योग जुड़ा होना) और (३) पारंपरिक रूढ़ि या किसी विशेष प्रयोजन के कारण उस अर्थ का निकलना। वस्तुतः तीसरी शर्त 'प्रयोजन' ही है। कुछ स्थानों पर प्रयोजन तक जाने की आवश्यकता नहीं रहती, इसका कारण यही होता है कि बहुत दिनों से वैसा प्रयोग होते होते 'रूढ़ि' बँध जाती है और वैसे प्रयोगों से तुरंत संभावित अथ निकल आता है; जैसे, 'बनारस

१. संस्कृत में 'इन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' का आख्यान प्रसिद्ध है। 'इंद्र-शत्रु' के स्वरभेद से दो अर्थ होते हैं—'इंद्ररूपी शत्रु' और 'इंद्र है शत्रु जिसका'। वृत्र के पुरोहित ने स्वर बदल दिया जिससे दूसरा अर्थ हो गया और वह मारा गया। बनारसी बोली में स्वरफेर से अर्थभेद होता है। 'उठ्' कहने से संबोधित व्यक्ति के प्रति अनादर या छुटाई का भाव प्रकट होता है, पर 'उठ' कहने से आदर, प्रेम या बड़प्पन का भाव।

२. मिलाइए 'बहवोऽर्था गम्यन्ते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च'।

—महाभाष्य।

धार्मिक है', 'कानपुर व्यापारी है', 'लखनऊ चिकनिया है' आदि प्रयोगों में 'नगरों' का व्यवहार 'नगरवासियों' के अर्थ में किया गया है। ऐसा प्रयोग करने की रूढ़ि पड़ गई है। यहाँ 'नगरवासियों' के लिए 'नगरों' का प्रयोग वस्तुतः 'समस्तता' को व्यक्त करने के प्रयोजन से होता है, पर यह प्रयोजन रूढ़ि के कारण दब गया है। प्रयोग की बहुलता से नौबत यहाँ तक पहुँचती है कि लक्ष्यार्थ को लेकर लक्षक रूप में जिन शब्दों का व्यवहार कभी चला था वे वाचक का ही काम देने लगते हैं; जैसे, 'कुशल' शब्द का प्रयोग पहले ऐसे व्यक्ति के लिए होता था जो कुशों को काट लाता था। कुशों में इतना चोखापन होता है कि चूकते ही उँगली चिर जाती है। अतः काटते समय सावधानी अपेक्षित होती है। इसी लिए 'कुशल' शब्द का प्रयोग 'चतुर' के लिए भी होने लगा। अब 'कुशल' शब्द कहते ही 'चतुर' अर्थ वाच्य के रूप निकल आता है। ऐसे शब्दों को 'लक्षक' कहना और इनमें 'रूढ़ि' को लक्षणा का हेतु मानना ठीक नहीं है। बात यह है कि प्रयुक्त शब्द में यह जानने की आवश्यकता होती है कि उसके किसी अर्थ में प्रयोग करने का हेतु कोई है या नहीं। प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त दूसरा होता है और प्रवृत्ति का निमित्त दूसरा। यदि शब्द किस प्रकार बना है इसे सोचकर उसके प्रयोग में गृहीत अर्थ का विचार करने लगेंगे तो बड़ी कठिनाई होगी।[1] 'दुहिता' शब्द पुत्री के लिए आता है। जो गृहस्थी में दुहने का काम करती थी उसे 'दुहिता' कहते थे। अब यदि 'जलपान' लानेवाली पुत्री को कोई 'दुहिता' कहें तो यहाँ 'लक्षणा' नहीं हो सकती। क्योंकि 'दुहिता' शब्द का अर्थ (मुख्यार्थ) 'पुत्री' हो गया है। इसलिए 'कुशल' की भाँति 'प्रवीण', 'उदार', 'द्विरेफ' आदि शब्दों में लक्षणा न होगी।

कहीं तो मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ के साथ लगा रहता है और कहीं नहीं। पहले प्रकार को अजहत्स्वार्था या अजहल्लक्षणा कहते हैं और दूसरे

---

१. देखिए 'साहित्यदर्पण'।

प्रकार को जहत्स्वार्था या जहल्लक्षणा। 'जहत्' का अर्थ है 'त्यागना'। इन्हीं का नाम क्रमशः उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा है। 'जब से ये चरण आए तब से यहाँ का महत्त्व बढ़ गया' में 'चरण' का अर्थ 'पैर' है, किंतु 'चरण' में 'महत्त्व' लाने की शक्ति नहीं, अतः मुख्यार्थ का बाध हुआ। फिर 'चरण' का अर्थ 'चरणवाला' करने से अर्थ संगत निकल आया। चरण' और 'चरणवाले' में अवयवावयवी-संबंध है। 'चरणवाले' के स्थान पर 'चरण' कहने में उसका बड़प्पन बतलाना प्रयोजन है। 'चरणवाला' अर्थ निकलने पर 'चरण' का अर्थ भी उसमें चिपका हुआ है। अतः लक्ष्यार्थ में मुख्यार्थ का भी 'उपादान' होने से यहाँ उपादान-लक्षणा हुई। 'बीच बास करि जमुनहिं आए' में 'जमुनहिं' का अर्थ 'यमुना नदी की धारा में' होता है। पर धारा में जा खड़ा होना संगत नहीं, अतः 'जमुना' का अर्थ 'यमुनातट' करना पड़ता है। यह अर्थ सामीप्य-संबंध से होता है। यहाँ 'जमुना' (धारा) ने अपना अर्थ एकदम त्याग दिया। धारा 'तट' लक्ष्यार्थ का उपलक्षण मात्र है। ऐसा कहने का प्रयोजन 'ठंढी वायु में पहुँचना' आदि है। 'उपलक्षण' के कारण इसे 'लक्षण-लक्षणा' कहते हैं। 'कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत परतिय चोरी' में धर्मशीलता' का अर्थ 'अधर्मशीलता' है, क्योंकि 'धर्मशीलता और 'पराई स्त्री चुराना' में समन्वय नहीं होता। यहाँ 'विपरीतता' के संबंध से ऐसा अर्थ किया गया है और अधर्मशीलता की 'अधिकता' बताना प्रयोजन है। 'धर्मशीलता' शब्द 'अधर्मशीलता' का उपलक्षण है, अतः यहाँ भी लक्षण-लक्षणा ही है। 'विपरीत' संबंध से लक्ष्यार्थ का बोध होने के कारण इसे 'विपरीत-लक्षणा' भी कहते हैं।

कहीं तो सादृश्य के कारण मुख्यार्थ के लिए लक्ष्यार्थ गृहीत होता है और कहीं सादृश्य के अतिरिक्त अन्य कारण से भी। पहली विधि को 'गौणी' और दूसरी को 'शुद्धा' कहते हैं। 'मुख-कमल समीप सजे थे दो किसलय से पुरइन के' में 'मुख' को 'कमल' कहा गया है। 'मुख' 'कमल' नहीं हो सकता, पर प्रफुल्लता आदि गुणों के कारण 'मुख' को

'कमल' कहा गया है। यहाँ 'कमल' का मुख्यार्थ है 'पुष्प विशेष', पर लक्ष्यार्थ है प्रफुल्लता, कोमलतादि गुणयुक्त वस्तु। सादृश्य-संबंध से ही ऐसा अर्थ किया जाता है। आह्लादजनक होना प्रयोजन है। अतः यहाँ गौणी लक्षणा हुई। कई साम्यमूलक अलंकारों में यही लक्षणा आधार होती है। जब कोई बड़ा छोटे से प्रसन्न होकर पीठ ठोंकता है—'तुम सिंह हो' या अप्रसन्न होकर डाँटता है—'तुम बैल हो' तो यही लक्षणा होती है। जब कहते हैं कि 'विद्या ही धन है' तो यहाँ 'विद्या' को 'धन' कहने में 'सादृश्य-संबंध' नहीं होता। 'विद्या' से 'धन' की प्राप्ति होती है। 'विद्या' कारण है और 'धन' कार्य। अतः कार्य-कारण-संबंध होने से यहाँ 'शुद्धा' लक्षणा होगी। अभिधेय के साथ लक्ष्य का अनेक प्रकार का संबंध हो सकता है—अंगांगिभाव, कार्य-कारण, तात्कर्म्य, सामीप्य, सादृश्य, समवाय आदि।[1] इनमें से सादृश्य के अतिरिक्त अन्य संबंधों से शुद्धा ही होगी। यदि सादृश्येतर सब संबंधों के अनुसार शुद्धा लक्षणा के भेद रखे जायँ तो न जाने कितने भेदों की कल्पना की जा सकती है।

आरोप और अध्यवसान के विचार से भी दो प्रकार की लक्षणाएँ कही गई हैं। जहाँ आरोप-विषय और आरोप्यमाण अर्थात् स्थूलरूप में उपमेय और उपमान का शब्द द्वारा कथन करके लक्षणा की जाती है वहाँ सरोपा और जहाँ केवल उपमान का ही कथन होता है, उपमेय उसी में छिपा रहता है वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। पहली 'रूपक' अलंकार का और दूसरी रूपकातिशयोक्ति का मूलाधार होती है। उदाहरण लीजिए—

लिखकर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा!
व्योम-सिंधु सखि, देख, तारक-बुद्बुद दे रहा!

---

१. लक्षणा के पाँच प्रकार इन संबंधों के विचार से भी कहे

अभिधेयेन संबंधात्सादृश्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥—भर्तृमित्र।

'व्योम' को 'सिंधु' कहने में मुख्यार्थ का बाध है, पर ताद्रूप्य के कारण 'व्योम' पर 'सिंधु' का आरोप किया गया है। 'व्योम' की गहनता, विस्तार आदि का सम्यक् बोध कराने के प्रयोजन से ही उसे 'सिंधु' कहा गया है। 'व्योम' और 'सिंधु' दोनों को शब्द द्वारा कह देने से सारोपा लक्षणा हुई। पर 'आयो घोष बड़ो व्यापारी' कहने में 'उद्धव' का शब्द द्वारा कथन न होने से और 'व्यापारी' (उपमान) का ही उल्लेख करने से यहाँ साध्यवसाना है। 'उद्धव' को 'व्यापारी' कहने से मुख्यार्थ का बाध है, पर तात्कर्म्य के कारण उन्हें ऐसा कहा गया है। उनमें पाखंड आदि की स्थापना करना ही प्रयोजन है।

लक्षणा में जो प्रयोजन रहता है वह व्यंजना वृत्ति के अंतर्गत है। ऐसा कहने से यह प्रश्न हो सकता है कि लक्षणा की प्राप्ति पहले होती है या व्यंजना की। उत्तर होगा—लक्षणा की ही। प्रयोजन का सम्यक् बोध भले ही बाद में व्यंजना द्वारा हो, पर उसका स्थूल आभास पहले ही मिल जाता है। रूढ़ि के संबंध में पहले ही कहा गया है कि उसमें भी प्रयोजन रहता है, पर वह प्रत्यक्ष नहीं रहता, व्यवहार की बहुलता से दब जाता है।[1] ध्यान देने पर उसका भी बोध होता है। अतः 'व्यंजना' पृथक् ही वृत्ति मानी जाती है। इससे निकलनेवाला अर्थ 'व्यंग्यार्थ' होता है और इसे व्यक्त करनेवाला शब्द 'व्यंजक' कहा जाता है। शब्द और अर्थ के आधार पर होने के कारण व्यंजना के दो मुख्य भेद होते हैं—शाब्दी और आर्थी। इनमें से शाब्दी व्यंजना के दो भेद होते हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला। इनका विचार पहले (पृष्ठ ११६) किया जा चुका है। आर्थी व्यंजना की प्रतीति के साधक वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसंनिधि, प्रस्ताव, देश,

---

१. तेन प्रयोजनस्यापि द्वैविध्यम्। किंचिद्धि सान्तरार्थपरिग्रहे प्रयोजनमनादिवृद्धव्यवहारप्रसिद्धयनुसरणात्मकत्वात् रूढ्यनुवृत्तिस्वभावम्। अपरं तु रूढ्यनुसरणात्मकं यत्प्रयोजनमुक्तं तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरगतस्य संविज्ञानपदस्य रूपविशेषस्य प्रतिपादनं नाम।—अभिधावृत्तिमातृका।

काल, चेष्टा आदि हैं। इनकी विशेषता से आर्थी व्यंजना होती है। एक उदाहरण लीजिए—

दृग लखिहैं मधुचंद्रिका, सुनिहैं कल धुनि कान।
रहिहैं मेरे प्रान घट, प्रीतम करौ पयान॥

यहाँ 'काकु' (विशिष्ट कंठध्वनि) से प्रिय का प्रयाण वर्जित किया गया है। 'विपरीत-लक्षणा' द्वारा जहाँ लक्षणामूला व्यंजना होती है वहाँ वाक्यगत शब्दों से मुख्यार्थ का बोध होता है, जैसा पहले दिखाया जा चुका है, पर यहाँ मुख्यार्थ के अनुपपन्न होने का अवसर ही नहीं आता। सीधे अर्थ से ही व्यंग्यार्थ निकल आता है। इसी से इस आर्थी व्यंजना के शब्दों का परिवर्तन पर्यायवाची शब्दों से हो सकता है। शाब्दी व्यंजना में शब्द-परिवृत्ति नहीं हो सकती। इसी से उसे शाब्दी कहते हैं।

इस अत्यंत संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि अर्थांतर या अर्थ-परिवर्तन पर हमारे यहाँ विस्तार के साथ विचार किया गया है। तीनों शब्दशक्तियों[1] में से अर्थपरिवर्तन का विशेष संबंध लक्षणा से है।

अर्थपरिवर्तन के प्रकार

अर्थपरिवर्तन में तीन स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं—(१) अर्थ का विस्तार, (२) अर्थ का संकोच और (३) अर्थ का अंतर। अर्थ-संकोच के उदाहरण अधिक होते हैं, अर्थविस्तार के कम। जब विशेष का प्रयोग सामान्य के लिए हो तब अर्थ का विस्तार समझना चाहिए, इसके विरुद्ध अर्थ का संकोच। संस्कृत में 'परश्वः' बीते हुए (भूतकाल) दिन के लिए आता था, पर हिंदी में उसीसे बने 'परसों' का प्रयोग आनेवाले दिन के लिए भी होता है। मराठी में 'गंगा' शब्द का व्यवहार 'नदी' के अर्थ में भी होता है। 'तैल' पहले 'तिल की चिकनाई' के लिए

---

१. 'तात्पर्य' नाम की एक वृत्ति नैयायिकों एवं मीमांसकों ने और मानी है, जिसे साहित्यज्ञों ने भी स्वीकृत किया है। अभिधा में ही उसका भी अंतर्भाव समझना चाहिए। वह वाक्यगत अभिधा ही है।

चला था, पर अब अलसी, आदि अन्य तेलहनों से निकली हुई चिकनाई के लिए भी चलता है। 'अमुक बड़ा रूपए-पैसेवाला है' कहने में 'रुपया' और 'पैसा' 'धन' के लिए प्रयुक्त हैं। अर्थसंकोच के उदाहरण लीजिए—संस्कृत में पहले 'मृग' का अर्थ 'पशु' था। 'मृगपति' और 'मृगराज' शब्द 'सिंह' के लिए इसी से आते हैं कि वह 'पशुओं का राजा' है। पर पीछे से इसका अर्थ 'हरिण' भी हो गया। मृगचर्म या मृगछाला मृगमरीचिका, मृगमद (कस्तूरी), मृगांक आदि शब्दों में 'मृग' का अर्थ 'हिरन' ही है। हिंदी की पुरानी कविता में 'मृग' का 'पशु' अर्थ में प्रयोग काव्य-परंपरा के ही कारण है (चित्रकूट के बिहँग मृग बेलि बिटप तृन-जाति—मानस)। हिंदी में 'मृग' शब्द स्वच्छंद रूप में 'हिरन' के ही लिए आता है। 'धान्य' पहले 'अनाज' को कहते थे, पीछे 'चावल' को कहने लगे। हिंदी में 'धान' का अर्थ भूसीयुक्त चावल है।[1] फारसी में 'मुर्ग' का अर्थ केवल 'पक्षी' है,[2] पर हिंदी में 'कुक्कुट' को ही 'मुर्गा' कहते हैं। 'अरबी' में 'खसम' का अर्थ था प्रतिद्वंद्वी या शत्रु, पर उर्दू और हिंदी में 'खसम' पति के लिए आता है। पुरानी रचना में यह 'स्वामी' या 'प्रभु' के अर्थ में भी आया है; खसम के खसम तु ही पै दसरत्थ के—कवितावली। 'शत्रु' का यह कैसा 'प्रभुत्व'! 'तार' पहले, लोहे आदि धातु का ही हुआ करता था, पर अब 'टेलिग्राफ' को भी 'तार' कहते हैं और 'बिजली' का भी 'तार' होता है। अर्थपरिवर्तन के दृष्टांत लीजिए—'गँवार' का मूल अर्थ है 'गाँव का रहनेवाला', पर अब इसका अर्थ 'मूढ़' या 'मूर्ख' हो गया है।

---

१. शस्यं क्षेत्रगतं प्रोक्तं सतुषं धान्यमुच्यते।
निस्तुषस्तंडुलः प्रोक्तः स्विन्नमन्नमुदाहृतम्॥

२. उर्दूवाले फारसी अर्थ में 'मुर्ग' का व्यवहार बराबर करते हैं—
क्या कम है मुर्गेकिब्लनुमा से य' मुर्गेदिल।
सिजदा उधर ही कीजिए जिधर य' मुहँ करे॥
—मीरदर्द।

इसे बहुत बड़ी गाली समझते हैं।[1] 'नागर' का अर्थ था 'नगर का रहनेवाला' पर अब इसका अर्थ है 'चतुर'। एक जाति के लिए भी इसका व्यवहार होता है। 'प्रवीण' का अर्थ पहले था मधुर वीणा बजानेवाला, अब इसका अर्थ होता है 'चतुर'। 'कुशल' का अर्थ पहले 'कुश काटनेवाला था' अब यह 'चतुर' का पर्यायवाची है। शिष्ट और अशिष्ट प्रयोगों के कारण भी अर्थांतर होता है; जैसे, 'गर्भिणी' और 'गाभिन' (केवल पशुओं के लिए); 'स्थान', 'थान' (देवी का थान या घोड़े का थान) और थाना (पुलिस का)।

अर्थपरिवर्तन के निम्नलिखित कारण होते हैं—(१) आलंकारिकता, (२) परिस्थिति-भेद (भौगोलिक, सामाजिक या वस्तुगत), (३) शिष्टता, (४) अमंगलवारण, (५) वक्रता, (६) भावावेश, (७) प्रचलन, (८) अशुद्ध प्रयोग, (९) अर्थ का अनिश्चय, (१०) धारणागत भेद, (११) शब्दगत विशेष तत्त्व की प्रधानता, (१२) गौण अर्थ का आगमन आदि।

(१) सरलता लाने के लिए वाणी में अलंकारों का प्रयोग करना पड़ता है। आलंकारिक प्रयोगों के कारण अनेक शब्द अपना मुख्य अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ भी ग्रहण कर लेते हैं। अपने यहाँ के शास्त्रों के अनुसार ऐसा अर्थ 'लक्षणा' शक्ति द्वारा संपन्न होता है; जैसे, मुख की मधुरता, रूप का लावण्य, दाँत खट्टा होना आदि। मुहावरों में इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। (२) अर्थ में परिवर्तन परिस्थितिवश भी होता है। इसे तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(क) भौगोलिक, (ख) सामाजिक और (ग) पदार्थगत। (क) जैसे वेद में 'उष्ट्र' शब्द का व्यवहार 'जंगली बैल' के लिए होता था, किंतु आगे चलकर इसका अर्थ 'ऊँट' हो गया। इससे पता चलता है कि जहाँ इसका अर्थ परिवर्तित हुआ वहाँ के लोग किसी ऐसे स्थान पर थे जहाँ ऊँट

---

१. उत 'गँ'कार मुहँ तें कढ़ी इत निकसी जमधार।
'वार' कहन पायो नहीं, भई करेजे पार॥

अधिक पाए जाते थे। (ख) 'वर' शब्द का अर्थ है 'जिसका वरण किया जाय', किंतु आज वरण करने की प्रथा नहीँ है, फिर भी यह शब्द 'दूल्हे' के लिए चलता है। 'ननंद' या 'ननांद' का प्राचीन अर्थ भाभी को सतानेवाली है, अब 'ननद' चाहे सताए चाहे लाड़ लड़ाए 'ननद' ही कहलाती है। 'दुहिता' पहले गाय दुहनेवाली (बेटी) को कहते थे, पर 'धीया' या 'धी' (दुहिता, धीआ, धीया, धिय, धी) से वह काम अब नहीँ लेते। (ग) 'ग्रंथ' शब्द का अर्थ है 'जिसमेँ गाँठ लगी हुई हो'। प्राचीन समय मेँ लिखे हुए पत्रोँ को डोर मेँ पिरोकर एक गाँठ बाँध दी जाती थी। इसी से इस प्रकार की पोथियाँ 'ग्रंथ' कहलाती थीँ। आज वह बात नहीँ है, किंतु यह शब्द चलता है। पहले 'भोजपत्र' या 'तालपर्ण' पर लिखते थे, अतः 'पत्र' और 'पर्ण' उनके लिए ठीक था, पर अब 'कागज' पर लिखते हैँ, किंतु 'पत्र' (चिट्ठी), 'पत्रा' (पंचांग), 'समाचार-पत्र', 'पोथी के पन्ने' आदि प्रयोग चलते ही हैँ (३) शिष्टता के कारण भी अर्थ मेँ परिवर्तन होता है। तहजीब या अदब का ध्यान रखनेवाले उर्दूदाँ से यदि पूछा जाय कि 'आप कहाँ रहते हैँ' तो वह छूटते ही कहेगा कि 'मेरा गरीबखाना लखनऊ है' और प्रश्न करेगा — 'हुजूर का दौलतखाना ?'। 'आदरार्थे बहुवचनम्' का प्रयोग इसी नियम से होता है। हिंदी मेँ 'आप' और 'दर्शन' शब्द बहुवचन मेँ चलते हैँ। (४) अमंगल-वारण के लिए भी अर्थांतर होता है अर्थात् जिन शब्दोँ का साहचर्य अमांगलिक प्रसंगोँ से हो उनके स्थान पर दूसरे मांगलिक शब्दोँ का व्यवहार किया जाता है। 'नमक' का नाम लेना बुरा समझा जाता है, इसलिए उसे 'रामरस' कहते हैँ। चमार 'मेहतर' (महत्तर = बड़ा) कहलाता है। धोबी को 'बरेठा' (वरिष्ठ = श्रेष्ठ) कहते हैँ। वैष्णवोँ के यहाँ मुसलमान 'बड़ी जाति के' कहलाते हैँ। 'मृत्यु' के स्थान पर 'देहावसान', 'कैलासवास' आदि का प्रयोग इसी से होता है। (५) वक्रता (आयरनी) लाने के लिए भी शब्दोँ का विशिष्ट अर्थ लेना पड़ता है; जैसे, 'द्विरेफ', जिसका मूल अर्थ है 'दो रेफ (ॅ)', किंतु यह प्रयुक्त होता

है 'भ्रमर' के लिए, क्योंकि इसका आकार दो रेफों की तरह हुआ करता है। अष्टावक्र, शुनःपुच्छ (कुत्ते की दुम, नाम), शुनःलांगूल (नाम) आदि ऐसे ही शब्द हैं। (६) भावावेश व्यक्त करने के लिए भी अर्थ में परिवर्तन होता है; जैसे, 'भयंकर' शब्द। इसका अर्थ है 'भय उत्पन्न करनेवाला', किंतु कभी कभी 'बड़े भारी' के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है; जैसे, 'भयंकर डील डौल'। 'वह हत्यारा है', 'वह तो देवता है', 'दिग्गज पंडित', धुरंधर विद्वान्' आदि प्रयोग इसी कारण चलते हैं। (७) समूह में से एक का प्रचलन हो जाने से भी विलक्षण प्रयोग होने लगते हैं; जैसे, 'स्याही' का अर्थ है 'काली', लिखने की तरल वस्तु अर्थात् मसि या रोशनाई। इसलिए नियमतः इसका प्रयोग केवल 'काली' के ही लिए होना चाहिए, किंतु लाल स्याही, हरी स्याही आदि प्रयोग बराबर होते हैं। (८) अज्ञानवश अशुद्ध प्रयोग भी चल पड़ते हैं। देवता पहले 'असुर' कहलाते थे, जिसका अर्थ है 'प्राणवाला'[1] पर आगे चलकर 'असुर' शब्द में 'अ' विपरीतार्थक उपसर्ग मान लिया गया और इसका अर्थ हो गया दैत्य, क्योंकि 'सुर' का अर्थ देवता किया गया। (९) शब्दगत अर्थ के अनिश्चय से भी बहुत से शब्द अपना मूल अर्थ त्याग कर दूसरा अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। त्रिवेदी, वाजपेयी, अग्निहोत्री, त्रिपाठी आदि शब्द केवल आस्पद बतलाते हैं। (१०) शब्दसंबंधी व्यक्तिगत धारणा में भिन्नता होने से भी अर्थ में परिवर्तन हो जाता है; जैसे, 'धर्म' शब्द का अब कोई निश्चित अर्थ नहीं रह गया है। (११) शब्द में किसी तत्त्व की प्रधानता होने से भी अर्थ बदल जाता है; जैसे, 'गंध' शब्द का अर्थ है 'वास', किंतु इसका प्रयोग 'बदबू' के अर्थ में होने लगा है। 'बू' की भी यही दशा है और 'वास' शब्द भी उस अर्थ में प्रयुक्त होता है। (१२) गौण अर्थ का अनजान में आगमन होने से भी अर्थ बदल जाता है। प्राचीन समय में 'घोड़े' सिंधु देश से आते थे, इसलिए वे 'सैंधव' कहलाने लगे।

---

१. असुः प्राणः स्मृतो विप्रैः तज्जन्मानस्ततोऽसुरः। —वायुपुराण ६।४।

ब्रज की पुरानी कविता मेँ 'तुर्की' शब्द इसी नियम के अनुसार 'घोड़े' के अर्थ मेँ प्रयुक्त हुआ है। 'सैंधव' (सेँधा) 'नमक' के लिए भी चलता है। 'साँभर' नाम झील के कारण दूसरे प्रकार के नमक का है।

अर्थविचार के नियमोँ का वर्गीकरण कठिन है। इसीलिए प्रत्येक शब्द के अर्थांतर के प्रकार मेँ मिश्रित पद्धतियाँ पाई जाती हैँ। लोग विभिन्न विधियोँ से इसका विवेचन भी करते हैँ।[1] पहले कहा जा चुका है कि अर्थांतर की विधियाँ लक्षणा के दायरे मेँ आती हैँ. इनमेँ से अधिकांश 'उपचार'[2] (साम्य) के अंतर्गत हैँ। अतः आधुनिक भाषा-विज्ञानियोँ के लिए वह विशेष ध्यान देने योग्य है।

ध्वनिविचार

भाषाविज्ञान मेँ ध्वनि का विचार थोड़े दिनोँ से ही होने लगा है, किंतु इस अंग का इतने दिनोँ मेँ ही बहुत विस्तार हो गया है। ध्वनि का विचार प्रयोगोँ द्वारा डेनियल जोँस नामक विद्वान् ने किया है, जिन्होँने इसके लिए बाजे के तवे (रेकार्ड) भी बनवाए हैँ। विभिन्न देशोँ की ध्वनियोँ को व्यक्त करने के लिए रोमी लिपि की मध्यस्थता से अब सार्वभौम लिपि भी बना ली गई है।

पशु-पक्षियोँ की अपेक्षा मनुष्य का वाक्करण तथा वाणी विशिष्ट होती है। इसका कारण है मुख मेँ जिह्वा की विलक्षण स्थिति। मनुष्य के कंठ के भीतर टेँटुए की सीध मेँ एक अंडाकार पेटी होती है, इसे 'कंठपिटक' (लारिंग्स) कहते हैँ। इसमेँ दो पतली पतली स्वरतंत्रियाँ या घोषतंत्रियाँ (वोकल कार्ड्स) होती हैँ, जो आगे की ओर जुड़ी होती हैँ पर पीछे की ओर नहीँ। ये फीते की भाँति पतली और

---

१. यहाँ श्रीतारापूरवाला के अनुसार पूर्वोक्त प्रकारोँ का निर्देश किया गया है।

२. उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेद-प्रतीतिस्थगनमात्रम्। —साहित्यदर्पण।

वाक्करण
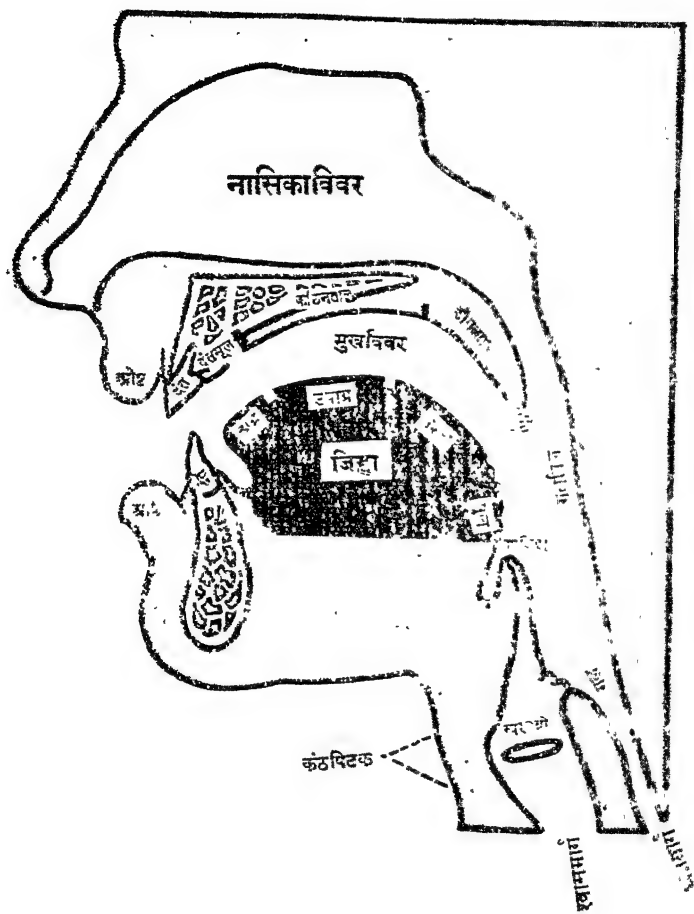
मुख में जब साँस का पूर्णतः अवरोध होता है तो दूसरे प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं। अवरोध का कारण जिह्वा उत्पन्न करती है, जो ऊपरी भाग को अपने किसी अंश से छुला देती है। साँस के क्षणभर रुकने के बाद ध्वनि सहसा निकल पड़ती है, अतः इसे 'स्फोट' (एक्स-प्लोसिव) कहते हैं। संस्कृत में इसका नाम 'स्पर्श' है, क्योंकि जिह्वा किसी विशेष स्थान को भली भाँति छूती है। 'क्' से लेकर 'म्' तक पाँचों वर्ग के २५ व्यंजन 'स्पर्श' कहे जाते हैं। हिंदी में च्, छ्, ज्, झ्, ञ् के उच्चारण में साँस का मार्ग बहुत सँकरा हो जाने से ध्वनि रगड़ती सी निकलती है, इससे इन्हें 'स्पर्श-संघर्षी' मानते हैं। 'कठिन-तालु' और 'घंटी' के मध्य में स्पर्श होने से कंठ्य उच्चारण होता है। क्, ख्, ग्, घ्, ङ् कंठ्य हैं। संस्कृत में 'कोमलतालु' का नाम 'कंठ' ही है। संस्कृत व्याकरणों में कठिनतालु के दो भाग करके आगे के भाग को 'तालु' और पीछे के भाग को 'मूर्धा' कहते हैं। 'तालु' से स्पर्श होने पर तालव्य उच्चारण होता है। च्, छ्, ज्, झ्, ञ् तालव्य हैं। मूर्धा से स्पर्श होने से 'मूर्धन्य' उच्चारण होता है। ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् मूर्धन्य हैं। 'दंत' से स्पर्श होने से 'दंत्य' उच्चारण होता है। त्, थ्, द्, ध्, न् 'दंत्य' कहे जाते हैं। हिंदी में 'न्' का उच्चारण दंतमूल से स्पर्श होने पर होता है। दंतमूल का प्राचीन नाम 'वर्त्स' या 'वत्स' है।[1] अतः लोग 'न्' को 'वर्त्स्य' ही मानते हैं। दोनों ओष्ठों के स्पर्श से ओष्ठ्य उच्चारण होता है। प्, फ्, ब्, भ्, म् ओष्ठ्य या द्व्योष्ठ्य हैं।

'श्वास' (अघोष) और 'नाद' (घोष) तथा मुख में अंशतः या ईषत् और पूर्ण स्पर्श के विचार से चार भेद हो जाते हैं— (१) अघोष ऊष्म, (२) घोष ऊष्म, (३) अघोष स्पर्श और (४) घोष स्पर्श। संस्कृत में घोष ऊष्म नहीं होते पर हिंदी में फारसी की कृपा से ऊष्म ध्वनि मिलती है, जिसे 'ज्' के नीचे बिंदु लगाकर (ज़्) व्यक्त करते

---

१. वर्त्सशब्देन दन्तमूलादुपरिष्टादुच्छूनः प्रदेशः उच्यते।—ऋक्प्रातिशाख्य।

हैं ; जैसे, चीज़ में। यह 'स्' की नाद ध्वनि है। 'श्' की नाद ध्वनि भी फारसी में होती है, पर हिंदी में उसे भी 'ज़्' सा ही उच्चरित करते हैं। हिंदी से यह ध्वनि और बिंदी लगाने की रीति भी उठ रही है। उर्दू पढ़े-लिखे ही इसकी ठीक ठीक नकल कर पाते हैं। हिंदी के एक अच्छे साहित्यिक, जो उर्दू नहीं जानते थे, 'जनाब' को भी 'ज़नाब' बोला करते थे। साँस के प्रदान से 'प्राण' ध्वनि भी उत्पन्न होती है। इससे दो भेद और होते हैं—'अप्राण' और 'सप्राण'। संस्कृत में इन्हें क्रमशः 'अल्पप्राण' और 'महाप्राण' कहते हैं। 'अप्राण' (इनैस्पिरेट) और 'सप्राण' (ऐस्पिरेट) के बदले 'अल्पप्राण' और 'महाप्राण' शब्द ही ठीक जान पड़ते हैं, क्योंकि जिन्हें 'अप्राण' कहा जाता है उनमें भी साँस का प्रदान थोड़ा रहता अवश्य है। वर्ग का पहला, तीसरा और पाँचवाँ वर्ण 'अल्पप्राण' होता है ; दूसरा और चौथा महाप्राण। ऊष्म वर्ण महाप्राण होते हैं (स्वर और अर्धस्वर अल्पप्राण होते हैं)। 'घंटी' पीछे मुड़कर नासिकाविवर बंद कर दिया करती है। इससे 'साँस' 'मुखविवर' से निकलती है। यदि घंटी नासिकाविवर का द्वार बंद न करे तो साँस नासिका से निकलेगी, इसलिए 'अनुनासिक' उच्चारण होगा। इस प्रकार दो भेद और होते हैं—अनुनासिक और निरनुनासिक। वर्ग का पंचम वर्ण अनुनासिक होता है। नासिकाविवर में न तो जिह्वा जा सकती है और न उसमें कोई दूसरी जिह्वा ही है, अतः कहीं अवरोध नहीं होता। इसलिए अनुनासिकों की ध्वनि तभी सुन पड़ेगी जब 'नाद' हो। इन सबकी सारणी यों होगी—

वर्ग	अवरुद्ध					अनवरुद्ध
	पूर्णस्पर्श					ईषत्स्पर्श
	आस्य				नासिका	ऊष्म
	अघोष		घोष		घोष	अघोष
	अल्पप्राण	महाप्राण	अल्पप्राण	महाप्राण	अल्पप्राण	महाप्राण
कंठस्थ–कवर्ग	[1] क्	ख्	ग्	घ्	ङ्	
तालव्य-चवर्ग	च्	छ्	ज्	झ्	[ञ्]	श्
मूर्धन्य–टवर्ग	ट्	ठ्	ड्	्	ण्	[ष्]
दंत्य–तवर्ग	त्	थ्	द्	ध्	न्	स्
ओष्ठ्य–पवर्ग	प्	फ्	ब्	भ्	म्	

जिन वर्णों का अभी तक विचार हुआ है उन्हें संस्कृत में 'व्यंजन' कहते हैं। 'व्यंजन' का अर्थ है 'प्रकट होनेवाला'। ('स्फोट' शब्द से इसे मिला देखिए)। ये सभी 'स्पर्श' होते हैं—ईषत् या पूर्ण। पर स्पर्श नहीं भी हो सकता। स्पर्श न होने पर 'स्वर' उच्चरित होते हैं। मुख में 'स्पर्श' न हो, अवरोध न हो; पर 'वर्ण' के सुने जाने के लिए कहीं न कहीं अवरोध तो होना ही चाहिए। कंठपिटक या काकलक[2] में 'स्वर' का अवरोध होता है। मुख को खुला (विवृत) रखकर और जिह्वा को यथास्थित छोड़कर स्वर का जो सामान्य उच्चारण किया जाता है वह 'अ' है। इन स्वरों की ध्वनि का विभाजन दो प्रकार से हो सकता है—'परिमाण' के विचार से और 'गुण' के विचार से।

---

१. 'पाणिनीय शिक्षा' में कवर्ग 'जिह्वामूलीय' है—'जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः'।
२. काकलकं हि नाम ग्रीवायामुन्नतप्रदेशः। —कैयटकृत प्रदीप।

'परिमाण' उस 'काल' पर निर्भर है जो किसी वर्ण के उच्चारण में लगता है। 'काल' का विचार 'मात्रा' द्वारा किया जाता है। 'ह्रस्व' स्वर के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है। इस प्रकार दो प्रकार के स्वर हो जाते हैं; एक तो वे जिनके उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है (अर्थात् ह्रस्व) और दूसरे वे जिनके उच्चारण में दो मात्रा का समय लगता है (अर्थात् दीर्घ)। संस्कृत में 'प्लुत' स्वर भी माना गया है, जिसके उच्चारण में तीन मात्रा का समय लगता है। तीन मात्रा को '३' लिखकर बतलाते हैं। प्रायः किसी को दूर से संबोधित करने में इसकी आवश्यकता होती है; जैसे, हे राम ३। आधुनिक भाषाशास्त्र में 'ह्रस्वतर' स्वर भी माना गया है जिसकी आवश्यकता अनेक संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण करने में होती है। यह अर्धमात्रिक होता है; जैसे, भारतीय अँगरेजी का 'गोल्ड्स्मिथ' शब्द बहुधा 'गोल्डिस्मिथ' बोलते हैं। 'ल्डि' में 'इ' की हलकी सी ध्वनि होती है।[1] गुणसंबंधी विविधता मुख के खुले रहने के आकार-प्रकार पर अवलंबित है। आरंभिक स्वर 'आ' को मानिए। अब उसकी अपेक्षा मुख को कम विवृत कीजिए और जिह्वा के 'उपाग्र' (फ्रंट) को ऊँचे उठाते जाइए। इस प्रकार 'अग्र स्वरों' की ध्वनियाँ होंगी। यदि धीरे धीरे मुख को संवृत किया जाने लगे, जिह्वा का 'पश्च भाग' क्रम से ऊपर उठाया जाय और ओष्ठों को गोल बनाया जाय तो 'पश्च स्वरों' का उच्चारण होगा। अग्र और पश्च के मध्य में भी इसी प्रकार ध्वनियाँ हो सकती हैं जिन्हें 'मिश्र स्वर' कह सकते हैं। इस तरह प्रत्येक श्रेणी में असंख्य ध्वनियाँ हो सकती हैं। पर विभिन्न भाषाओं में उनमें से प्रत्येक की कुछ ही ध्वनियाँ स्वीकृत हुई हैं—किसी में कुछ, किसी में कुछ।

---

१. चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ॥—पाणिनीय शिक्षा।

अग्र स्वरों में सबसे ऊपर 'ई' है और पश्च स्वरों में सबसे ऊपर 'ऊ'। 'आ' को भी ले लेने से तीनों को मिलाकर मुख में 'त्रिकोण' बन जाता है।

आधुनिक भाषाविज्ञानियों ने इसी के आधार पर आठ 'मानस्वर' (कार्डिनल वावेल) मान रखे हैं, जिन्हें यों व्यक्त करेंगे—

इसमें स्वीकृत आठ मानस्वर ये हैं—अ (ह्रस्व), आ, एँ (ह्रस्व), ओं (ह्रस्व), ए, ओ, ई, ऊ। इनका भेद रूप (प्रयत्न) की दृष्टि से भी होता है अर्थात् मुखविवर के संकोच-प्रसार से। जब मुखविवर अत्यधिक खुला रहता है तब इन्हें 'विवृत' कहते हैं और जब अत्यधिक मुँदा तो इन्हें 'संवृत'। इनकी मध्यवर्ती स्थितियाँ भी होती हैं जिन्हें 'अर्धविवृत' और 'अर्धसंवृत' कहते हैं। ह्रस्व एं और ह्रस्व ओं से मिलती ध्वनियाँ संस्कृत में तो नहीं मिलतीं, पर हिंदी (पूर्वी अवधी) में इससे मिलती ध्वनियाँ होती हैं। पश्चिमी (ब्रज और खड़ी) में ऐसी ध्वनियाँ काव्यभाषा में कवियों की कृपा से दिखाई देती हैं। पश्चिम में ह्रस्व 'एं' के स्थान पर 'इ' और ह्रस्व 'ओं' के स्थान पर 'उ' का प्रयोग होता है। खड़ी बोली में भी आज दिन ऐसी ध्वनियों का प्रवेश पूरबी की कृपा से ही हुआ है। इन दोनों ध्वनियों को 'ऍ' और 'ऑ' लिखा जा सकता है। पश्चिमी और पूर्वी भेद के लिए उदाहरण लीजिए—ऍका—इक्का, घॉड़िया—घुड़िया, कॉलेज—कालिज आदि। बँगला में भी ये

'परिमाण' उस 'काल' पर निर्भर है जो किसी वर्ण के उच्चारण में लगता है। 'काल' का विचार 'मात्रा' द्वारा किया जाता है। 'ह्रस्व' स्वर के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है। इस प्रकार दो प्रकार के स्वर हो जाते हैं; एक तो वे जिनके उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है (अर्थात् ह्रस्व) और दूसरे वे जिनके उच्चारण में दो मात्रा का समय लगता है (अर्थात् दीर्घ)। संस्कृत में 'प्लुत' स्वर भी माना गया है, जिसके उच्चारण में तीन मात्रा का समय लगता है। तीन मात्रा को '३' लिखकर बतलाते हैं। प्रायः किसी को दूर से संबोधित करने में इसकी आवश्यकता होती है; जैसे, हे राम ३। आधुनिक भाषाशास्त्र में 'ह्रस्वतर' स्वर भी माना गया है जिसकी आवश्यकता अनेक संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण करने में होती है। यह अर्धमात्रिक होता है; जैसे, भारतीय अँगरेजी का 'गोल्डस्मिथ' शब्द बहुधा 'गोल्डिस्मिथ' बोलते हैं। 'ल्डि' में 'इ' की हलकी सी ध्वनि होती है।[1] गुणसंबंधी विवधता मुख के खुले रहने के आकार-प्रकार पर अवलंबित है। आरंभिक स्वर 'आ' को मानिए। अब उसकी अपेक्षा मुख को कम विवृत कीजिए और जिह्वा के 'उपाग्र' (फ्रंट) को ऊँचे उठाते जाइए। इस प्रकार 'अग्र स्वरों' की ध्वनियाँ होंगी। यदि धीरे धीरे मुख को संवृत किया जाने लगे, जिह्वा का 'पश्च भाग' क्रम से ऊपर उठाया जाय और ओष्ठों को गोल बनाया जाय तो 'पश्च स्वरों' का उच्चारण होगा। अग्र और पश्च के मध्य में भी इसी प्रकार ध्वनियाँ हो सकती हैं जिन्हें 'मिश्र स्वर' कह सकते हैं। इस तरह प्रत्येक श्रेणी में असंख्य ध्वनियाँ हो सकती हैं। पर विभिन्न भाषाओं में उनमें से प्रत्येक की कुछ ही ध्वनियाँ स्वीकृत हुई हैं—किसी में कुछ, किसी में कुछ।

---

१. चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ॥—पाणिनीय शिक्षा।

अग्र स्वरों में सबसे ऊपर 'ई' है और पश्च स्वरों में सबसे ऊपर 'ऊ'। 'आ' को भी ले लेने से तीनों को मिलाकर मुख में 'त्रिकोण' बन जाता है।

आधुनिक भाषाविज्ञानियों ने इसी के आधार पर आठ 'मानस्वर' (कार्डिनल वावेल) मान रखे हैं, जिन्हें यों व्यक्त करेंगे—

इसमें स्वीकृत आठ मानस्वर ये हैं—ॲ (ह्रस्व), आ, ऍ (ह्रस्व), ऑ (ह्रस्व), ए, ओ, ई, ऊ। इनका भेद रूप (प्रयत्न) की दृष्टि से भी होता है अर्थात् मुखविवर के संकोच-प्रसार से। जब मुखविवर अत्यधिक खुला रहता है तब इन्हें 'विवृत' कहते हैं और जब अत्यधिक मुँदा तो इन्हें 'संवृत'। इनकी मध्यवर्ती स्थितियाँ भी होती हैं जिन्हें 'अर्धविवृत' और 'अर्धसंवृत' कहते हैं। ह्रस्व ऍ और ह्रस्व ऑ से मिलती ध्वनियाँ संस्कृत में तो नहीं मिलतीं, पर हिंदी (पूर्वी अवधी) में इससे मिलती ध्वनियाँ होती हैं। पश्चिमी (ब्रज और खड़ी) में ऐसी ध्वनियाँ काव्यभाषा में कवियों की कृपा से दिखाई देती हैं; पश्चिम में ह्रस्व 'ऍ' के स्थान पर 'इ' और ह्रस्व 'ऑ' के स्थान पर 'उ' का प्रयोग होता है। खड़ी बोली में भी आज दिन ऐसी ध्वनियों का प्रवेश पूरबी की कृपा से ही हुआ है। इन दोनों ध्वनियों को 'ऍ' और 'ऑ' लिखा जा सकता है। पश्चिमी और पूर्वी भेद के लिए उदाहरण लीजिए—ऍक्का—इक्का, घॊड़िया—घुड़िया, कॉलेज—कालिज आदि। बँगला में भी ये

दोनों ध्वनियाँ मिलती हैं—एक (बंगाली) और एक (अवधी) में कोई विशेष अंतर नहीं। बंगभाषा में 'अ' का उच्चारण 'ऑ' होता है; जैसे, 'जल' को 'जॉल' कहना। बँगला में 'घड़ी' को 'घोड़ी' कहेंगे, इसमें जो 'ऑ' है वह अवधी 'घोड़िया' के 'ऑ' के निकट है। 'ए', 'ऐ' और 'ओ', 'औ' संयुक्त वर्ण कहे जाते हैं। 'अ', 'इ' के संयोग से 'ए' तथा 'अ', 'उ' के संयोग से 'ओ' बनता है। 'ऐ', 'औ' में क्रमशः 'आ + इ' और 'आ + उ' का योग है।[१] संस्कृत में संधि के नियमों के अनुसार 'अ + ए' से 'ऐ' और 'अ + ओ' से 'औ' होता है। इसी प्रकार इनके आगे स्वर आने से इनका रूप क्रमशः अय (अइ), आय् (आइ) अव् (अउ) और आव् (आउ) होता है।[२] पर आज 'ऐ' और 'औ' का ही उच्चारण 'अइ' और 'अउ' का सा होता है; पश्चिमी हिंदी में 'अय्' और 'अव्' का सा। बैसवाड़ी में 'ए' का उच्चारण 'या' और 'ओ' का 'वा' होता है; एक=याक, देखो=द्याखौ; ओस=वास, चोट=च्वाट। स्वरविपर्यय से 'अय' (अइ) का 'या' और 'अव' (अउ) का 'वा' हो गया है। 'ए' और 'ओ' को संयुक्त स्वर या संध्यक्षर मानने का यह पक्का प्रमाण है। 'अवेस्ता' में भी ऐसी ध्वनियाँ मिलती हैं। 'ए' और 'ओ' समान स्वर (सिंपुल वावेल) ही माने जाते हैं। संस्कृत के अनुसार 'आ' और 'ई' क्रमशः 'अ' (ह्रस्व) और 'इ' (ह्रस्व) के दीर्घ करने से बनते हैं अर्थात् अ+अ = आ, इ+इ=ई। इनके उच्चारण का भेद 'मात्रा' के आधार पर किया जाता है। पर आधुनिक भाषाविज्ञानी ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार 'अग्र' और 'पश्च' स्वरों में इनकी स्थिति सबसे ऊँची है और ये स्वतंत्र स्वर हैं। यों तो हिंदी की बोलियों में भाषाविज्ञानियों ने 'इ' और 'उ' का ह्रस्वतर रूप भी ढूँढ़ निकाला है और अँगरेजी से 'ओ' का भी 'ह्रस्वतर'

१ वृद्धिरादैच्, अष्टाध्यायी १।१।१ और वृद्धिरेचि, ६।१।८८ ॥
२ एचोऽयवायावः, अष्टाध्यायी, ६।१।७८।

रूप लेकर, जिसे 'ॅ' से व्यक्त करते हैँ, हिंदी के बहुत से स्वर माने हैँ[1] पर खड़ी बोली (साहित्यिक) के व्यवहार मैँ जो 'समान स्वर' आधुनिक दृष्टि से दिखाई पड़ते हैँ वे नीचे कोण मैँ दिए जाते हैँ—
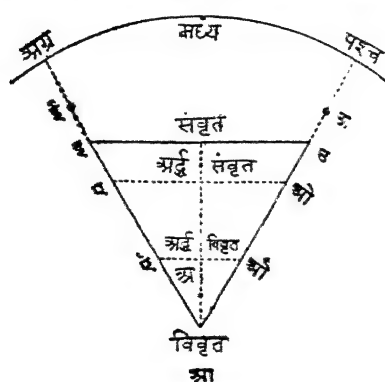
स्वर मैँ नाद की आवश्यकता होती है, अन्यथा वे सुने ही नहीँ जा सकते (यह कहा जा चुका है)। इसी 'स्वन्' के कारण ये 'स्वर' कहलाते हैँ। स्वरौँ मैँ से 'इ' और 'उ' ध्वनियाँ क्रमशः 'अग्र' और 'पश्च' श्रेणी की हैँ। इनके उच्चारण मैँ 'जिह्वा' ऊपरी भाग के इतना संनिकट हो जाती है कि थोड़े मैँ ही ईषत् स्पर्श हो जाता है और 'य्' और 'व्' ध्वनियाँ होने लगती हैँ। इन्हैँ पश्चिमी वैयाकरण 'अर्धस्वर' कहते हैँ। संधि मैँ ये 'संवृत' स्वरौँ से ही बनते हैँ और उन स्वरौँ के योग से बनते हैँ जिनमैँ 'स्वन्' इनकी अपेक्षा अधिक होता है अर्थात्

---

१. बोलियोँ मेँ ये स्वर माने गए हैँ—अ (ह्रस्वार्ध), ऑ (ओ का का ह्रस्व), उ̥ (उ का जपित या फुसफुसाहटवाला रूप), इ̥ (इ का जपित रूप), ऐ̥ (ऐ का अर्धविवृत नीचा रूप, जिसे 'ऍ' लिखा गया है). ए का जपित रूप, जिसे 'ए̥' लिखा है और ऐ (ऐ का नीचा रूप, जिसे लिखा है)— हिंदी-भाषा का इतिहास (श्री धीरेंद्र वर्मा कृत)।

अपने से भिन्न स्वरों से।[१] इनके अतिरिक्त दो वर्ण और हैं—'र्' और 'ल्'। इन्हें पश्चिमी वैयाकरण 'द्रव' (लिक्विड) कहते हैं। क्योंकि ये भी स्वर का रूप धारण कर लेते हैं। 'र्' संस्कृत में मूर्धन्य कहा गया है, पर अब (हिंदी में) इसका उच्चारण 'वर्त्स' से होता है। 'साँस' मुख से निकल जाती है और जिह्वा का थोड़ा लपेटना पड़ता है। इसी से इसे 'लुंठित' कहते हैं। 'ल्' में 'दाँत' से जिह्वा का संयोग होता है और साँस जिह्वा की अगल-बगल से निकल जाती है, अतः इसे 'पार्श्विक' कहा जाता है। इन दोनों ध्वनियों का परिवर्तन बहुत प्रसिद्ध है।[२] इन्हीं के साथ 'ऋ' और 'लृ' का भी विचार कर लेना चाहिए। ये दोनों स्वर माने गए हैं। 'ऋ' का दीर्घ रूप भी संस्कृत के शब्दरूपों में, विशेषतः द्वितीया और षष्ठी के बहुवचन में, और कुछ धातुओं 'जॄ', 'पॄ' में मिलता है। भाषाविज्ञानी इसे परंपरा का पालन मात्र समझते हैं। 'लृ' के दीर्घ रूप क्या, स्वयं 'लृ' का ही संस्कृत में कम प्रयोग होता है, केवल एक ही धातु (क्लृप्) मिलता है। 'ऋ' और 'लृ' का उच्चारण भी 'र्' और 'ल्' के स्थान से ही होता है। संस्कृत वैयाकरणों ने भी इनका उच्चारण व्यंजन (र्, ल्) के संयोग से माना है। 'ऋ' का शुद्ध प्राचीन उच्चारण अब अवश्य लुप्त हो गया है। इसके तीन प्रकार के उच्चारण दिखाई देते हैं—र, रि, रु, अर्थात् 'र्' में अ, इ, उ स्वर के संयोग से। ये तीनों उच्चारण पुराने हैं, क्योंकि प्राकृत में 'ऋ' के स्थान पर अ, इ, उ तीनों स्वर होते हैं।[३] इसका पुराना शुद्ध उच्चारण कदाचित् कुछ कुछ वैसा ही रहा होगा जैसा गड़ेरिया भेड़ों को बुलाने या वर्जित करने

---

१. इको यणचि, अष्टाध्यायी, ६।१।७७

२. रलयोरभेदः। रलयोर्डलयोश्चैव शसयोर्बवयोस्तथा।
वदन्त्येषां च सावर्ण्यमलंकारविदो जनाः॥

३. ऋतोऽत् १।२७ (वृषभः = वसहो), इदृष्यादिषु १।२८ (हृदयं = हिअअं=हिय), उदृत्वादिषु १।२९ (प्रावृष्=पाउसो=पावस)। प्राकृतप्रकाश॥

मेँ करता है। यह उच्चारण 'जिह्वोत्कंपी' (ट्रिल्ड) था, ऐसा जान पड़ता है। 'य् र् ल् व्' का नाम संस्कृत मेँ 'अंतःस्था' या 'अंतःस्थ' है। इसका अर्थ है 'स्वर' और 'व्यंजन' दोनों के बीच की ध्वनि। हमारी वर्णमाला मेँ दो शुद्ध प्राणध्वनियाँ भी हैँ; विसर्ग (:) और 'ह्'। इनमेँ से विसर्ग 'श्वास' है और 'ह्' 'नाद'। हिंदी मेँ विसर्ग संस्कृत के बने-बनाए शब्दोँ मेँ ही मिलता है, पर 'ह्' स्वच्छंद और 'न् म् र् ल् व्' से मिला भी आता है। 'य् व् ह्' किसी अक्षर से मिलकर संयुक्त ध्वनियों से भिन्न संमिश्र या स्वच्छंद ध्वनियाँ भी उत्पन्न किया करते हैँ। इनके अतिरिक्त हिंदी मेँ अनुस्वार (ं) और ड़, ढ़ तीन ध्वनियाँ और रह गई। इनमेँ से अनुस्वार का उच्चारण संस्कृत मेँ 'म्' होता था, पर हिंदी मेँ 'न्' होता है। यह बात 'हंस' शब्द के उच्चारण से स्पष्ट हो जायगी। संस्कृत मेँ इसका उच्चारण 'हम्स' होगा और हिंदी मेँ 'हन्स'। हिंदी मेँ 'परसवर्ण' के अनुसार अनुस्वार पंचम वर्ण मेँ सर्वत्र परिवर्तित नहीँ हो सकता। 'कवर्ग' मेँ इसका 'ङ्' उच्चारण कुछ कुछ सुन पड़ता है, पर 'चवर्ग' तथा 'टवर्ग' मेँ केवल 'न्' ही उच्चरित होता है। 'तवर्ग' का पंचम वर्ण 'न्' है ही। 'म्' रूप मेँ ठीक ठीक यह 'पवर्ग' मेँ ही सुनाई पड़ता है। अनुस्वार के 'म्' और 'न्' दोनोँ ही उच्चारण प्राचीन हैँ।[1] 'ड़, ढ़' का उच्चारण करने मेँ जिह्वा को मूर्धा मेँ छुलाकर शीघ्र हटाना पड़ता है, अतः इन्हेँ 'उत्क्षिप्त' कहते हैँ। 'ड़' अल्पप्राण और 'ढ़' महाप्राण हैँ। ये ध्वनियाँ हिंदी मेँ 'ड' और 'ढ' के दो स्वरोँ के बीच मेँ आने से होती हैँ। इसी से 'डर' मेँ 'ड' ध्वनि है और 'पड़' मेँ 'ड़'। निडर आदि मेँ 'ड' ध्वनि व्याकरण की कृपा है। 'ढकना' मेँ 'ढ' और 'बूढ़ा' मेँ 'ढ़' है। 'मेढक' कहना पंजाबी का प्रभाव है। वैदिक 'ळ' और 'ळ्ह' की भी ऐसी ही स्थिति थी।

---

१. 'मोऽनुस्वारः' और 'न श्चापदान्तस्य झलि' के अनुसार 'म्' और 'न्' दोनों अनुस्वार मेँ परिवर्तित हो जाते हैँ। और भी मिलाइए—नपरे नः ८।३।२७, मो नो धातोः ८।२।६४। आदि।

व्यंजनों का स्थान-प्रयत्न-विवेक

	प्रयत्न		स्थान													
			ओष्ठ से		जिह्वा से											
			द्वयोष्ठ्य		दंत्य		वर्त्स्य		तालव्य		मूर्धन्य		कंठ्य		उरस्य	
	आभ्यंतर	बाह्य—	अघोष	घोष	अघोष	घोष	अघोष	घोष	अघोष	घोष	अघोष	घोष	अघोष	घोष	अघोष	घोष
स्पर्श	शुद्ध स्पर्श	अल्पप्राण	प्	ब्	त्	द्					ट्	ड्	क्	ग्		
स्पर्श	शुद्ध स्पर्श	महाप्राण	फ्	भ्	थ्	ध्					ठ्	ढ्	ख्	घ्		
स्पर्श	स्पर्शसंघर्षी	अल्पप्राण							च्	ज्						
स्पर्श	स्पर्शसंघर्षी	महाप्राण							छ्	झ्						
स्पर्श	अनु-नासिक	अल्पप्राण		म्				न्		[ञ्]		ण्		ङ्		
स्पर्श	अनु-नासिक	महाप्राण		म्ह्				न्ह्								
स्पर्श	उत्क्षिप्त	अल्पप्राण										ड़्				
स्पर्श	उत्क्षिप्त	महाप्राण										ढ़्				
अंतःस्थ	लुंठित	अल्पप्राण						र्								
अंतःस्थ	लुंठित	महाप्राण														
अंतःस्थ	पार्श्विक	अल्पप्राण						ल्								
अंतःस्थ	पार्श्विक	महाप्राण						ल्ह्								
अंतःस्थ	अर्धस्वर	अल्पप्राण		व्						य्						
ऊष्म	संघर्षी	महाप्राण					स्		श्						:	ह्

क़्, ख़्, ग़्, ज़्, फ़् उर्दू से होकर आई जिह्वामूलीय विदेशी ध्वनियाँ हैं। ये केवल पढ़े-लिखों की बोलचाल में ही मिलती हैं, सो भी सर्वत्र नहीं। हिंदी में सामान्य रूप से इनका उच्चारण क्रमशः क्, ख्, ग्, ज्, फ् हो गया है। 'व्' तीन माने गए हैं—द्वयोष्ठ्य, दंत्योष्ठ्य और कंठ्योष्ठ्य। पहले और तीसरे का रूप 'व़्' (कैथी) माना गया है। बीच में आनेवाला (जैसे 'स्वाद' में) 'व' कंठ्योष्ठ्य कहा गया है। हिंदी में 'व्' 'द्वयोष्ठ्य' ही रह गया है;[1] क्या आदि में, क्या मध्य में और क्या अंत में। 'ब्' से इसका अंतर यह है कि 'ब्' में ओष्ठों का पूर्ण स्पर्श होता है, वे बंद होकर खुलते हैं; पर 'व्' में ओष्ठ पूरे बंद ही नहीं होते, इसमें स्पर्श अपूर्ण ही रह जाता है। अनुस्वार का स्थान वही है जो 'न्' का। 'र्' का महाप्राण रूप 'र्ह्' बोलियों में ही मिलता है, अतः छोड़ दिया गया। पर 'ल्' का महाप्राण रूप 'ल्ह्' मिलता है; जैसे, कुल्हाड़ी, कुल्हड़ आदि में। 'व' का महाप्राण उच्चारण 'व्ह्' होता तो है, पर लिखा नहीं जाता। उच्चारण के अनुसार 'आह्वान' का रूप 'आव्हान' ही होना चाहिए, पर पढ़े-लिखे 'ह्व' का ठीक उच्चारण कुछ कुछ बनाए हुए हैं, अतः 'व्ह्' भी छोड़ दिया गया है। 'म्ह्' 'तुम्हारा' में है ही और 'न्ह्' 'उन्होंने' आदि में। 'ञ्' संस्कृत के शब्दों में 'परसवर्ण' ही मिलता है और बोलियों में चलता है, अतः उसे कोष्ठक में दिखा दिया गया है। पर 'ङ्' परसवर्ण ही नहीं, 'वाङ्मय' में भी है। मूर्धन्य 'ष्' (ऊष्म) की बात कही जा चुकी है। विसर्ग (:) संस्कृत के शब्दों में ही दिखाई देता है। यह अक्षरों के पूर्व बैठकर उनकी ध्वनि ग्रहण कर लेता है।[2] काकल या उर से उच्चरित होने

---

१. अनुस्वारे विवृत्यां तु विरामे चाक्षरद्वये।
द्विरोष्ठ्यौ तु विगृह्णीयाद्यत्रौकारवकारयोः ॥—पाणिनीय शिक्षा।

२. अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः।—वही

प्रयत्न-विवेक

बाह्य प्रयत्न	विवार श्वास अघोष			संवार नाद घोष[1]							
	अल्पप्राण	महाप्राण		अल्पप्राण						महाप्राण	
						उदात्त अनुदात्त स्वरित					
वर्ण[2]	च प क ट त	छ फ ख ठ थ	श ष स	ज ब ग ड द	ञ म ङ ण न	अ	इ उ ऋ ऌ	ए ओ	ऐ औ	य व र ल	झ भ घ ढ ध	ह
आभ्यंतर प्रयत्न	स्पृष्ट		ईषद्विवृत	स्पृष्ट		ह्रस्व संवृत	विवृत			ईषत्स्पृष्ट		ईषद्विवृत

अ और आ में मात्रा का ही भेद है, अतः उनके स्थान-प्रयत्न एक ही हैं। यही, बात इ, ई और उ, ऊ की भी समझनी चाहिए। अ

---

१. बाह्यप्रयत्नों में तीन दृष्टियाँ स्पष्ट है—साँस का वेग, ध्वनि और गले की स्थिति। श्वास और नाद भेद साँस के वेग के कारण हैं, अघोष और घोष ध्वनि के कारण तथा विवार और संवार गले की स्थिति के कारण। अघोष और विवार का उपलक्षण श्वास है तथा घोष और संवार का नाद—नादेति संवारघोषयोरुपलक्षणम्। श्वासेति विवाराघोषयोः।—शब्देंदुशेखर।

२. प्रत्याहारों से मिलान कीजिए तो उनकी वैज्ञानिकता का भेद खुले—अइउण् १। ऋऌक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरट् ५। लण् ६। ञमङणनम् ७। झभञ् ८। घढधष् ९। जबगडदश् १०। खफछठथचट-तव् ११। कपय् १२। शषसर् १३। हल् १४।

और ह का उच्चारण कंठ से होता है;[1] इ, य का तालु से; उ का ओष्ठ से; व का दंत और ओष्ठ दोनों से; र का मूर्धा से; ल का दंत से; ए, ऐ का कंठ-तालु से और ओ, औ का कंठ-ओष्ठ से। ह्रस्व 'अ' का प्रयत्न संवृत है। पर प्रक्रिया में वह भी विवृत ही माना गया है।[2] विसर्ग जिस वर्ण के साथ आता है उसी के ऐसा उसका उच्चारण हो जाता है। पाणिनि ने कवर्ग का उच्चारण जिह्वामूल से माना है। क, ख के पहले विसर्ग का उच्चारण जिह्वामूल से ही होता है; प, फ के पहले ओष्ठ से।

ऊपर जितना विवरण दिया गया है उससे बहुत अधिक विचार स्थान-प्रयत्न के संबंध में हुआ है। स्वरों का प्रयत्न यहाँ विवृत माना गया है। पर पश्चिम में 'संवृत' ई और ऊ का उल्लेख है। ध्यान देने से पता चलेगा कि संवृत (क्लोज) का वहाँ जो विचार है उससे यहाँ के विचार में भिन्नता है। यहाँ 'आस्य' के बहुत कुछ बंद हो जाने को ही 'संवृत' कहेंगे। इसी से स्वर यहाँ 'विवृत' ही हैं।

व्यक्ति की दृष्टि से भी उच्चारण का विचार किया गया है। पाणिनि कहते हैं कि जैसे बाघिन बच्चे को दाढ़ों में भरपूर दाबकर ले जाती है, न बच्चा छूट ही पड़ता है और न उसे दाँतों की चोट-चपेट ही लगती है वैसे ही उच्चारण में भी सावधानी रखनी चाहिए। न तो वर्ण मुँह से चू ही पड़े और न उसे चबाना ही पड़े।[3] (पाणिनि के अहोभाग्य कि उन्होंने बाघिन देखी और उसका दृष्टांत दिया, हम बाघ की मौसी बिल्ली से ही कुछ सीखें)। शंकित या भीत होकर, खींच खींचकर, अव्यक्त या नकियाकर नहीं बोलना चाहिए। 'काँव काँव' करना, वर्णस्थान का ध्यान न रखकर बकना भी ठीक नहीं।

१. कण्ठ्यावहौ—पाणिनीय शिक्षा।

२. ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव। —सिद्धांतकौमुदी।

३. व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान्दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्॥—पाणिनीय शिक्षा।

के कारण 'ह्' को उरस्य (औरस्य)[1] या काकल्य कहा जाता है।

उच्चारण

संस्कृत में उच्चारण का बहुत ही सूक्ष्म विचार किया गया है। वहाँ व्याकरण के साथ शिक्षा भी जुड़ी रहती है। आत्मा बुद्धि की मध्यस्थता से अर्थों का मन से संयोग कराती है। मन जठराग्नि को उद्दीप्त करता है और वह अग्नि वायु को प्रेरित करती है। वायु प्रेरित होकर 'शिर' में टकराती है और टकराकर मुख में पहुँचती है, जहाँ वर्णों की उत्पत्ति होती है।[2] वर्णों का विभाग पाँच प्रकार से हो सकता है— स्वर से, काल से, स्थान से, प्रयत्न से और अनुप्रदान से। स्वर के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीन प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। स्थान आठ माने जाते हैं—उर, कंठ, शिर (मूर्धा), जिह्वामूल, दंत, नासिका, ओष्ठ और तालु।[3] जिह्वा के भी चार भाग किए गए हैं—अग्र, उपाग्र, मध्य और मूल।[4] प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं— आभ्यंतर और बाह्य। ओष्ठ से लेकर काकलक तक आस्य कहलाता है।[5] वर्णोच्चारण

---

१. हकारं पञ्चभिर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्।
उरस्यं तं विजानीयात् कंठ्यमाहुरसंयुतम् ॥—वही।

२. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पंचधा स्मृतः ॥—वही।

३. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कंठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥—वही।

४. स्पृष्टतादि, जिह्वाया अग्रोपाग्रमध्यमूलानि।—प्रदीप।

५. आस्यम्। ओष्ठात्प्रभृति प्राक्काकलात्। महाभाष्य।

में जो प्रयत्न आस्य में होता है उसे आभ्यंतर कहते हैं। 'काकलक' गले में टेंटुए की सीध का उभड़ा भाग है। काकलक के नीचे जो प्रयत्न होता है उसे बाह्य कहते हैं।[1] आभ्यंतर प्रयत्न के चार प्रकार हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, संवृत और विवृत। इस प्रकार आस्य में अवयवों का स्पर्श, संकोच और विस्तार आभ्यंतर प्रयत्न से होता है। बाह्य प्रयत्न आठ प्रकार के होते हैं— विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण और महाप्राण।[2] विवार और संवार गले का विकास और संकोच है।[3] काकलक में श्वास का या नाद का अनुप्रदान[4] होने से क्रमशः अघोष और घोष ध्वनियाँ होती हैं। जिनमें 'प्राण' (वायु) का प्रदान कम (अल्प) होता है वे अल्पप्राण कहलाती हैं और जिनमें अधिक वे महाप्राण। प्रयत्न-विवेक की सारणी यहाँ दी जाती है—

---

१. काकलकाधस्ताद्गलविवरविकाससंकोचश्वासोत्पत्तिध्वनिविशेषरूपनादतद्विशेषरूपघोषाल्पघोषाद्यल्पत्वमहत्त्वरूपकार्यकारित्वमेषाम्। वायुः, उक्तयत्नसहायेन तत्तत्स्थानेषु जिह्वाआदिस्पर्शपूर्वकं तत्तत्स्थानाभिघातका यत्नास्ते आस्यान्तर्गततत्तत्कार्यकारित्वादाभ्यन्तरा इत्युच्यन्ते। गलविवरविकासादिकराश्चास्यबहिर्भूतदेशे कार्यकरत्वाद् बाह्या इति।—शब्देंदुशेखर।

२. महाभाष्य में आठ ही बाह्य प्रयत्न कहे गए हैं। कैयट ने उदात्त, अनुदात्त और स्वरित मिलाकर ग्यारह माने हैं।

३. विवारसंवारौ कण्ठबिलस्य विकाससंकोचौ।—नागेशकृत उद्योत।

४. अनुप्रदानं बाह्यप्रयत्नः।—शब्देंदुशेखर।

फुस्सफुस्स, चबाकर, शीघ्र, टंकार देकर या गाकर बोलना बुरा है।[1] मधुर, सुस्पष्ट, सुस्वर और सधैर्य बोलना उत्तम है। कहाँ तक कहें, पाठक के गुण या अवगुण का बड़ा भारी लेखा-जोखा दिया गया है।[2]

ध्वनिपरिवर्तन

भाषा में नित्य परिवर्तन होता रहता है, अर्थ में भी और ध्वनि में भी। यह परिवर्तन प्रत्येक व्यक्ति किया करता है। किंतु भाषा का उद्देश्य है पारस्परिक भाव-विनिमय, इसलिए यदि उसमें ऐसा परिवर्तन हो जाय कि बोधव्य वक्ता की बातें न समझ सके तो भाषा का प्रयोजन ही खतरे में पड़ जाय। इसलिए परिवर्तन चाहे जान में हो चाहे अनजान में, चाहे कर्ण के सदोष होने से हो चाहे जिह्वा के, किंतु मूलरूप को रक्षित रखने का प्रयत्न जानबूझकर शक्तिभर किया जाता है। समृद्ध भाषा में व्याकरण आदि की व्यवस्था इसी का परिणाम है। यही कारण है कि साहित्यिक भाषा में उतनी शीघ्रता से परिवर्तन नहीं होता जितनी शीघ्रता से असाहित्यिक बोली में, जहाँ व्याकरण आदि की व्यवस्था ही नहीं होती। व्यक्ति के द्वारा जो परिवर्तन होता है वह तो होता ही है देशांतर या भाषांतर से भी परिवर्तन उपस्थित होता है। इस प्रकार परिवर्तन वैयक्तिक और भौगोलिक दोनों ही कारणों से होता है। इन्हीं परिवर्तनों में से जब कोई परिवर्तन स्वीकृत होकर चल पड़ता है तो रक्षित रखने की प्रवृत्ति के कारण लोग उसे जिलाने या पालने लगते हैं। यही कारण है कि परिवर्तन बहुत कुछ नियमित होता है। इसलिए इनके नियमों का निर्देश किया जा सकता है। प्राकृत में संस्कृत-शब्दों का परिवर्तन किन किन नियमों के अनुसार हुआ है इसका विचार यहाँ के वैयाकरणों

---

१. शंकितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम्॥—वही।

२. माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥—वही।

ने पर्याप्त किया है, जिसका आभास पहले दिया जा चुका है। एक बार परिवर्तन हो चुकने के अनंतर कालांतर से उन परिवर्तित रूपोँ मेँ भी फिर परिवर्तन होता है। यदि कोई भाषा साहित्यिक हो जाती है तो उसमेँ पुराने रूपोँ के लाने की प्रवृत्ति भी जगती है। इस प्रकार ध्वनि-नियमोँ के अपवाद खड़े होने लगते हैँ। भारत मेँ जब जब प्राकृतोँ ने साहित्यिक रूप ग्रहण किया तब तब उनमेँ संस्कृत के शब्दोँ का फिर से विधान हुआ। केवल परंपरा को ढोनेवालोँ ने तो संस्कृत के नए आए शब्दोँ का भी अंग-भंग कर डाला, पर जिन्होँने ऐसा नहीँ किया उनकी रचना मेँ संस्कृत के नए आए शब्द अपना बहुत कुछ तत्सम रूप लिए भी दिखाई पड़ते हैं। भारत की आधुनिक देशी भाषाओँ मेँ संस्कृत का सर्वत्र विधान इसी कारण हुआ है। हम लाख सिर पटकेँ, राजनीतिक धमकी देँ, इस प्रवृत्ति को रोक नहीँ सकते। जनता मेँ स्वयं प्रतिवर्तन की वृत्ति भी जगती है। जब कोई विधान चरम सीमा को लाँघने लगता है तो जनता फिर लौटती है। इधर जो तद्भव या ठेठ शब्दोँ की ओर लोग झुक रहे हैँ उसका कारण संस्कृत की छौंक का अधिक हो जाना ही है।

इस प्रकार ध्वनि के नियमोँ के जो अपवाद हुआ करते हैँ उनमेँ सबसे मुख्य है 'साम्य'। हिंदी मेँ समस्तता को प्रकट करने के लिए संख्यावाचक शब्दोँ मेँ 'ओ' प्रत्यय लगाते हैँ। तीन से तीनो, चार से चारो, पाँच से पाँचो और छ से छओ आदि। इसी नियम से 'दो' से 'दोओ' होना चाहिए, बोलियोँ मेँ 'दुऔ' चलता भी है, पर खड़ी मेँ इसका रूप है 'दोनो'। यह 'तीनो' के साम्य पर बन गया है। 'नाना' की नकल 'मामा' ने की, जो स्वयं संस्कृत का 'मातुल' था। काका, चाचा, ताता, दादा, बाबा, लाला सब की वही दशा है। 'रक्तिमा' के साँचे मेँ 'लालिमा' और 'हरीतिमा' के ढलने की कथा पहले कही जा चुकी है। संस्कृत की सी ध्वनि लाने के लिए हिंदी के बहुत से शब्द संस्कृत हो गए हैँ अर्थात् अपना वेश बदल चुके हैँ। 'सींचना' 'सिंचन' बन गया, फिर 'अभिसिंचन' हुआ। 'कृति' का स्वाँग 'जागृति' ने भी

भरा (संस्कृत में तो जागर, जागरण, जागरा, जागर्ति, जागर्या ही हैं)। पूरबी बोली में 'रचिक' (रक्तिका=घुँघचो) 'थोड़े' के अर्थ में चलता है, इसी का भाई 'रंच' है। इसमें 'रत्तीभर' संदेह नहीं कि 'रंच' 'रक्तिका' का सपूत है, 'न्यंच' का बेटा नहीं।

इन ध्वनियों के नियम बाँधने के लिए पश्चिमी देशों में ग्रिम, ग्रासमान, वर्नर आदि ने कुछ, एकदेशीय प्रयत्न किए हैं। ग्रिम ने नई-पुरानी कुछ आर्यभाषाओं की ध्वनियों को सामने रखकर वर्ण-परिवृत्ति के नियम बनाए—संस्कृत, लातीनी, यवनानी, गाथी, जर्मनी और अँगरेजी की। नियम यों बना—

संस्कृत या यवनानी	गाथी	उच्च-जर्मनी
प् (अघोष अल्पप्राण)	फ् (अघोष महाप्राण)	ब् (घोष अल्पप्राण)
फ् (अघोष महाप्राण)	ब् (घोष अल्पप्राण)	प् (अघोष अल्पप्राण)
ब् (घोष अल्पप्राण)	प् (अघोष अल्पप्राण)	फ् (अघोष महाप्राण)
् (प्रथम)	ह् (ख्)[1] (द्वितीय)	ग् (तृतीय)
ख् (द्वितीय)	ग् (तृतीय)	क् (प्रथम)
ग् (तृतीय)	क् (प्रथम)	ख् (द्वितीय)
त् (१)	थ् (२)	द् (३)
थ् (२)	द् (३)	त् (१)
द् (३)	त् (१)	त्स् (२)

ग्रिम के नियमों पर बहुत अधिक विचार हुआ और उसके अनुसार उसकी सदोषता भी हटाई गई। उसका निर्दोष नियम यह ठहराया जाता है—

	अल्पप्राण	घोष	महाप्राण
संस्कृत आदि में—	क् त् प्	ग् द् ब्	घ् ध् भ्
अँगरेजो आदि में—	ह् थ फ्	क त् प्	ग द् ब्
	महाप्राण	अघोष	अल्पप्राण

१. गाथी में 'ह्' का उच्चारण जिह्वामूलीय होता है; जैसे फारसी ख् का।

दो-चार उदाहरण लीजिए—

संस्कृत	यवनानी	लातीनी	गाथी	अँगरेजी	उच्च-जर्मनी
कः	को	×	ख्वो	हू	ह्वेर
त्रयः	त्रेइस	त्रेस	थ्रेइस	थ्री	×
पिता	पेतर	पापा	फादर	फादर	वेतर
गो	×	×	×	काउ	कू

ग्रिम के इन नियमों से भी काम न चला। संस्कृत 'दुहिता' का अँगरेजी में 'दातर' (डाटर) ही होता है, होना चाहिए 'तातर'। अतः ग्रासमान ने भाष्य किया कि दो महाप्राण ध्वनियाँ एक साथ (एक अक्षर = सिलेबुल में) नहीं रह सकतीं। 'दुहिता' के 'दुह्' को मूलभाषा का 'धुह्' माना गया। संस्कृत में भी यह नियम चलता है।[1]

ग्रासमान के नियम के अनंतर भी अपवाद मिलने लगे। इसका परिष्कार वर्नर साहब ने किया। 'शतम्' का अँगरेजी में 'हंड्रेद' (हंड्रेड) होता है, नियम से 'हंथ्रेद' होना चाहिए; 'त्' का 'थ्', 'द्' नहीं। वर्नर ने बताया कि यदि क्, त्, प्, के ऊपर उदात्त स्वर होगा तो ग्रिम का नियम न लगेगा और उनके स्थान पर ग्, द्, व् हो जायँगे। 'शतम्' में 'त' पर उदात्त स्वर है। इसी प्रकार ज्यों ज्यों अपवाद मिलते गए, नई नई खोज से उनका परिष्कार किया गया।[2] हिंदी की दृष्टि से इन सबका कोई विशेष महत्त्व नहीं है, अतः केवल जानकारी के लिए इतना उल्लेख पर्याप्त है।

ध्वनिविकार

ध्वनिविकार का मुख्य कारण है उच्चारण का सुभीता। भाषाओं के परिवर्तन में 'मुखसुख' का बड़ा महत्त्व है। आज तक जितने परिवर्तन हुए या हो रहे हैं उनमें यही मुखसुख या प्रयत्न-लाघव प्रधान दिखाई देता है। इस प्रयत्न-लाघव के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। इनमें से

१. झलां जश् झशि—अष्टाध्यायी, ८।४।५३

२. देखिए 'भाषारहस्य' (प्रथम भाग)।

कुछ मुख्य प्रकारों का निर्देश किया जाता है। वे हैं—(१) वर्ण-विपर्यय (मेटाथिसिस), (२) आद्यागम या पुरोहिति (प्रोथिसिस) (३) अपिनिहिति (एपेंथिसिस), (४) स्वरभक्ति (अनप्टिक्सिस), (५) अक्षरलोप (हैप्लोलॉजी), (६) सवर्णता (एसिमिलेशन) और (७) असवर्णता (डिस्सिमिलेशन)। उदाहरण लीजिए—

(१) वर्णविपर्यय बोलचाल में बहुत होता है। पटने में 'आदमी' नहीं 'आमदी' रहते हैं। पंजाबी को 'मतलब' से क्या मतलब, वह आपको अपना 'मतबल' समझाता है। बनारस में बाबुओं का नौकर कहीं 'पहुँचता' नहीं 'चहुँपता' है। कनौजिया 'लखनऊ' नहीं 'नखलऊ' जाते हैं। अंतर्वेदी (दोआबा) के निवासी का 'नुकसान' नहीं 'नुसकान' होता है। पूरब में लोग नदी में 'बूड़ते' हैं, पश्चिम में 'डूबते' हैं। संस्कृत में भी विपर्यय के उदाहरण मिलते हैं। उत्तर में प्रायः 'नारिकेल' ही सुनते हैं, दक्षिण में 'नालिकेर' भी होता है। 'मिहिका' तो थी ही 'हिमिका' (सफेद बर्फ) भी होती है। (२) आद्यागम वहाँ होता है जहाँ किसी ध्वनि के ठीक ठीक उच्चरित होने में कठिनाई होती है, प्रायः संयुक्त व्यंजनों से आरंभ होनेवाले शब्दों में ऐसा होता है। कोई लघु स्वर यदि आरंभ में जोड़ दिया जाय तो सुभीते से उच्चारण होने लगता है। अ, इ स्वर प्रायः आदि में आ बैठते हैं। बोलचाल में 'स्थायी' को 'अस्थाई' कहते हैं, इसी से 'अथाई' बन गई जिसका अर्थ होता है 'बैठक' या 'गोष्ठी'। 'स्फार' से 'अप्फार' हुआ, इसी से 'अफरा' होने लगा, जो पेट फूलने का रोग है। 'स्तरी' (स्तर या तह करनेवाली) से 'इस्तरी' हुई, जिससे धोबियों की 'इस्तिरी' बनी, जो कपड़ों की शिकन मिटानेवाले लोहे या पीतल के औजार का नाम है। 'स्ट्रिंग' (रस्सी) से 'इस्ट्रिंग' बनी, फिर 'इस्तंगी' हो गई, जो पाल के छोरों को अँटकाने-वाली डोर का नाम है। संयुक्त वर्णों के आदि में ही नहीं यों भी इन स्वरों का आगम होता है। तुर्की 'याल' से 'अयाल' हुआ, जो घोड़े या सिंह की गर्दन पर के बालों के लिए चलता है। 'लोप' के लिए 'अलोप' 'कलंक' के लिए 'अकलंक', 'चक' (भरपूर) के लिए 'अचक', 'नोखा'

(नवक) के लिए 'अनोखा' बराबर आता है। 'रथ' से ही 'अरथी' (शव की टिकठी) बनी। व्यंजन का भी सुगमता के लिए आगम होता है ; जैसे, ओष्ठ = ओठ = होंठ, अमीर = हमीर = हम्मीर या हंमीर। (३) अपिनिहिति वहाँ होती है जहाँ शब्द के मध्य में कोई स्वर या अर्धस्वर सुमुखता के लिए आ लगता है पर वह अपने आगेवाले स्वर के अनुरूप होता है। अवेस्ता में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं संस्कृत की 'भवति' वहाँ 'बवइति' हो जाता है। बैसवाड़ी (पश्चिमी अवधी) में उत्तम-पुरुष वर्तमानकाल के कृदंत रूप आइति, जाइति, खाइति, पाइति आदि अपिनिहिति से ही बने हैं। संस्कृत की वल्ली से बइल्ली = बेली = वेलि इसी कारण बन गई है । (४) बीच में भी कोई स्वर आकर उच्चारण को सुगम बनाता है। इसे स्वरभक्ति कहते हैं हिंदी में 'भक्त' जो 'भगत' हो गए, 'क्रिया कर्म' से 'किरिया-करम' होने लगा, 'सूर्य' को भी 'सूरज' बनना पड़ा। संस्कृत के शब्दों पर भी इसका प्रभाव वर्तमान है—'मनोर्थ' (मनः + अर्थ) 'मनोरथ' हो गया। इसलिए कवियों को 'मनोरथानां (मनः + रथ) अगतिर्न विद्यते' (मन के रथ के लिए अर्थात् अभिलाषाओं के लिए कोई स्थान अगम्य नहीं) कहने का अवसर मिला।[1] 'पृथ्वी' से पृथिवी' निकली 'स्वर्ण' 'सुवर्ण' में ढल गया 'श्लथ' को 'शिथिल' होना पड़ा। मध्यागम व्यंजन का भी होता है ; जैसे, 'शाप' से 'श्राप' हो गया, 'शोणित' से 'श्रोणित' बना, 'पण' से 'प्रण' हुआ। 'वानर' से 'बन्दर', 'तुमारा' से 'तुम्हारा' आदि ऐसे ही बने। य, व की श्रुति (ग्लाइड) प्रसिद्ध है। (५) जब पूरे अक्षर (सिलेबुल) का अर्थात् 'व्यंजन + स्वर' का लोप हो जाय तो अक्षरलोप का उदाहरण समझना चाहिए ; जैसे, मानस+सरोवर= मानसरोवर, जीवन (जल) + मूत (मोट, थैला)=जीमूत (बादल), गोधूम + यवी = गोयवी = गोजई। केवल स्वर या केवल व्यंजन के

---

१. मेरो 'मनोरथ' हू बहिए (मेरे मन का रथ भी चलाइए, जैसे अर्जुन का रथ हाँका था)—घनानंद।

लोप के उदाहरण इससे पृथक् होते हैं। (६) सवर्णता वहाँ होती है जहाँ किसी ध्वनि का परिवर्तन सरलता या सुमुखता के लिए पास की ध्वनि में हो जाता है। कभी अगले या ऊपर के वर्ण का प्रभाव पिछले या नीचे के वर्ण पर होता है और कभी इसके विपरीत। प्राकृत में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं—'रश्मि' से 'रस्सी', 'पक्व' से 'पक्का' तथा 'खड्ग' से 'खग्ग' ('खग्ग' खगराज महाराज सिवराजजू को—भूषण), भक्त' से 'भत्त' (भात), 'धर्म' से 'धम्म' (धम्मपद), 'कर्म' से 'कम्म' (काम)। (७) असवर्णता में सवर्णता का उलटा होता है। एक ही ध्वनि बार बार आकर कानों को खटकती या बोलने में अँटकती है। ऐसी स्थिति में पुनरुक्ति बचाने के प्रयत्न में एक ध्वनि किसी दूसरी ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है; जैसे, 'नवनीत' से 'नोनी' और फिर 'लोनी' निकली, 'पिपासा' से 'प्यास' (पूर्वी पिआस या पियास) हो गई।

विदेशी शब्द जब किसी भाषा में गृहीत होते हैं तो जनता मनमाना अर्थ बैठाकर मिलती-जुलती ध्वनि में उन्हें बोलती है, वहाँ ये नियम नहीं लग सकते। 'आर्ट्स कालिज' को बनारस के इक्केवाले 'आठ कालिज' कहते हैं। फल यह हुआ कि आगे के कालिजों का नाम 'नौ कालिज, दस कालिज, ग्यारह कालिज' पड़ गया। 'डिपाजिट' को मारवाड़ी 'डब्बाजीत' बोलते हैं। 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' तक को 'अँधेरी मजिट्टर' बनना पड़ा। कैसा अँधेर है ! संतरी का 'हू कम्स देयर' (कौन आता है) 'हुकुम सदर' हो गया।

स्वराघात

बोलते समय वाक्य के शब्दों पर या शब्द के किसी अंश पर जोर देना पड़ता है। यदि 'वह चलेगा' सामान्यतः कहा जाय तो जिस अर्थ का बोध होता है उससे भिन्न अर्थ का बोध होगा यदि 'चलेगा' पर जोर दिया जाय; इससे 'निश्चय' प्रकट होगा। 'वह' पर जोर देने से कभी 'निर्देश' और कभी 'आश्चर्य' प्रकट होगा। शब्द के किसी अंश पर स्वराघात होने से अर्थ बदल जाता है, इसका उदाहरण पहले दिया

जा चुका है। स्वराघात दो प्रकार का होता है—गीतात्मक (पिच या म्यूजिकल) और बलात्मक (स्ट्रेस)। गीतात्मक स्वराघात मेँ ध्वनि अक्षर के स्वराघात के अनुसार कभी ऊँची और कभी नीची करनी पड़ती है।[1] बलात्मक स्वराघात मेँ किसी अक्षर पर अत्यधिक जोर देना पड़ता है। इसलिए उसकी ध्वनि तीखी सुन पड़ती है। किसी भाषा के गीतात्मक स्वराघात की ध्वनि किसी अजनबी के लिए संगीत-मधुर और बलात्मक की ध्वनि हथौड़े की 'ठक् ठक्' सी जान पड़ेगी। संस्कृत, यवनानी आदि मेँ गीतात्मक और अँगरेजी, फारसी आदि मेँ बलात्मक स्वराघात की प्रधानता है। हिंदी मेँ गीतात्मक स्वराघात वाक्योँ मेँ पाया जाता है। बलात्मक स्वराघात भी मिलता अवश्य है, पर दीर्घ या गुरु वर्ण के साथ उसके भेद मेँ कठिनाई पड़ती है। हिंदी मेँ अपूर्णोच्चरित 'अ'[2] जिस अक्षर मेँ हो उसके पूर्व के अक्षर पर जोर पड़ता है; जैसे, 'धंन' 'नटखट'। संयुक्त व्यंजन के पूर्ववर्ती अक्षर पर जोर पड़ता है; जैसे सत्य। अनुस्वार और विसर्गयुक्त अक्षर का उच्चारण भी झटके से होता है; जैसे, वंश, दुःख।

हिंदी के छंदोँ मेँ बलात्मक स्वराघात मिलता है; विशेषतः सवैयोँ और कवित्तोँ मेँ। इसके उदाहरण 'पिंगल' के प्रकरण मेँ पहले दिए जा चुके हैँ (देखिए पृष्ठ १४६)। गणोँ का स्वरूप नियत होने पर भी व्रज और अवधी की तो बात ही क्या, खड़ी मेँ भी सवैयोँ मेँ दीर्घ वर्ण ह्रस्ववत् इसी स्वराघात के कारण हो जाते हैँ। गाथी भाषा मेँ बलात्मक स्वराघात के कारण संस्कृत के 'पिता' केवल 'ता' रह गए। इसमेँ अंतिम 'आ' पर 'बल' था।

---

१. संस्कृत मेँ स्पष्ट कहा गया है—उच्चैरुदात्तः। नीचैरनुदात्तः। समाहारः स्वरितः।—सिद्धांतकौमुदी।

२. हिंदी मेँ 'अ' का उच्चारण विशेष ध्यान देने योग्य है। शब्द के अंत्य 'अ' का उच्चारण नहीँ होता या वह अपूर्ण उच्चरित होता है; जैसे, मन = मन्, चाल = चाल्। पर उसके संयुक्त अक्षर होने से उच्चारण होता है; जैसे, चंद्र, तथ्य अन्न आदि। विशेष ज्ञान के लिए देखिए 'हिंदी-व्याकरण' (श्रीकामताप्रसाद गुरु)।

अक्षरावस्थान

गीतात्मक स्वराघात में स्वर की प्रकृति में ही परिवर्तन हो जाता है; जैसे, 'इ' का 'ए' या 'उ' का 'ओ' हो जाना। प्रकृति और प्रत्यय के योग से जो 'सुबंत' या 'तिङंत' पद बनते हैं उनमें कहीं तो स्वराघात प्रकृति पर होता है और कहीं प्रत्यय पर, अतः परिवर्तन उपस्थित होने लगता है। इस प्रकार जो परिवर्तन होते हैं उन्हें 'अक्षरावस्थान' (वावेल-ग्रेडेशन) कहते हैं। पहले दिखाया गया है कि पश्चिमी भाषाविद् 'अग्रस्वर' और 'पश्चस्वर' नाम से दो कोटियाँ मानते हैं (देखिए पृष्ठ ४१५)। प्रत्येक कोटि में मानस्वरों के अतिरिक्त एक अर्धस्वर भी होता है। इस प्रकार 'अक्षरावस्थान' की भी दो कोटियाँ या श्रेणियाँ अथवा मालाएँ हो जाती हैं। प्रत्येक श्रेणी के आरंभ में अर्धस्वर और अंत में दीर्घ संध्यक्षर होता है—

ऍ-माला—य, इ, ए (अइ), ऐ (आइ)।

ऑ-माला—व, उ, ओ (अउ), औ (आउ)।

संस्कृत में इनके नाम संप्रसारण (य, व), गुण (अ, ए) और वृद्धि (आ, ऐ, औ) हैं।[1] इनका चक्र यों होगा—

अक्षरावस्थान

---
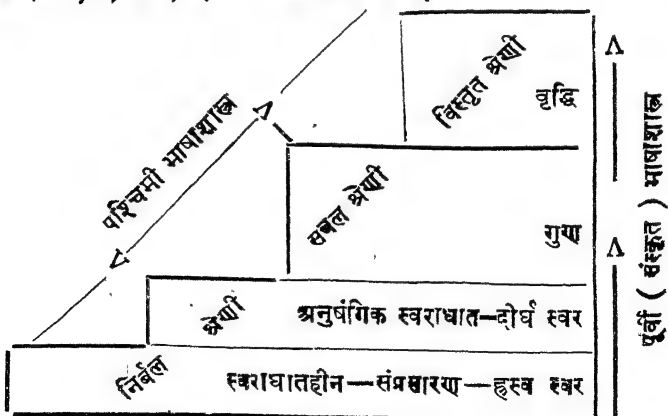
१. इग्यणः संप्रसारणम् १।१।४५, अदेङ्गुणः १।१।२, वृद्धिरादैच् १।१।१—अष्टा०

पश्चिम के आधुनिक भाषाविज्ञानी 'सबल श्रेणी' (स्ट्रांग ग्रेड) को मूल मानकर चलते हैँ और एक सीढ़ी ऊपर 'विस्तृत श्रेणी' (लेंग्थेंड ग्रेड) मानते हैँ तथा एक सीढी नीचे 'निर्बल श्रेणी' (वीक ग्रेड)। पर संस्कृत के प्राचीन वैयाकरण 'निर्बल श्रेणी' को ही मूलाधार मानकर चले हैँ और उन्होँने दो सीढ़ियाँ क्रमशः ऊपर की ओर ही मानी हैँ। निर्बल श्रेणी के दो विभाग हैँ—एक तो लगभग स्वराघात-हीन स्थिति और दूसरे आनुषंगिक (सेकंडरी) स्वराघातयुक्त स्थिति।

अपश्रुति

ध्वनि (स्वर) का परिवर्तन दो प्रकार का होता है—स्वरूपसंबंधी (क्वालिटेटिव) और मात्रा-संबंधी (क्वांटिटेटिव)। 'अक्षरावस्थान' मेँ तो मात्रा-संबंधी परिवर्तन होता है और 'अपश्रुति' (अब्लाउत) मेँ स्वरूप-संबंधी। किसी एक कोटि का स्वर जब दूसरी कोटि के समानांतर स्वर मेँ बदले तो उसे 'अपश्रुति' कहेँगे। ह्रस्व और दीर्घ तथा अग्र, पश्च और मिश्र स्वर के भेद से छः प्रकार की मालाएँ हो जाती हैँ; ह्रस्व स्वर मेँ ऍ-माला, अॅ-माला और ऑ माला एवं दीर्घ स्वर मेँ ए-माला, आ-माला और ओ-माला। प्रस्तार के अनुसार इनमेँ से प्रत्येक के साथ दूसरी ध्वनि लगी रह सकती है, अतः इनके अन्य उपभेद हो जाते हैँ। इनमेँ लगनेवाली ध्वनियाँ अर्धस्वर (य्, व्), द्रव (र्, ल्) और अनुनासिक (न्, म्) होती हैँ। प्रत्येक उपभेद मेँ पहला तो केवल वह स्वर होता है और शेष उपभेद उस स्वर से इन छः मेँ से प्रत्येक के मिलने से बनते हैँ। अतः कुल सात उपभेद हो जाते हैँ। दीर्घ स्वरोँ मेँ द्रव और अनुनासिक के साथ योग के उदाहरण नहीँ मिलते, यद्यपि वे हो सकते हैँ। इनमेँ पूर्वकथित निर्बल, सबल और विस्तृत तीनोँ श्रेणियाँ भी होती हैँ। निर्बल श्रेणी मेँ भी स्वराघातहीन और आनुषंगिक स्वराघात दो भेद होते हैँ। सबल और विस्तृत दोनोँ श्रेणियोँ मेँ एक तो माला का मूल स्वर हुआ और दूसरे अपश्रुतिज स्वर का मेल, अतः इनमेँ भी दो दो प्रभेद हो जाते हैँ। जब माला का मूल स्वर दीर्घ

रहेगा तो सबल तथा विस्तृत श्रेणी का पहला भेद नहीं बन सकता और जब मूल स्वर 'ओ' होगा तो 'अपश्रुति' वाली श्रेणियाँ नहीं होंगी।[१] संस्कृत में केवल अ-माला और आ-माला मिलती हैं; अ-माला—अ, अय्, ए (इ या ई), अव्, ओ (उ या ऊ), अर् (ऋ), अल् (लृ), अन्, अम्। आ-माला—आ, आय्, ऐ (ई), आव्, औ (ऊ)।

वाक्यविचार

वाक्य का विन्यास शब्दों से होता है। प्रत्येक 'शब्द' किसी न किसी 'भाव' या 'प्रमा' (कंसेप्ट) का द्योतन करता है। प्रत्येक वाक्य में वस्तुतः दो भावों का योग रहता है; एक को 'उद्देश्य' और दूसरे को 'विधेय' कहते हैं। इन्हीं उद्देश्य और विधेय के विभिन्न संबंधों से वाक्यों के प्रकारों का निर्देश हो सकता है। इस संबंध की दृष्टि से वाक्य के तीन प्रकार माने गए हैं—निर्योगमूलक (आइसोलेटिंग), संयोगमूलक (एग्लूटिनेटिंग) और विकृतिमूलक (इन्फ्लेक्टिंग)। भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण में इनका उल्लेख हो चुका है। निर्योगमूलक ही निरवयव या व्यासप्रधान है। संयोगमूलक वही है जिसे प्रत्यय-प्रधान कहा गया है और विकृतिमूलक का ही नाम विभक्तिप्रधान है। वहाँ भाषाओं की 'आकृति' के आधार पर भेद किया गया है अतः निरवयव और सावयव भेद करके सावयव के समासप्रधान (इंकारपोरेटिंग), प्रत्ययप्रधान और विभक्ति-प्रधान तीन भेद माने गए हैं। यहाँ भाषा के विकास की दृष्टि से वाक्यमूलक वर्गीकरण बतलाया गया है, अतः तीन ही भेद किए गए हैं। उधर समास-प्रधान भाषाओं में शब्द की पृथक् स्थिति स्पष्ट नहीं रहती, जैसा अमेरिका की कुछ भाषाओं में है, इधर वाक्य का विन्यास शब्द की पृथक् स्थिति पर निर्भर है। पहले माना जाता था कि प्रत्येक भाषा में उक्त प्रकारों की तीनों स्थितियाँ एक के बाद एक आया करती हैं, पर अब ऐसा नहीं मानते। भाषा में विभक्ति-प्रत्ययों के अनंतर विभक्ति-चिह्नों का उद्भव होता है। हिंदी के 'ने, को, से' आदि चिह्न मात्र हैं।

---

१. देखिए श्री तारापूरवाला प्रणीत 'एलिमेंटस आव् दि साइंस आव् दि लैंग्वेज'।

यह विचार तो 'नाम' (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण) का हुआ। अब 'आख्यात' (क्रिया) पर आइए। आरंभ में क्रियाओं में अर्थभेद 'उपसर्ग' के प्रयोग से होता था, संयुक्त क्रियाओं या सहायक क्रियाओं का उपयोग नहीं सा था। संस्कृत में संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बहुत कम है। पर देशी भाषाओं में संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बहुत होता है। खड़ी बोली में तो दो ही नहीं तीन तीन, चार चार क्रियाएँ जुड़कर आती हैं। संस्कृत के दसो लकारों का सूक्ष्मभेद और कारकों की विभक्तियों की दुर्गम प्रक्रिया संयुक्त या सहायक क्रियाओं और विभक्ति-चिह्नों के प्रयोग से सुगम की गई है। संस्कृतवाली पहली स्थिति संहिति या संयोग (सिंथिसिस) और देशभाषावाली दूसरी स्थिति व्यवहिति या वियोग (एनलिसिस) कहलाती है। प्रत्येक भाषा में ऐसा परिवर्तन हुआ करता है। हिंदी इस समय वियोगावस्था में है। कारक-चिह्न शब्दों से सटाकर लिखे जायँ या हटाकर इस प्रश्न पर पचीस-तीस वर्ष पूर्व हिंदी में भारी विवाद खड़ा हुआ था 'सटाऊ पक्षवाले' चिह्नों को पृथक् लिखना विलायती शैली मानते और उपेक्षणीय समझते थे। चाहे जो हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि हिंदी के ये कारक-चिह्न संस्कृत के विभक्ति-प्रत्ययों की भाँति अविभक्त नहीं रह गए हैं। विलायती मत कहकर इस सत्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। 'राम ही ने कहा है' में 'राम' (प्रकृति) और 'ने' (प्रत्यय या चिह्न) के बीच निश्चयार्थक अव्यय 'ही' का लगना ही 'व्यवहिति' का प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

रूपविचार

किसी अर्थ का बोध करानेवाले शब्द का व्याकरणिक रूप उसके मूल रूप से पृथक् होता है। इसी कारण पाणिनि ने 'शब्द' और 'पद' में भेद किया है। प्रत्यय लगने के पूर्व जो 'शब्द' है वही प्रत्यययुक्त होकर 'पद' कहलाता है।[1] प्रत्यय के पूर्व 'शब्द' 'प्रातिपदिक' या 'धातु' रूप में रहता है। एक ही 'शब्द' वाक्य के भीतर बैठकर कभी

1. सुप्तिङन्तं पदम्, अष्टाध्यायी, १।४।१४

उसका कोई अवयव रहता है और कभी कोई दूसरा ही। 'नामधातु' पहले नाम रहते हैं पर धातु के रूप में भी उनका प्रयोग होता है। 'लज्जा' भाव है अर्थात् नाम है, पर 'लजाना' क्रिया है। अतः व्याकरण-गत भेद एक ही शब्द या शब्दरूप में होता रहता है। जितने शब्द बनते हैं वे सब सीधे धातु से ही नहीं बनते। धातु से शब्द के बन जाने पर फिर उससे भी अन्य शब्द बनने लगते हैं। धातु से सीधे बननेवाले शब्दों में कुछ प्रत्यय लगते हैं और उनके बन जाने पर फिर उनमें दूसरे ही प्रत्यय लगाकर अन्य शब्द बनाए जाते हैं। सीधे धातु में जो प्रत्यय लगते हैं उन्हें 'कृत्' कहते हैं और जो प्रत्यय धातु से बने-बनाए शब्दों में लगते हैं उन्हें 'तद्धित' कहते हैं। यह तो हुआ भाषा में शब्द-निर्माण का तत्त्व। अब इन दोनों प्रकारों से बने शब्दों में व्याकरणगत प्रत्यय लगाकर उनका वाक्यगत संबंध व्यक्त किया जाता है। यही है रूपनिर्माण का तत्त्व। इस प्रकार शब्दों में कौन कौन से प्रत्यय लगते हैं इन सबका विचार विभक्ति-प्रधान आर्यभाषाओं में इस प्रकार होगा—
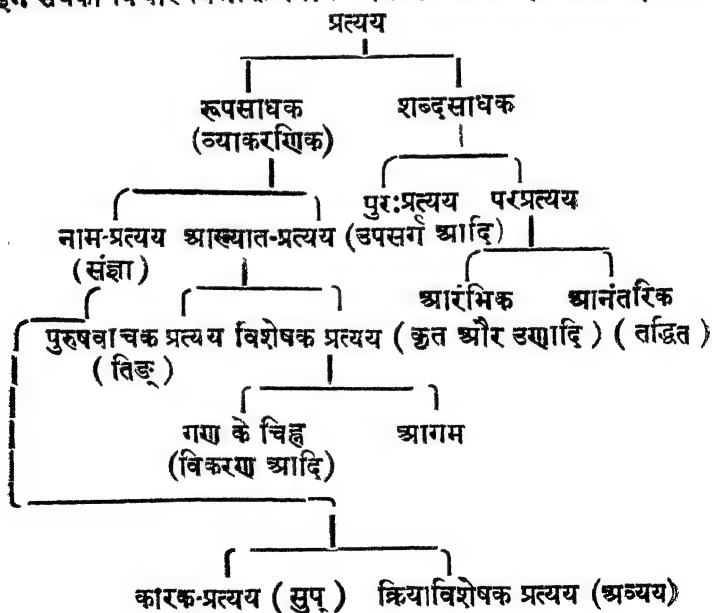
प्रत्येक 'पद' के दो टुकड़े होते हैं—प्रकृति और प्रत्यय। 'प्रकृति' साध्य होती है और प्रत्यय साधक। 'शिवः' शब्द में 'शिव' प्रकृति है और 'सु' (:) प्रत्यय है। यह कारक-प्रत्यय है। क्रियाविशेषक या अव्यय के प्रत्यय (अथवा चिह्न) वैसे ही होते हैं जैसे कारक के। वस्तुतः इनमें इस दृष्टि से कोई भेद नहीं है। उदाहरण चाहे संस्कृत से लीजिए चाहे हिंदी से; संस्कृत में—अग्रे, अचिरम्, अचिरेण, अचिराय, अचिरात् आदि; हिंदी में—सबेरे, रात को, भूले से, कब का, वहाँ पर आदि। 'विकरण' धातु और प्रत्यय के बीच आनेवाला गण का चिह्न होता है। संस्कृत में 'पठ्' धातु से 'पठति' रूप बनता है जिसका विश्लेषण यों होगा—पठ् (धातु)+अ (विकरण)+ति (तिङ् प्रत्यय)=पठति (वह पढ़ता है)। 'आगम' पहले होता है; जैसे, अपठत्=अ (आगम)+पठ् (धातु)+अ (विकरण)+त् (तिङ् प्रत्यय)=अपठत् (उसने पढ़ा)। शब्द के आरंभ में लगनेवाले प्रत्यय (उपसर्ग) धातु में भी लगते हैं और धातु से बने शब्द में भी। कहीं तो ये उसके अर्थ को भिन्न कर देते हैं, कहीं वही अर्थ बनाए रखते हैं और कहीं बढ़ा देते हैं।[1] शब्द के अंत में जो प्रत्यय लगते हैं वे 'परप्रत्यय' हैं। कुछ तो सीधे धातु में लगते हैं और कुछ धातु से बने शब्दों में। पहले प्रकार के प्रत्यय 'कृत्' ('उणादि' भी) हैं और दूसरे प्रकार के 'तद्धित'।[2] 'गम्' (जाना) धातु में 'ति' कृत्-प्रत्यय लगने से 'गति' शब्द बना। यही 'मय' (मयट्) तद्धित-प्रत्यय लगने से 'गतिमय' हो गया।

---

१. धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्त्तते।
तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा॥

मिलाइए सिद्धांतकौमुदी से—
उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥

२. संस्कृत में वस्तुतः वृत्तियाँ पाँच हैं—कृत्, तद्धित, धातु, समास और एकशेष। धातु से भी धातु बनते हैं। 'एकशेष' में दो शब्दों में से एक ही रह जाता है; जैसे, 'माता च पिता च पितरौ', अतः यह द्वंद्व समास में गृहीत है।

शब्दों के निर्माण में द्विरुक्त या पुनरुक्त विधि का भी विशेष महत्त्व है। संस्कृत में तो 'जुहोत्यादि' गण के धातु में अक्षरों की ही द्विरुक्ति या द्वित्व होता है। 'पृ' (रक्षा करना) से बना 'पिपर्ति' (रक्षा करता है)। 'परोक्षभूत' में सभी का द्वित्व होता है; 'पत्' (गिरना) से 'पपात' (गिरा)। शब्दों की भी द्विरुक्ति होती है; जैसे, मुष्टीमुष्टि, हस्ताहस्ति, दंडादंडि, मुसलामुसलि, केशाकेशि आदि। हिंदी में भी बदाबदी, मारामारी, लट्ठमलट्ठा, धक्कमधक्का आदि शब्द चलते हैं। हिंदी में यौगिक पुनरुक्त शब्दों की खासी भीड़ है; जैसे, हाथोंहाथ, रातोंरात, बीचोंबीच आदि। द्विरुक्ति के अतिरिक्त समास की विलक्षण प्रक्रिया आर्यभाषाओं में मिलती है। अन्य भाषा-परिवारों में वास्तविक समास प्रायः नहीं मिलते। जहाँ मिलते भी हैं वहाँ अधिकतर षष्ठी तत्पुरुष के ही उदाहरण। दो या दो से अधिक शब्द मिलकर जहाँ एक पद हो जाते हैं वहाँ समास होता है।[1] आर्यभाषाओं में आरंभ में तो अधिकतर दो शब्दों के ही समास मिलते हैं पर आगे चलकर समासों की लड़ी बँधने लगी। हिंदी की प्रवृत्ति समास-बहुला नहीं है। वर्णनात्मक या वंदनात्मक प्रसंगों में तो कुछ लंबे समास जँचते भी हैं, पर अन्यत्र उतने रुचिकर नहीं प्रतीत होते। यह प्रयत्न भी भाषा में सरलता ही लाने के लिए था। हिंदी के अपने समास अधिकतर दो ही शब्दों के बने होते हैं। 'अंजनीगर्भअंबोधिसंभूतविधु' या 'रूपोद्यान-प्रफुल्लप्रायकलिका' को लोग जो संस्कृत कहते और इनसे भड़कते हैं उसका कारण यही है।

पुराकालीन शोध

भाषाविज्ञानी पुराकालीन शोध में सबसे अधिक महत्त्व प्राचीन आर्यावास के निर्णय को देते हैं। आरंभ में ही यह कहा जा चुका है कि प्राचीन आर्यावास को यूरोप में कहीं ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न पश्चिमी विद्वान् बराबर करते आए हैं। अविनाशचंद्रदास ने बड़ी ही छानबीन के साथ सप्तसिंधु देश को ही प्राचीन आर्यावास प्रमाणित

---

[1] पदयोः पदानां वैकत्र समसनं समासः।

किया है। भारत को आर्यों का उपनिवेश मानने में राजनीतिक भाव-भंगिमा भी अवश्य रही है, अब इसे भी लोग कहने लगे हैं।[१] भारतीय आर्यों की परंपरा में बाहर से भारत में आ बसने का न तो कोई प्रवाद है और न उनके इतने विस्तृत वाङ्मय में उसका कहीं स्पष्ट उल्लेख ही। इतनी बड़ी बात की अवहेलना नहीं की जा सकती। भले हो इस परंपरा को पुष्ट प्रमाण मानकर कोई न चले, पर इसका कोई विचार न करना और इसके विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण न देना सच्ची शोध नहीं हो सकती। अतः अपनी संस्कृति के अभिमानी कहने लग गए हैं कि हम कहीं बाहर से नहीं आए थे।[२]

भाषा के आधार पर आर्यों की प्राचीन सभ्यता का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया जाता है। उनके गार्हस्थ्य, सामाजिक, राजनीतिक, व्यावसायिक तथा मानसिक जीवन का विस्तृत विचार किया जाता है। भाषा की जैसी उन्नतावस्था वेदों में प्राप्त होती है और भाषा-विचार के जैसे ग्रंथ वैदिक युग में ही मिल जाते हैं उसके अनुसार यह तो मानना ही पड़ता है कि आर्यों की मानसिक स्थिति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। रमेशचंद्रदत्त आदि के स्वर में स्वर मिलानेवालों के मुख बंद हो गए हैं और वैसी ही सड़ी-गली बातें लिख मारने का समय भी लद चुका है। यह स्वीकृत करना पड़ा है कि उनकी समाजिक, राजनीतिक और व्यावसायिक स्थिति सुदृढ़ और समृद्ध थी। गव्याशी, सोमपायी, अग्नियाजी, शतंजीवी, विशांपतिसेवी दंपती क्या वन्य जीवमात्र थे? 'मधुवाता ऋताय ते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वौषधीः' का पाठ करनेवालों के जीवनगत अभिलाष क्या सामान्य थे? कैसे आदर्शवादी रहे होंगे वे जिनकी वाणी यह कहते नहीं थकती थी—

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

———

१. देखिए श्रीसंपूर्णानंद-कृत 'आर्यों का आदिदेश'।

२. देखिए जयशंकर 'प्रसाद' कृत 'स्कंदगुप्त' नाटक।

नागरी लिपि

आर्यलिपियों का इतिहास

भारत में अत्यंत प्राचीन काल से लिपि का प्रचार है। 'श्रुति' और 'स्मृति' नामों से धोखा खाकर यह कहना ठीक नहीं कि भारत में लिपि विदेश से आई। जैसे वेद की वाणी ब्रह्मा के मुख से निकली मानी जाती है वैसे ही लिपि उनके पाणि से।[1] 'वेद' का नाम 'ब्रह्म' है, आदिलिपि का नाम भी ब्रह्म द्वारा निर्मित होने के कारण 'ब्राह्मी' है। ऋग्वेद में जुआड़ियों के पासे पर अंक बने होने का उल्लेख है।[2] अथर्ववेद में जुए की जीत के धन के लिखे होने की चर्चा है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण में 'ॐ' 'अ', 'उ' और 'म्' वर्णों के योग से बना कहा गया है।[4] छांदोग्य उपनिषद् में वर्ण के अर्थ में 'अक्षर' शब्द का प्रयोग है।[5] पाणिनि ने तो 'लिपि' शब्द का ही व्यवहार किया है।[6] कामसूत्र में जिन चौंसठ कलाओं का वर्णन है उनमें एक कला पुस्तकवाचन भी है।

बौद्धों के वाङ्मय में अक्षरों की बुझौवल के खेल 'अक्खरिका'

---

१. ना करिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यत् शुभा गतिः ॥—नारदस्मृति।

२. अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्।—१०।३४।२।

३. अजैषं त्वा संलिखितमाजैषमुत संरुधम्।—७।५०।५।

४. तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदोमिति।—५।३२।

५. हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम्। आदिरिति द्व्यक्षरम्।—२।१०

६. दिवाविभानिशाप्रभा···लिपिलिबिबलिभक्ति···।—अष्टाध्यायी, ३।२।२१।
लिपिलिबिशब्दौ पर्यायौ—सिद्धांतकौमुदी।

(अक्षरिका)[1] का नाम आया है, भिक्षु के लिए यह खेल वर्जित था। 'ललितविस्तर' में तो चौंसठ प्रकार की लिपियों के नाम दिए गए हैं।[2] जैन वाङ्मय में भी अठारह प्रकार की लिपियों का उल्लेख है।[3] इस प्रकार प्रमाणित है कि ईसा से पूर्व भारत में लिपिविद्या बहुत ही उन्नत थी। अशोक के धर्माभिलेखों से तो भली भाँति प्रमाणित है कि दो लिपियों का प्रचार उस समय निश्चित था।[4] एक थी ब्राह्मी, जो

---

१. देखिए 'सुत्तंत' में 'शील'-संबंधी बुद्ध के वचन।

२. ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारी, अंग, वंग, मगध, मांगल्य, मनुष्य, अंगलीय, शकारि, ब्रह्मवल्ली, द्राविड, कनारि, दक्षिण, उग्र, संख्या, अनुलोम, ऊर्ध्वधनु, दरद, खास्य, चीन, हूण, मध्याक्षरविस्तर, पुष्प, देव, नाग, यक्ष, गंधर्व, किनर महोरग, असुर, गरुड, मृगचक्र, चक्र, वायुमरु, भौमदेव, अंतरिक्षदेव, उत्तरकुरुद्वीप, अपरगौडादि, पूर्वविदेह, उत्क्षेप, निक्षेप, विक्षेप, प्रक्षेप, सागर, वज्र, लेखप्रतिलेख, अनुद्रुत, शास्त्रावर्त गणावर्त, उत्क्षेपावर्त, विक्षेपावर्त, पादलिखित, द्विरुत्तरपदसंधिलिखित, दशोत्तरपदसंधिलिखित, अध्याहारिणी, सर्वरुतसंग्रहणी, विद्यानुलोम, विमिश्रित, ऋषितपस्तप्त, धरणीप्रेक्षण, सर्वौषधनिष्यंद, सर्वसारसंग्रहणी और सर्वभूतरुद्ग्रहणी नामक लिपियाँ।

३. बंभी, जवणालि, दोसापुरिया, खरोट्टी, पुक्खरसारिया, भोगवइया, पहाराइया, उयंतरकिरिया, अक्खरपिट्ठिया, वेणइया, णिण्हइत्तिय, अंक, गणित, गंधव्व, आदंस, माहेसरी, दामिली और पोलिंदी लिपियाँ। —पन्नवणासुत्र।

४. अशोक के धर्मलेख इन स्थानों पर मिले हैं—शहबाजगढ़ी (यूसुफजई, पंजाब), मानसेरा (हजारा, पंजाब), दिल्ली, खालसी, (देहरादून, युक्तप्रांत), सारनाथ (बनारस, युक्तप्रांत), रधिया, मथिया, रामपुरवा (तीनों चंपारन, बिहार में), सहसराम (शाहाबाद, बिहार), निगलिवा, रुमिंदेई (दोनों नैपाल की तराई में), धौली (कटक, उड़ीसा), जौगड़ (गंजाम, मदरास), बैराट (जयपुर), गिरनार (काठियावाड़), सोपारा (थाना, बंबई), साँची (भोपाल राज्य), रूपनाथ (मध्यप्रदेश),

बाइँ ओर से दाइँ ओर को लिखी जाती थी और दूसरी 'खरोष्ठी'[1] जो दाइ ओर से बाइँ ओर को। बहुत प्राचीन काल की लिपियों का प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलने का कारण यह है कि जिन वस्तुओं पर वे लिखी जाती थीं वे नष्ट हो गइँ। पाषाणों पर उत्कीर्ण लेख ही बचे रहे। बूलर ने ब्राह्मी वर्णों की उत्पत्ति फिनिशियाई वर्णों से बताई है और कहा है कि उन वर्णों को उलट-पलटकर इसके वर्ण बैठा लिए गए हैं। जिस विधि से यह व्युत्पत्ति बतलाई गई है उसके अनुसार तो किसी देश की किसी भी लिपि से किसी देश की कोई भी दूसरी लिपि व्युत्पन्न की जा सकती है। पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने विस्तार के साथ 'प्राचीन लिपिमाला' में इसका विद्वतापूर्ण ढंग से खंडन किया है।

ब्राह्मी में प्राप्त शिलालेखों आदि के आधार पर ऐतिहासिक दृष्टि से इसका समय ईसापूर्व ५०० से ईसाई संवत् ३५० तक माना जाता है। ब्राह्मी में चौथी शती में स्पष्ट दो शैलियाँ दिखाई पड़ने लगी थीं जिन्हें उत्तरी और दक्षिणी नाम दिया गया है। उत्तरी शैली की ब्राह्मी से जिन लिपियों का देश-काल के अनुसार विकास हुआ वे गुप्त, कुटिल, नागरी, शारदा और बँगला हैं। दक्षिणी शैली के अंतर्गत विकसित लिपियाँ पश्चिमी, मध्यप्रदेशी, तेलुगु-कंनड़ी, ग्रंथ, कलिंग और तमिल हैं।

गुप्तवंशी नरेशों के समय जो लिपि समस्त उत्तरी भारत में चलती थी उसका नाम **गुप्तलिपि** रख दिया गया है। इसमें कई वर्ण वर्तमान नागरी वर्ण के से दिखाई पड़ने लगे थे। माथे पर के चिह्न कुछ लंबे हुए और मात्राएँ नए साँचे में ढलने लगीं। इसका समय ईसा की चौथी और पाँचवीं शती है। गुप्तलिपि का विकसित रूप जो उत्तरी भारत में ईसा की छठी से नवीं शती के बीच दिखाई पड़ा वह 'कुटिल'

मस्की (हैदराबाद राज्य) और सिद्धापुर (मैसूर राज्य)। शहबाजगढ़ी और मानसेरा के लेखों में खरोष्ठी और शेष में ब्राह्मी का व्यवहार हुआ है।

१. चीनी भाषा में 'किअ लु-से-टो' (खरोष्ठी) का अर्थ 'गधे का होंठ' होता है।

कहलाता है,[1] इस लिपि में वर्णों के माथे पर 'त्रिकोण' (▼) सा बना होता था। वर्णों तथा मात्राओं की वक्र या टेढ़ी आकृति के कारण इसे '**कुटिल**' कहना ठीक ही है। दसवीं शती से उत्तर भारत में '**नागरी**' दिखाई देने लगती है। दक्षिण में तो आठवीं शती से ही इसके दर्शन होने लगे थे, जहाँ इसका नाम 'नंदिनागरी' था। नागरी से ही बँगला, कैथी, गुजराती, मराठी आदि लिपियाँ निकली हैं। 'कुटिल लिपि' का जो विकास कश्मीर में हुआ वह 'नागरी' से भिन्न था, उसका नाम '**शारदा**' पड़ा। 'शारदा' 'नागरी' की बहन है। 'शारदा' से ही टक्री और गुरुमुखी का भी विकास हुआ। 'नागरी' की पूर्वी शाखा से आरंभ में जो **बँगला** लिपि निकली उसी से वर्तमान बँगला, मैथिल और उड़िया लिपियों का विकास हुआ है।

दक्षिणी शैली के अंतर्गत **पश्चिमी** लिपि नाम पुराने समय में काठियावाड़, गुजरात, नासिक, खानदेश, सतारा आदि में मिलनेवाली लिपि का रखा गया है। **मध्यप्रदेशी** लिपि मध्यप्रदेश, हैदराबाद के उत्तर भाग और बुँदेलखंड में पिछले समय में मिलने वाली लिपि का नाम है। **तेलुगु-कंनड़ी** लिपि नाम से ही स्पष्ट है कि वह वर्तमान तेलुगु और कंनड़ी लिपियों की पूर्वजा थी। संस्कृत-ग्रंथों के लिखने में **ग्रथ** नाम की भिन्न ही लिपि चलती थी। उसी से मलयालम और तुलु लिपियों का विकास हुआ है। **कलिंग** लिपि कलिंग देश की थी। **तमिल** लिपि के ही अंतर्गत उसकी घसीट लिपि भी है जिसे '**वट्टेलुत्तु**' कहते हैं।[2]

---

१ विष्णुहरेस्तनयेन च लिखिता गौडेन करणिकेयैषा।
कुटिलाक्षराणि विदुषा तक्षादित्याभिधानेन ॥—एपिग्रैफिका इंडिका।
नो कायस्थैः कुटिललिपिभिर्नो विटैश्चाटुदक्षैः।—विक्रमांकदेवचरित।

२. विस्तार के लिए देखिए श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा की 'प्राचीन लिपिमाला'।

'नागरी' नाम

'नागरी' शब्द लिपि के लिए कैसे चल पड़ा, इस पर भिन्न भिन्न मत हैं। एक मत तो यह है कि 'नगरों' में जो लिपि चलती थी वह 'नागरी' कहलाई। कुछ लोग, 'नागरी' का संबंध 'नागर' ब्राह्मणों से जोड़ते हैं। नागर ब्राह्मणों का मूलस्थान गुजरात में है। पर नागरी लिपि का क्षेत्र उत्तरापथ है और गुजरात के पुराने दानपत्र आदि पश्चिमी लिपि में मिलते हैं। कुछ लोग 'नागरी' के लिए चलनेवाले 'देवनागरी' शब्द को पकड़ते हैं और कहते हैं कि प्राचीन काल में देवमूर्तियों की पूजा चलने के पूर्व देवी-देवताओं की पूजा 'यंत्रों' में सांकेतिक प्रतीकों (चिह्नों) द्वारा होती थी। ये यंत्र त्रिकोण, चक्र आदि के रूप में होते थे, जिन्हें 'देवनगर' कहते थे। इनमें वे प्रतीक मध्य में लिखे जाते थे। कालांतर से 'देवनगर' में लिखे हुए प्रतीक उनके नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे। इस प्रकार 'देवनागरी' नाम चल पड़ा। फिर 'देवनागरी' से 'देव' के हट जाने पर केवल 'नागरी' नाम रह गया।[1]

'नागरी' का उल्लेख जैन ग्रंथ नंदिसूत्र में सबसे पहले मिलता है, जो जैनों के अनुसार ईसापूर्व ४५३ का लिखा माना जाता है। तांत्रिक काल में तो यह नाम अवश्य प्रसिद्ध था। 'नित्याषोडशिकार्णव की 'सेतुबंध' टीका के कर्त्ता भास्करानंद ने 'नागर लिपि' पद का व्यवहार किया है।[2] इसी प्रकार 'वातुलागम' की टीका में भी 'नागर लिपि'

---

१. नागरी लिपि की उत्पत्ति जैसे 'देवनगर' से कही जाती है वैसे ही श्री-जगन्मोहन वर्मा ने 'सरस्वती' में लंबा-चौड़ा लेख लिखकर इसे 'चित्रलिपि' से विकसित उद्घोषित किया था। उनके अनुसार 'नागरी' में टवर्ग विदेशियों के प्रभाव से आया है। आधुनिक भाषाशास्त्री टवर्ग को बाहरी प्रभाव ही मानते हैं।

२. कोणत्रयवदुद्भवो लेखो यस्य तत्। नागरलिप्या सांप्रदायिकैरेकारस्य त्रिकोणाकारतयैव लेखनात्।

शब्द व्यवहृत हुआ है।[1] बहुत प्राचीन काल में नागरी 'ब्राह्मी' कहलाती थी।[2]

'नागरी' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है। इसमें वर्णों का विभाग ऐसे ढंग से किया गया है कि उनके नाम और उच्चरित ध्वनि दोनों में अंतर नहीं है। एक वर्ण से एक ही ध्वनी निकलती है। जैसे अँगरेजी में किसी रोमी स्वर-वर्ण द्वारा कभी एक ध्वनि निकाली जाती है और कभी दूसरी, ऐसी बात नागरी में नहीं। फारसी लिपि में रोमी वर्णों की भाँति ही वर्ण के नाम और ध्वनि में एकता नहीं है। वर्ण का नाम 'बो' या 'बे' है पर ध्वनि उससे 'ब्' होती है। लिखें कुछ और पढ़ें कुछ ऐसा नागरी में नहीं, अन्यत्र चाहे जहाँ हो। यही क्यों, मात्राओं के विधान के कारण थोड़े में ही बहुत कुछ लिखा जा सकता है। यह विधान भी ध्यान देने योग्य है। व्यंजन के चारों ओर मात्राएँ लगती हैं। इनमें केवल ह्रस्व 'इ' की मात्रा (ि) ही व्यंजन के पहले लगती है, शेष मात्राएँ ऊपर, नीचे या आगे ही लगाई जाती हैं।

लिपि-सुधार

'नागरी' में परिवर्तन करने का घोर आंदोलन चल रहा है। व्यंजनों की भाँति स्वर की भी 'बारहखड़ी' चलाने का प्रयास हो रहा है; इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ के स्थान पर भी अि, अी, अु, अू, अे, अै। बालबुद्धिवालों के लिए चाहे यह सुगम हो, पर है यह अत्यंत अवैज्ञानिक विधान। अ, इ, उ तीनों स्वर भिन्न भिन्न हैं, अतः उनका स्वरूप भी भिन्न भिन्न रहना ही ठीक है। मात्रा वस्तुतः स्वर का प्रतीक या प्रतिनिधि होती है; क्+इ=क्+ि=कि। स्पष्ट है कि 'ि' वस्तुतः 'इ' है। अतः अि=अ+ि=अ+इ=अइ या ए। यदि कहिए कि 'ओ'

---

१. शिवमन्त्रान्मूर्त्युद्धारकृतिः, नागरलिपिभिरुद्धारयितं यच्यते। व्यतिरिक्त-लिपिभिर्नोद्धारयितं यच्यते।

२. देखिए हिंदी-शब्दसागर।

में 'ो' की मात्रा क्यों लगी है, तो कहा जायगा कि 'ओ' संयुक्त स्वर या संध्यक्षर है, वह 'अ+उ' से मिलकर बना है। अच्छा तो यही होता कि 'ओ' को व्यक्त करने के लिए कोई पृथक् चिह्न होता, जैसा ब्राह्मी के आरंभिक काल में था, पर ऐसा न करके संध्यक्षर के दोनों स्वरों (अ, उ) में से किसी एक का रूप लेकर 'ो' मात्रा उसके साथ लगाई गई। जैसे अब 'अ' में 'ो' लगाकर 'ओ' लिखते हैं वैसे ही पुराने हस्तलिखित ग्रंथों में 'उ' में 'ो' लगाकर 'उो' भी लिखते थे। 'ए' के भी दो रूप पाए जाते हैं; 'अ' में 'े' लगाकर 'अे' या 'इ' में 'े' लगाकर 'इे'। 'ए' में 'अ' और 'इ' का मेल है। 'ए' का वर्तमान रूप ब्राह्मी के उस प्राचीन रूप से विकसित हुआ है जो त्रिकोण (△) था।[1] 'ए' का प्रतिनिधि 'े' है और 'ऐ' का प्रतिनिधि 'ै'। कुछ सुभीता हो सकता था यदि ए लिखा जाता 'ऐ' और ऐ 'ऐ̃'। क्योंकि जैसे 'ओ' में की मात्रा 'ो' निकालकर व्यंजन में लगाते हैं उसी प्रकार 'ऐ' से 'े' और 'ऐ̃' से 'ै' मान लेते। ऐसा न होने पर 'ओ' 'औ' की पद्धति पर 'अे' और 'अै' लिखा जा सकता है, जैसा हस्तलिखित ग्रंथों में हुआ है। 'ए' का वर्तमान रूप जिलाए रखने की आवश्यकता है, नहीं तो तंत्र आदि के ग्रंथों के त्रिकोण रूप से उसकी एकता न रहेगी।

व्यंजनों पर आइए। सुधारकों का कहना है कि 'नागरी' में बहुत से वर्ण हो गए हैं इसलिए मुद्रायंत्र (प्रेस) और छापयंत्र (टाइप-राइटर) के सुभीते के लिए इन्हें कम करना चाहिए। उनकी दृष्टि में कुछ वर्ण भ्रामक भी हैं और संयुक्ताक्षरों के व्यर्थ ही स्वच्छंद रूप हो गए हैं। रोमी या अरबी-फारसी लिपि की भद्दी नकल पर जो 'ख' को 'क्ह', 'घ' को 'ग्ह' लिखना चाहते हैं उनको बुद्धि तो अवश्य विलायती हो गई है। किसी परिवर्तन में परंपरा का विचार रखना ही बुद्धिमानी या वैज्ञानिकता हो सकती है, मनमानी नहीं। एक ही आँख से किसी का काम चल जाय तो क्या दो आँखवाले अपनी एक एक आँख फोड़ लें।

---

1. एकारस्य त्रिकोणाकारतयैव लेखनात्।

अतः ऐसों की बात पर विचार करना भी अविचार है। भ्रामक वर्णों में 'ख' और 'र' का नाम आता है। 'ख' का रूप 'र' और 'व' का मिला रूप सा हो गया है। हिंदी में तद्भव या संस्कृत के शब्दों में 'ख' के 'र व' समझे जाने या 'र व' के 'ख' समझे जाने की गुंजाइश नहीं है, अरबी-फारसी के शब्दों में ऐसा अवश्य हो सकता है, 'रवाना' को 'खाना' पढ़ा जा सकता है। पर प्रत्येक शब्द वाक्य में प्रयुक्त होकर कोई अर्थ भी व्यक्त करता है। आज तक हिंदी में 'ख' और 'र व' की भ्रांति से कहाँ कठिनाई हुई। 'र' का रूप 'ण' में भी दिखाई पड़ता है, अतः 'ण' को परिवर्तित करने की भी राय दी जा रही है। वस्तुतः सारे झगड़े की जड़ 'र' है। 'र' का व्यंजन रूप 'र्' रेफ (ॅ) होकर वर्णों के मस्तक पर बैठता है। इसे भी भ्रामक कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि 'र' के रूप हिंदी में दो हैं। उसका एक रूप 'कोणवत्' होता है जो प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में मिलता है और कैथी, महाजनी आदि में चलता है। नागरी में वह रेफ और नीचे लगनेवाले 'र्' के रूप में बना है। संयुक्ताक्षरों में 'र' ऊपर रहकर रेफ होता है, जो पहले कोणवत् था पर अब गोल हो गया है। वर्णों के नीचे लगने पर उसकी दो रेखाओं में से एक व्यक्त रहती है और दूसरी वर्ण की खड़ी पाई में मिल जाती है। जहाँ मिलने का अवसर नहीं होता वहाँ वह अपने पूरे रूप में व्यक्त होता है। 'क्' में 'र' मिलकर 'क्र' होता है। इसमें वस्तुतः 'क्' के नीचे 'र' का रूप कोणवत् (^) है, केवल एक रेखा '–' मात्र नहीं। 'क' की खड़ी मध्यग रेखा में 'र' की दूसरी रेखा मिल गई है। 'ट' में किसी खड़ी रेखा के न होने से 'र' अपने पूरे रूप में आता है—ट्र। अब यदि 'र' के स्थान पर उसका कोणवत् रूप '^' हो जाय तो अन्यत्र 'र' रूप भ्रामक न माना जा सकेगा। नागरी में संयुक्त वर्णों में पहला वर्ण ऊपर और दूसरा नीचे लगता रहा है। छपाई के कारण उन्हें आगे-पीछे छापने लगे हैं। संयुक्त व्यंजनों में क्ष, त्र, ज्ञ ही विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पहले वर्णमाला में ये अन्य व्यंजनों की भाँति पढ़ाए भी जाते थे। 'क्ष' 'क्+ष' से बना है। इसे

'क्ष' लिखा तो जा सकता है पर तंत्रों में इस के इस रूप का विशेष महत्त्व है, इसे भी ध्यान में रखना चाहिए। 'त्र' को 'त्र' भी लिख सकते हैं। मिलते समय 'त्' का रूप बेंड़ी रेखा मात्र रह जाता है, जैसा 'क्त' या दुहरे 'त्' (त्त) में। 'ज्ञ' में 'ज्' और 'ञ्' का योग है। पर हिंदी के उच्चारण के अनुसार उसे 'ज्ञ' लिखना ठीक न होगा। समष्टि में लिपि में बड़े-बड़े सुधार करना अवैज्ञानिक और अविचारित है। यह तो यंत्रविद्याविशारदों का काम है कि वे इस लिपि के छापने का सरल मार्ग निकालने का प्रयत्न करें। बंबई में 'खंड' और 'अखंड' अक्षर-पद्धति द्वारा काम लिया जाता है। 'खंड' में बहुत थोड़े खानों से ही काम निकल जाता है। उनके जोड़ने में अपेक्षाकृत समय अवश्य अधिक लगता है। स्मरण रखना चाहिए कि नागरी में थोड़े में ही बहुत लिखा भी जा सकता है। जहाँ किसी विदेशी शब्द को लिखने में कई वर्णों का उपयोग करना पड़ता है वहाँ नागरी में, मात्राओं की योजना के कारण, थोड़े में ही काम हो जाता है। अँगरेजी 'थ्रू' में सात वर्ण लिखने पड़ते हैं, नागरी में दो वर्ण और एक मात्रा ही। यह कहना ठीक नहीं कि नागरी में लिखने में देर होती है और अन्य लिपियों में बिना लेखनी उठाए लिखने से शीघ्रता होती है। नागरी में थोड़े में ही बहुत लिखा भी तो जा सकता है ? जो लिखा जायगा वही पढ़ा भी तो जाएगा। फारसी लिपि की भाँति अटकलबाजी तो नहीं करनी होगी।

लिपि में सुधार हो जाने से पुराने छपे ग्रंथों के लिए अलग लिपि जाननी पड़ेगी और नए ग्रंथों के लिए अलग। 'नागरी' का व्यवहार संस्कृत के ग्रंथों में भी होता है, उन ग्रंथों को पढ़ने में कठिनाई होने लगेगी। छात्रों के सिर पर बोझ बढ़ेगा। इस प्रकार अनेक गौण उपद्रव भी खड़े होंगे, जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। छापे के लिए नागरी वर्णों का जो माथा काटना चाहते हैं उन्हें गुजराती की ओर भी दृष्टि डालनी चाहिए, जिसमें वर्णों में शिरोरेखा नहीं लगती। वहाँ इससे कौन बहुत बड़ा अंतर पड़ गया है ?

यह सभी जानते हैं कि नागरी का व्यवहार हिंदी और संस्कृत के अतिरिक्त मराठी में भी होता है। पर मराठी के कई वर्णों का स्वच्छंद विकास हुआ है। उत्तर में जो नागरी चलती है उसके कई वर्णों से मराठी के इन्हीं वर्णों के रूप में भिन्नता है। उत्तर भारत में भी मराठों के संसर्ग और छापेखानों में बंबई से अक्षर (टाइप) मँगाने से नागरी के कई अक्षरों के स्थान पर मराठी के अक्षर व्यवहृत होने लगे हैं। कलकत्ता बंबई से दूर पड़ता है, अतः वहाँ नागरी के अक्षर ज्यों के त्यों हैं। पर युक्तप्रांत और बिहार के छापेखानों में अब हिंदी-नागरी और मराठी-नागरी के अक्षरों में विलक्षण मेल हो गया है। आरंभ में यह बात नहीं थी। मराठी-नागरी या दक्षिणी नागरी के कुछ अक्षर ऐसे अवश्य हैं जिनके लिखने में हिंदी-नागरी या उत्तरी नागरी के अक्षरों की अपेक्षा लाघव होता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उत्तरी नागरी में जिस रूप का विकास हुआ है वह मार ही डाला जाय। छपाई में और बच्चों को बारहखड़ी सिखाने में तो कोई बाधा नहीं है ? जब एक ही पंक्ति में उत्तरी और दक्षिणी नागरी दोनों के अक्षर छपाई में दिखाई पड़ते हैं तो एकरूपता न होने से आलस्य और अनवधानता का डंका पिटने लगता है। वैकल्पिक रूप में चाहे दक्षिणी नागरी (मराठी) के कुछ अक्षर भी हिंदी में स्वीकृत कर लिए जायँ, पर कम से कम छापने में तो उनका व्यवहार न हो। जिन अक्षरों में स्पष्ट भिन्नता है वे ये हैं—

नागरी—	अ	ऋ	छ	झ	ण	ल	श	क्ष
मराठी—	अ	ऋ	छ	झ	ण	ळ	श	क्ष

इनमें से अधिक व्यवहार अ, ण, ल और क्ष का होता है। कुछ लोग यह भूल ही गए हैं कि नागरी (हिंदी) का 'क्ष' मराठी के 'क्ष' से भिन्न होता है। वे मराठीवाले रूप को नागरी का और नागरीवाले रूप को मराठी का समझने लगे हैं। मिलावट में भी 'श्' का जैसा रूप मराठी में होता है, हिंदी में 'श्र' को छोड़कर, अन्यत्र नहीं होता। हिंदी के 'विश्व, प्रश्न' आदि मराठी में 'विश्व, प्रश्न' आदि लिखे जाते

के लिए ही उसके बिंदुवाले रूप (ं) में चंद्राकार (ॅ) लगाया गया है। क्योंकि चंद्राकार लघुप्रयत्न या ह्रस्वत्व का बोधक है। कुछ लोगों ने अब यह कहना भी आरंभ किया है कि ण, न और म में बिंदु या चंद्रबिंदु नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि ये वर्ण स्वयं अनुनासिक हैं। उनके अनुसार 'प्राणों, दोनों, कामों' के स्थान पर 'प्राणो, दोनो, कामो' ही लिखे जायँ। विचार करने से ज्ञात होता है कि हिंदी में अनुस्वार का प्रयोग इनके साथ भी होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो 'माँस' और 'मास' में भेद न रहेगा। 'दोनों' और 'दोनो' में भी वैयाकरणों ने भेद किया है।[1] हिंदी में संबोधन के बहुवचन में सानुनासिकता हटा दी जाती है। इसलिए 'ब्राह्मणों' और 'ब्राह्मणो' में भेद होता है। 'सज्जनों' और 'सज्जनो', 'गुणधामों' और 'गुण-धामो' में भी ऐसा ही भेद है। अतः यह प्रयास ठीक नहीं प्रतीत होता।

हिंदी में क्रियाओं के दो दो रूप चलते हैं—आई–आयी, गए–गये। इसी प्रकार कुछ विशेषण शब्दों में भी दुहरे रूप चलते हैं—नई–नयी, नए–नये। इनमें से पहले रूप तो उच्चारण के अनुगामी हैं और दूसरे रूप व्याकरण की विधि के। 'आया' पुंलिंग का रूप है, अतः व्याकरण के अनुसार स्त्रीलिंग का 'ई' प्रत्यय लगने से 'आयी' रूप बना; इसी प्रकार बहुवचन का 'ए' प्रत्यय लगने से 'आये'। पर 'नागरी' में उच्चारण के अनुसार लिखना ही ठीक है। संस्कृत के 'गतः' से 'गअ' या 'गय' होता है, इसी से खड़ी में गया, व्रज में गयो या गो और अवधी में 'गवा' या 'गा' रूप होते हैं। व्रज और अवधी के स्त्रीलिंग और बहुवचन में स्वरवाले रूप ही चलते हैं, 'य व' वाले रूप नहीं; फिर खड़ी बोली में ही 'य' वाले रूप क्यों? 'ई' लगाकर यदि व्याकरण का अनुधावन करें तो 'किया' का स्त्रीलिंग रूप 'कियी' होना चाहिए, पर होता है 'की'। यह 'की' वस्तुतः 'किई'

---

१. देखिए अंबिकाप्रसाद वाजपेयी कृत 'हिंदीकौमुदी'।

है, पर दीर्घसंधि हो जाने से 'की' रूप हो गया है ; ऐसे ही 'पिया' से 'पी', 'दिया' से 'दी'। इससे स्पष्ट है कि पूर्व में सवर्ण स्वर होने से 'ई' की संधि हो जाती है। य और व में जब स्वर-प्रत्यय मिलता है तो उनका उड़ जाना भी देखा जाता है ; जैसे, 'पाया' (पलंग का) और 'चारपाई', 'तिपाई'; 'ताया' (बाप का बड़ा भाई, ताता या ताऊ=चाचा) और 'ताई' (बड़ी चाची); 'तवा' और 'तई (थाली के ढंग की छिछली कड़ाही, जिसमें जलेबी या मालपुआ बनाते हैं) ; 'लावा' और 'लाई'। इसलिए आई, गई और आए, गए रूप ही ठीक हैं। 'हुआ' में 'आ' है ही, अतः 'हुई' और 'हुए' लिखना ही ठीक है, 'हुयी' या 'हुये' तो व्याकरण से भी विहित नहीं। 'चाहिए' को 'चाहिये' लिखने में पुंलिंग, स्त्रीलिंग या बहुवचन की दुहाई नहीं दी जा सकती, अतः उसका स्वरवाला ही रूप होना चाहिए। संप्रदान के 'लिए' और क्रिया के 'लिए' में भेद करते हैं। स्वर से क्रिया लिखनेवाले पहले को 'लिये' लिखते हैं। पर इसकी भी आवश्यकता नहीं, दोनों के उच्चारण में कोई भेद नहीं है। यहीं यह कह देना उचित होगा कि संस्कृत के तत्सम शब्दों में 'य' का ही व्यवहार हो। 'स्थायी' या 'उत्तरदायी' को 'स्थाई' या 'उत्तरदाई' नहीं लिखना चाहिए। ऐसे शब्दों के भी तद्भव रूपों में 'ई' का ही व्यवहार करना ठीक होगा ; जैसे, 'वाजपेयी' का तद्भव 'बाचपेई' (बैसवाड़ी)। क्रियाओं के कुछ दुहरे रूप विधि और भविष्यकाल में और मिलते हैं ; जैसे, आएगा (आयेगा), और आवेगा, लाए (लाये) और लावे। इनमें खड़ी के रूप पहलेवाले ही हैं, 'व' श्रुति-वाले रूप कदाचित् पूर्वी के प्रभाव से चल पड़े हैं।

हिंदी में संस्कृत से आए कुछ हलंत शब्दों के रूप दुहरे चलते हैं; जैसे, भगवान्-भगवान, जगत्-जगत, पृथक्-पृथक आदि। हिंदी में इन शब्दों के अंतिम व्यंजन का उच्चारण एक सा ही होगा, चाहे 'भगवान्' लिखें चाहे 'भगवान'। इस पर पहले 'स्वराघात' के प्रकरण में विचार हो चुका है (देखिए पृष्ठ ४३३)। सच पूछिए तो हिंदी

में इन शब्दों को अकारांत ही लिखना चाहिए। हिंदी में बने नामों या शब्दों से इनका हिंदी-रूप स्पष्ट हो जाता है; जैसे, भगवानदीन, भगवानदास, भगवानी, जगतसेठ, पृथकता आदि। 'भगवानदीन' का संस्कृत रूप या तो 'भगवद्दीन' होगा (यदि 'दीन' का अर्थ 'दरिद्र' लें) या भगवद्दत्त (यदि 'दीन' का अर्थ 'दिया हुआ' लें)। इस नाम को 'भगवान्‌दीन' लिखना तो आधी संस्कृत और आधी हिंदी लिखना होगा। 'भगवती' नाम संस्कृत है तो 'भगवानी' हिंदी। 'जगत-सेठ' को संस्कृत विधि से 'जगच्छ्रेष्ठ' होना चाहिए, हिंदी में 'जगत्-सेठ' तो 'आधा पंडित आधा साव' होगा। यदि जगन्नाथ, जगदीश आदि शब्दों की दुहाई दी जाय तो यही कहना पड़ेगा कि ये शब्द संस्कृत से बने बनाए लिए गए हैं, हिंदी में नहीं बने। बोली में तो बेचारे 'जगन्नाथ' 'जगरनाथ' हो जाते हैं। 'जगद्देव' (जगदेव) को 'जगरदेव' होना पड़ता है। 'जगदंबा' जो 'जगतंबा' हो जाती हैं। 'पृथकता' के स्थान पर संस्कृत के अनुसार हिंदी में 'पृथक्ता' ही रहे तो रह सकती है, पर 'महानता' का क्या होगा? 'महानता' भले ही विद्वानों में अशुद्ध समझी जाय, 'महत्ता' ही शुद्ध रहे, पर यह कहनेवालों को कौन रोक सकेगा कि 'महत्ता' संस्कृत है तो 'महानता' हिंदी। पंडितों की नकल कर चलने से हिंदीवालों को धोखा भी खाना पड़ा है। संस्कृत के कुछ स्वरांत शब्द भी हलंत लिखे जा रहे हैं; जैसे, श्रीयुत का श्रीयुत्, प्रत्युत का प्रत्युत्, शाश्वत का शाश्वत्, अद्भुत का अद्भुत् आदि। अतः यदि संस्कृत रूपों का भी आग्रह हो तो 'भगवान्' आदि पूर्वोक्त हलंत शब्दों के रूप कम से कम वैकल्पिक अवश्य स्वीकृत किए जायँ।

ऊर्ध्वग रेफ से युक्त व्यंजन विकल्प से दुहरा हो जाता है[1]; जैसे, कार्य-कार्य्य, कर्ता-कर्त्ता आदि। हिंदी में सरलता के विचार से केवल एक व्यंजन वाले रूपों का ही चलना ठीक है। जहाँ महा-

---

१. अचो रहाभ्यां द्वे, अष्टाध्यायी, ८।४।४६।

प्राण वर्ण होता है वहाँ विकल्प से उसी का अल्पप्राण जुड़ता है; जैसे, अर्द्ध-अर्ध, ऊर्द्ध-ऊर्ध्व, वर्द्धन-वर्धन। हिंदी में एक ही वर्णवाला रूप लिखने में क्या हानि है?

व और ब का विवेक प्राचीन समय में सबसे अच्छा नारदशिक्षा में मिलता है। उसके अनुसार जहाँ 'व' का परिवर्तन 'उ' या 'ऊ' में हो जाय अथवा जहाँ प्रत्यय की संधि से 'व' की प्राप्ति हो वहीं अंतस्था वर्ण आता है, अन्यत्र वर्ग का 'ब' ही होता है।[1] इसके अनुसार तो संस्कृत में चलनेवाले वे शब्द अधिकांश 'ब' वाले ही जान पड़ते हैं जो वहाँ भी 'व' से लिखे जाते हैं और हिंदी में भी। इसके अनुसार 'वेद' को 'बेद' ही लिखना चाहिए। संस्कृत में 'व' की विशेष प्रवृत्ति को कुछ लोग दक्षिणी मानते हैं। नारदशिक्षा के इस नियम का भरपूर पालन स्वर्गीय पं० नकछेद तिवारी कृत 'सनातनधर्मोद्धार' में दिखाई पड़ा। 'व' की प्रवृत्ति हिंदी में इतनी बढ़ने लगी है कि जहाँ 'ब' ही होना चाहिए वहाँ भी 'व' की स्थापना हो गई है। 'बृहस्पति' जी 'वृहस्पति' हो गए, तो 'बृहत्' को भी 'वृहत्' होना पड़ा। 'वाण' शुद्ध समझा जाने लगा और 'बाण' अशुद्ध। 'बिंदु' की क्या चिंता, वह 'विंदु' हो गया। 'बाह्य' (बाहरी) भी 'वाह्य' (ढोने योग्य) हुआ। जिस प्रकार हिंदी के प्रभाव से वक्तृता देते हुए संस्कृत के कुछ पंडित 'सेचन' के बदले 'सिंचन' बिना झिझक के कह जाते हैं, 'वातावरण' या 'वायुमंडल' से भी नहीं घबड़ाते, उसी प्रकार इस प्रवृत्ति के कारण एक वैयाकरणजी को एक बार यह भ्रम हुआ कि 'पिबति' (पीता है) के स्थान पर 'पिवति' ही ठीक है। उन्होंने अपनी पुस्तक में इसका शुद्धि-पत्र तक लगाया है। इससे बढ़कर 'व' का प्रसार और क्या होगा।

'श' का प्रभाव भी 'व' से कम नहीं है। 'कैलास' संस्कृत में ही

१.-उदूठौ यस्य विद्येते यो वः प्रत्ययसंधिजः।
अन्तस्थां तं विजानीयात्तदन्यो बर्ग्य इष्यते॥

'कैलाश' हो गया। बहुत दिनों से 'वसिष्ठ' का तालव्य भाव (वशिष्ठ) हो चुका है। जब गुरुजी की यह दशा हो गई तो 'कोसल' की 'कौसल्या' भी 'कोशल' देश की 'कौशल्या' हो गई और हिंदीवालों की कृपा से 'कौशिल्या' जी बनकर प्रसिद्ध हुईं। घुड़कनेवाले 'केसरी' जी 'केशरी' हुए सो हुए, पर गरजनेवाले 'केसरी' भी डरकर 'केशरी' बन बैठे। यहाँ तक भी कोई बात नहीं, गौड़ देश की कृपा से संस्कृत में भी 'श' की शंखध्वनि हो गई तो हो गई। पर जब खिलनेवाले 'विकास' 'प्रकाश' के भाई 'विकाश' बनकर अपनी ज्योति जगमगाने लगे हैं तो वे चमकें चाहे जितना पर खिलते नहीं। हिंदी में पढ़े-लिखे लोग तालव्य उच्चारण बनाए हुए हैं। नहीं तो 'श' का बोलचाल में यह उच्चारण नहीं है। ब्रज और अवधी भाषा में भी 'श' और 'ष' दंत्य हो जाते हैं, क्योंकि शौरसेनी में यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से है।[1] अतः हिंदी के अनुकूल तो पूर्वोक्त शब्दों के दंत्य 'स' वाले रूप ही दिखाई पड़ते हैं।

'तालु' और 'मूर्धा' में भी झगड़ा है, 'दंत' और 'तालु' में ही नहीं; क्योंकि दोनों पड़ोसी हैं, रहन-सहन में भी और बोली-बानी में भी। 'शश' चाहे 'षष' न हुआ हो[2] पर 'कोश' का तालु चटक गया, पेट भी फट गया, फिर तो इनके विशुद्ध भाई 'कोष' बन गए। 'वेश' ने 'वेष' बदला, 'विमर्श' का भी 'विमर्ष' होने लगा। हिंदीवाले संस्कृत के इन दुहरे रूपों में से मूर्धन्यों को ही अधिक अपनाते हैं, भले ही उनकी वाणी तालव्यों से ही मिलती हो।

मूर्धन्यों में से महाप्राण तक निकाले जाने लगे, अल्पप्राणों से ही काम चल रहा है। 'धोखा-धड़ी' के प्राण आधे हैं, 'धोका' खाने का यही फल है। 'ठंढ' को भी 'ठंड' आ लगी तो कोई बात नहीं, पछाहीं हवा ठहरी, उसमें 'ठंडक' विशेष हुआ करती है। पर 'पृष्ठ' की पीठ क्यों टूट

---

१. शषोः सः, प्राकृतप्रकाश, २।४३।

२. शशः षष इति मा भूत्। पलाशः पलाष इति मा भूत्।—महाभाष्य।

गई ? भला 'पृष्ट' से कैसे काम चलेगा ? 'कनिष्ठ' भी छोटे होकर 'कनिष्ट' हुए। 'कर्मनिष्ठ' की निष्ठा अनिष्ट से जा मिली, वह हुआ 'कर्मनिष्ट'। 'कुष्ठ' गलकर 'कुष्ट' रह गया। बद्ध 'कोष्ठ' खुलकर 'कोष्ट' हुआ। 'स्वादिष्ट' भी 'स्वादिष्ठ' नहीं रहा। 'घनिष्ट' से भी 'घनिष्ठता' जाती रही।

शब्दों के कुछ रूप हिंदी में पच्छिम और पूरब के उच्चारणगत भेद के कारण भी दुहरे हो गए हैं। पश्चिम में 'उँगली' दिखाते हैं, पूरब में 'अँगुली' या 'अँगुरी'। 'र ल' के अभेद से कई शब्दों में पूरब-पछाहँ के कारण रूपभेद हो गया है। पछाहँ का 'फुटकल' पूरब में 'फुटकर' हो जाता है। इसी प्रकार आँचल-आँचर, अटकल–अटकर आदि। 'ल' का 'न' भी होता है; जैसे, 'अड़चल' (पश्चिमी) का 'अड़चन' (पूर्वी)। 'र' का 'ड़' भी होता है, 'घबराना' का 'घबड़ाना'। पश्चिमी 'भलेमानस' जिनकी पत्नी 'भलीमानस' है, पूर्व में 'भलेमानुस' बने बैठे हैं।

भ्रम से दुहरे रूप कैसे चलते हैं इसके तो बहुत से प्रमाण मिल जायँगे। 'एकत्र' इकट्ठे के अर्थ में है ही, इसमें 'इत' के लगने से 'एकत्रित' पैदा हुआ, जो खूब चलता है। 'सशंक' को 'सशंकित' करते भी लोग 'शंकित' नहीं होते। 'प्रफुल्ल' फूलकर 'प्रफुल्लित' हो गया। 'आवश्यक' से 'आवश्यकीय' निकल पड़ा। कहीं कहीं संज्ञा-शब्दों में हिंदी के ढंग से 'इत' प्रत्यय लगाकर विशेषण बनाने लगे हैं; जैसे, 'क्रोध' से 'क्रोधित', 'क्षोभ' से 'क्षोभित'। संस्कृत के पंडित इससे बहुत ही 'क्रुद्ध' और 'क्षुब्ध' हैं। 'सिद्ध' की चेली 'सिद्धि' की बहन 'सिद्धता', 'कांत' की कन्या 'कांति' फिर 'कांतता', 'प्रसिद्ध' की पुत्री 'प्रसिद्धि' फिर 'प्रसिद्धता' तथा 'ख्यात' की बेटी 'ख्याति' फिर 'ख्यातता' किसी को कष्ट नहीं देतीं। पर 'सुजन' की बड़ी बेटी 'सुजनता' के बाद 'सौजन्यता' बहुतों को चिढ़ाती है, वह अपने भाई 'सौजन्य' का भी अधिकार छीन रही है। इनके अधिकारों पर हिंदी में जो 'वादविवाद' ('वादाविवाद' नहीं) हुआ था उसे बहुत से लोग भूले न होंगे। झुकाव सरलता की ओर ही होता

है, 'सौजन्यता' मेँ वह भी नहीँ। भला 'लावण्यता' मेँ कौन सा 'लावाण्य' है ! सरलता की ओर झुकाव अन्यत्र अवश्य मिलता है। 'महत्' मेँ 'त्व' लगने से 'महत्त्व' होता है, पर उसे हिंदी के बहुत से लेखक 'महत्व' लिखते हैँ। यही दशा 'तत्त्व' और 'सत्त्व' की भी है। 'उज्ज्वल' अब प्रायः 'उज्वल' लिखा जाता है 'संन्यास' के बिंदु को 'सन्यास' लेना पड़ा। 'सन्यासी' नाम का पत्र निकलता था और 'सन्यासी' एक नाटक भी है। कहीँ से बिंदु हटा तो कहीँ लगा भी। 'दुनिया' की 'दुनियाँ' को बदले थोड़े ही दिन हुए हैँ। 'आटा' अभी कल से 'आँटा' हुआ है।

'उद्देश्य' और 'उद्देश' का झगड़ा तो अब पुराना पड़ गया। 'उद्देश्य' संस्कृत मेँ ही सिद्ध बना बैठा है, हिंदी की कौन चलाए। 'उद्देश्य' और 'उद्देश' की लड़ाई बंद हो गई, 'उद्देश्य' सिद्ध हो गया, जम गया। इधर झगड़ा लगा है 'अनुगृहीत' और 'अनुग्रहीत' मेँ। 'संगृहीत' और 'संग्रहीत' भी लड़ पड़े हैँ। 'गृहीत' भले ही तुलसीदास के समय मेँ 'ग्रह-ग्रहीत' रहा हो, पर अब तो वह 'गृहस्थ' है। 'संगृहीत' के 'गृह' पर 'ग्रह' की क्रूर दृष्टि है।

कुछ शब्दोँ के, ह्रस्व-दीर्घ स्वर के भेद से, दो दो रूप होते हैँ, हिंदी मेँ ही नहीँ संस्कृत मेँ भी ; जैसे, अवलि-अवली, उषा—ऊषा, उष्मा—ऊष्मा, प्रतिकार—प्रतीकार प्रतिहार-प्रतीहार आदि। हिंदी के भी कुछ शब्दोँ के दुहरे रूप हो गए हैँ। पहले 'ऊँचाई' ही थी, अब 'उँचाई' भी है। 'तबीयत' को 'तबियत', 'दूकान' को 'दुकान', 'कानपूर, फतेहपूर, गोरखपूर' आदि को 'कानपुर, फतहपुर, गोरखपुर' आदि हुए बहुत दिन नहीँ बीते हैँ। 'दूधिया' पूरब मेँ 'दुधिया' होना चाहता है। कुछ वैयाकरण 'राजपूताना' को 'राजपुताना' बनाने पर तुले हैँ। पश्चिम मेँ खिंचा अर्थात् दीर्घ उच्चारण होता है, अतः उर्दू मेँ उक्त शब्दोँ का रूप वैसा ही चलता है। हिंदी मेँ बोलचाल की निकटता के कारण दूसरे प्रकार के रूप चल पड़े हैँ।

विदेशी शब्द हिंदी मेँ कैसे लिखे जायँ, इसका झगड़ा बहुत

दिनों से चल रहा है। अरबी-फारसी के शब्दों का उच्चारण हिंदी में ज्यों का त्यों नहीं होता। फिर भी उनके विदेशी उच्चारण को जो हिंदी में सुरक्षित रखने के पक्षपाती हैं वे लोगों को मौलाना बनाना चाहते हैं क्या ? याद रखिए कि अनावश्यक लदाव बढ़ने से हिंदी-वाले 'जनाब' को भी 'ज़नाब' बोलने लगेंगे और 'काग़ज़' को भी 'क़ाग़ज़' लिखने लगेंगे। अतः 'क़ ग़ ज़' आदि में नीचे बिंदी का लगना न तो हिंदी की जीभ के अनुकूल है और न कान के, हाथ के अनुकूल चाहे हो। इस पर एक घटना याद आई। कोई मौलाना साहब मिर्जापुर स्टेशन पर डब्बे में से खड़े-खड़े बड़े जोर से 'क़ुली क़ुली' की आवाज लगा रहे थे। 'कुली' बेचारों की आँखें तो दूर से कुछ देख रही थीं, पर उनके कान साथ नहीं दे रहे थे। हिंदी के एक दिवंगत साहित्यज्ञ भी उसी डब्बे में बैठे थे। मौलाना साहब की परेशानी देखकर उन्होंने उनसे कहा कि बड़ा काफ निकालकर पुकारिए तो आपका मतलब हल हो। किसी प्रकार जब उन्होंने बड़ा काफ छोटा किया तब कहीं जाकर सामान डब्बे से बाहर निकलने की नौबत आई। तात्पर्य यह कि कोई भाषा अपनी परिचित ध्वनियों के ही शासन में विदेशी ध्वनियाँ रखती है। 'आहिस्तः', 'हमेशः' आदि में इसी से बहुत दिनों तक नकल नहीं चल सकी, इन्हें हिंदी का 'आकार' ग्रहण करके 'आहिस्ता' और 'हमेशा' होना ही पड़ा। कई शब्दों के दुहरे रूपों का कारण है शुद्ध व्यंजन और अकारयुक्त व्यंजन का ग्रहण। पहले कहा जा चुका है कि हिंदी में 'अ' का विशिष्ट उच्चारण होता है। स्वराघात के कारण केवल व्यंजन या अकारांत व्यंजन में कोई भेद नहीं रह जाता। ऐसे शब्दों के दोनों ही रूप चल तो सकते हैं, पर हिंदी की प्रवृत्ति अकार की ओर ही अधिक है। पुराने 'सर्दार' फैलकर 'सरदार' हो गए, 'दर्बार' भी बढ़कर 'दरबार' हुआ। पर अभी इनकी दशा पर 'बिल्कुल' ने 'बिलकुल' विचार नहीं किया है।

अँगरेजी से आए शब्दों में पहले तो 'स्' 'ट' की संधि संस्कृत के मन से हुई; जैसे, रजिष्ट्री, रजिष्टर, रजिष्ट्रार, मजिष्ट्रेट, माष्टर आदि

में। पर हिंदी में मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण ही नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। इन अँगरेजी शब्दों में भी मूलतः मूर्धन्य उच्चारण नहीं था, अतः ये सब अब दंत्य 'स' से लिखे जाते हैं। अँगरेजी 'ओ' की लघु ध्वनि को हिंदी में 'ॉ' से व्यक्त करने का विधान किया गया है, यद्यपि बोलचाल में वह भी 'आ' ही रह जाती है। पश्चिम में 'कालिज' बोला जाता है; पर अधिकतर लेखक 'कॉलेज' या कोई कोई तो दो सींग लगाकर 'कौलेज' लिखते हैं। यदि ऐसे शब्द हिंदी के हो गए हैं तो इन्हें हिंदी का आकार ही ग्रहण करना चाहिए। 'फॉर्म' बहुत दिनों से 'फार्म' हो गया है, छापेखानों में तो वह 'फर्मा' तक जा पहुँचा। पर 'अँगरेजीदाँ' या 'अँगरेजिहा' लोगों की बदौलत बहुत से चलते शब्दों को 'सुर्खाब का पर' लगा ही हुआ है। 'कॉलिज' या 'कॉलेज' तक तो कोई बात नहीं, पढ़े-लिखों की बोलचाल को वह प्रकट करता है, पर 'कौलेज' तो किसी काम का नहीं।

विदेशी शब्दों के लिखने में 'ऋ' (ृ) का व्यवहार व्यर्थ है, क्योंकि हिंदी में इसका उच्चारण 'रि' है। लिखा तो जाता है 'अमृत' किंतु प्रायः बोला या पढ़ा जाता है 'अंमृत', लिखेंगे 'पितृ' पर उच्चारण करेंगे 'पित्तृ'। कारण यही है कि 'ऋ' से 'रि' हो जाती है अर्थात् ये शब्द 'अम्रित' और 'पित्रि' समझे जाते हैं। संस्कृत से आए शब्दों में तो एकता और परंपरा के विचार से उक्त रूपों का बना रहना ठीक है, पर विदेशी शब्दों में वैसा क्यों हो? 'ब्रिटेन' न लिखकर 'बृटेन' लिखने की क्या आवश्यकता है?

'न्' भी हिंदी के चलन के अनुसार नहीं लिखा जाता। 'सुपरिंटेंडेंट' न लिखकर 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' लिखना भद्दा है, 'सुपरिण्टेण्डेण्ट' को पंडिताऊ ढंग समझिए। जब 'पन्डित' लिखने का चलन नहीं तो निष्कारण 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' क्यों लिखें? हर्ष है कि धीरे धीरे यह पद्धति आप से आप उठती जाती है। अरबी-फारसी के शब्दों से तो यह शैली बहुत कुछ हट गई है। 'मुन्शी' 'या' 'मन्शा' लिखने वाला अब कदाचित् ही कोई मिले, पहले कई थे। 'म्' को 'न्' के ढर्रे से बिंदी

दिनों से चल रहा है। अरबी-फारसी के शब्दों का उच्चारण हिंदी में ज्यों का त्यों नहीं होता। फिर भी उनके विदेशी उच्चारण को जो हिंदी में सुरक्षित रखने के पक्षपाती हैं वे लोगों को मौलाना बनाना चाहते हैं क्या? याद रखिए कि अनावश्यक लदाव बढ़ने से हिंदी-वाले 'जनाब' को भी 'ज़नाब' बोलने लगेंगे और 'काग़ज़' को भी 'क़ाग़ज़' लिखने लगेंगे। अतः 'क़ ग़ ज़' आदि में नीचे बिंदी का लगना न तो हिंदी की जीभ के अनुकूल है और न कान के, हाथ के अनुकूल चाहे हो। इस पर एक घटना याद आई। कोई मौलाना साहब मिर्ज़ापुर स्टेशन पर डब्बे में से खड़े-खड़े बड़े जोर से 'क़ुली क़ुली' की आवाज लगा रहे थे। 'कुली' बेचारों की आँखें तो दूर से कुछ देख रही थीं, पर उनके कान साथ नहीं दे रहे थे। हिंदी के एक दिवंगत साहित्यज्ञ भी उसी डब्बे में बैठे थे। मौलाना साहब की परेशानी देखकर उन्हों ने उनसे कहा कि बड़ा काफ निकालकर पुकारिए तो आपका मतलब हल हो। किसी प्रकार जब उन्हों ने बड़ा काफ छोटा किया तब कहीं जाकर सामान डब्बे से बाहर निकलने की नौबत आई। तात्पर्य यह कि कोई भाषा अपनी परिचित ध्वनियों के ही शासन में विदेशी ध्वनियाँ रखती है। 'आहिस्तः', 'हमेशः' आदि में इसी से बहुत दिनों तक नकल नहीं चल सकी, इन्हें हिंदी का 'आकार' ग्रहण करके 'आहिस्ता' और 'हमेशा' होना ही पड़ा। कई शब्दों के दुहरे रूपों का कारण है शुद्ध व्यंजन और अकारयुक्त व्यंजन का ग्रहण। पहले कहा जा चुका है कि हिंदी में 'अ' का विशिष्ट उच्चारण होता है। स्वराघात के कारण केवल व्यंजन या अकारांत व्यंजन में कोई भेद नहीं रह जाता। ऐसे शब्दों के दोनों ही रूप चल तो सकते हैं, पर हिंदी की प्रवृत्ति अकार की ओर ही अधिक है। पुराने 'सर्दार' फैलकर 'सरदार' हो गए, 'दर्बार' भी बढ़कर 'दरबार' हुआ। पर अभी इनकी दशा पर 'बिल्कुल' ने 'बिलकुल' विचार नहीं किया है।

अँगरेजी से आए शब्दों में पहले तो 'स्' 'ट' की संधि संस्कृत के मन से हुई; जैसे, रजिष्ट्री, रजिष्टर, रजिष्ट्रार, मजिष्ट्रेट, माष्टर आदि

मेँ। पर हिंदी मेँ मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण हो नहीँ है, यह पहले कहा जा चुका है। इन अँगरेजी शब्दोँ मेँ भी मूलतः मूर्धन्य उच्चारण नहीँ था, अतः ये सब अब दंत्य 'स' से लिखे जाते हैँ। अँगरेजी 'ओ' की लघु ध्वनि को हिंदी मेँ 'ॉ' से व्यक्त करने का विधान किया गया है, यद्यपि बोलचाल मेँ वह भी 'आ' ही रह जाती है। पश्चिम मेँ 'कालिज' बोला जाता है; पर अधिकतर लेखक 'कॉलेज' या कोई कोई तो दो सीँग लगाकर 'कौलेज' लिखते हैँ। यदि ऐसे शब्द हिंदी के हो गए हैँ तो इन्हेँ हिंदी का आकार ही ग्रहण करना चाहिए। 'फॉर्म' बहुत दिनोँ से 'फार्म' हो गया है, छापेखानोँ मेँ तो वह 'फर्मा' तक जा पहुँचा। पर 'अँगरेजीदाँ' या 'अँगरेजिहा' लोगोँ की बदौलत बहुत से चलते शब्दोँ को 'सुर्खाब का पर' लगा ही हुआ है। 'कॉलेज' या 'कॉलिज' तक तो कोई बात नहीँ, पढ़े-लिखोँ की बोलचाल को वह प्रकट करता है, पर 'कौलेज' तो किसी काम का नहीँ।

विदेशी शब्दोँ के लिखने मेँ 'ऋ' (ृ) का व्यवहार व्यर्थ है, क्योँकि हिंदी मेँ इसका उच्चारण 'रि' है। लिखा तो जाता है 'अमृत' किंतु प्रायः बोला या पढ़ा जाता है 'अंमृत', लिखेँगे 'पितृ' पर उच्चारण करेँगे 'पित्तृ'। कारण यही है कि 'ऋ' से 'रि' हो जाती है अर्थात् ये शब्द 'अम्रित' और 'पित्रि' समझे जाते हैँ। संस्कृत से आए शब्दोँ मेँ तो एकता और परंपरा के विचार से उक्त रूपोँ का बना रहना ठीक है, पर विदेशी शब्दोँ मेँ वैसा क्योँ हो? 'ब्रिटेन' न लिख-कर 'बृटेन' लिखने की क्या आवश्यकता है?

'न्' भी हिंदी के चलन के अनुसार नहीँ लिखा जाता। 'सुपरिं-टेंडेंट' न लिखकर 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' लिखना भद्दा है, 'सुपरिण्टेण्डेण्ट' को पंडिताऊ ढंग समझिए। जब 'पन्डित' लिखने का चलन नहीँ तो निष्कारण 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' क्योँ लिखेँ? हर्ष है कि धीरे धीरे यह पद्धति आप से आप उठती जाती है। अरबी-फारसी के शब्दोँ से तो यह शैली बहुत कुछ हट गई है। 'मुन्शी' 'या' 'मन्शा लिखने वाला अब कदाचित् ही कोई मिले, पहले कई थे। 'म्' को 'न्' के ढर्रे से बिंदी

द्वारा सर्वत्र नहीं लिख सकते। 'य' के पूर्व 'म्' के बदले अनुस्वार लगाने से ध्वनि में भेद हो जायगा। 'ण्' 'न्' 'म्' के पीछे उसकी जैसी ध्वनि होती है पूर्वस्थित अनुस्वार के साथ उससे एकदम पृथक्। 'पुण्य' को 'पुंय', 'कन्या' को 'कंया' और 'रम्य' को 'रंय' लिख दें तो इन्हें 'पुञ्ञ' या 'पुञ्य', 'कञ्ञा' या 'कञ्या' और 'रञ्ञ' या 'रञ्य' सा पढ़ना पड़ेगा। अतः विदेशी 'कम्युनिक' को 'कंयुनिक' नहीं लिख सकते। जहाँ शुद्ध 'म्' उच्चारण हो वहाँ अनुस्वार की बिंदी नहीं लग सकती, क्योंकि हिंदी में उसका उच्चारण 'न्' होगा। 'मम्स' (गलसुआ का रोग) को 'मंस' लिखने से 'मन्स' पढ़ना पड़ेगा। अरबी 'शम्स' (सूर्य) को 'शंस' लिखकर 'शन्स' बोलना होगा। जहाँ दुहरा 'म' आता है वहाँ बिंदी लगाकर भी लिख सकते हैं— हम्मीर या हंमीर, पर प्रचलन दुहरे 'म्' का ही है; जैसे, संमति, संमान आदि लिख सकते हैं, पर लिखते नहीं। अतः 'मुहम्मद' को मुहंमद तो लिख सकते हैं, पर लिखते नहीं।

कुछ विदेशी नामों के उच्चारण-भेद के कारण कई रूप चलते हैं। सबसे अधिक दुर्दशा 'यूरोप' की हुई है। हिंदी-लेखकों के चक्कर में पड़कर योरप, यूरप, युरोप, योरोप, यूरुप, योरुप, योरूप आदि उसको अनेक रूप धारण करने पड़े। अमेरिका और अमरीका दो ही रूप हुए तो अफ्रिका, अफ्रीका, अफरीका ये तीन। इनमें से ग्राह्य रूप के लिए विदेशी ध्वनि की निकटता का ही विचार सब कुछ नहीं हो सकता। जिस रूप के लेने से अन्य रूप चलाए जा सकें वही अनुकूल होगा। हिंदी में पहले 'अमरीका' चलता था, उर्दू में अब भी चलता है, पर इधर बहुत दिनों से वही 'अमेरिका' हो गया। विदेशी उच्चारण की निकटता ही इसका कारण नहीं, इस नाम से बने विदेशी विशेषण की निकटता भी इसका हेतु है। 'अमेरिकन' शब्द लाने के सुभीते ने भी ऐसा कराया है। उर्दूवाले 'अमरीकी' लिखते हैं, पर हिंदीवालों के लिए 'अमेरिकी' चौंकानेवाला होगा। विदेशी 'अन्' प्रत्यय की दासता खटकने योग्य है। लोग 'इटली' से 'इटाली' लिखना

छोड़ बैठे, 'इटैलियन' चल पड़ा। भाषासंबंधी यह दासता दूसरी किसी भी दासता से भयंकर है। कोई विदेशी नाम लेकर और उसमें अपने प्रत्यय लगाकर विशेषण आदि बनाने को जब तक स्वतंत्रता न स्वीकृत होगी तब तक भाषा विदेशी प्रत्ययों की अनावश्यक बेड़ी से जकड़ती ही जायगी। हिंदी को दासता की यह बेड़ी पहनानेवाले समाचार-पत्र और मासिक पत्र हैं, जो शीघ्र से शीघ्र अँगरेजी का अनुवाद करके काम चलता कर देते हैं। इन्हीं के बुलाने से विदेशी प्रत्यययुक्त विशेषण एक पर एक चले आ रहे हैं, ब्रिटिश के बाद फिनिश, पोलिश, स्वीडिश, स्काचिश आदि चुपचाप चले आए। 'अन' और 'इश' के साथ 'इक' तो आया ही, 'टिक' भी 'टिकटिक' करता आ पहुँचा। गाथिक, बोलशेविक, एशियाटिक यहाँ तक कि बलियाटिक भी लिखने लगे। 'फिनिश' के बदले 'फिनी' क्यों न लिखा जाय ? 'एशियाटिक' को 'एशियाई' बनाए रखने में क्या हानि है ? विदेशी प्रत्ययों को तो एक ओर जिला रहे हैं, दूसरी ओर देशी प्रत्ययों को मार रहे हैं। इधर 'वाला' का ऐसा बोलबाला हुआ कि न जाने उसके कितने भाई मारे गए। स्थानवाचक 'इया' कहाँ दिखाई देता है ? कनपुरिया, कलकतिया, मथुरिया कौन लिखता है ? कानपुरवाले, कलकत्तेवाले, मथुरावाले ही सामने आते हैं, पंडिताऊ ढंग से 'वासी' को चिपकाकर बने कानपुरवासी, कलकत्तावासी, मथुरावासी भी दिखाई दे जाते हैं। 'वाला' और 'वासी' के बड़ेपन से घबराकर कदाचित् कुछ छोटे सीधे-सादे विदेशी प्रत्यययुक्त विशेषण रख दिए जाते हैं। अगर और कोई रास्ता नहीं है तो 'छुटाई' को छोड़कर 'बड़ाई' की ओर जाने में क्या बुराई है ? अतिप्रसंग हो गया! 'लिपि' की सीमा पार करके 'व्याकरण' के घर में घुसना पड़ा!

'हिंदी में कारक-चिह्न शब्द से मिलाकर लिखे जायँ या अलग' इस प्रश्न को लेकर बहुत अधिक शास्त्रार्थ हो चुका है। जो लोग इन्हें मिलाकर लिखने के पक्ष में थे उनका कहना था कि ये चिह्न विभक्तियों से विकसित हुए हैं, अतः इन्हें पद का अविभक्त अंग मानना चाहिए।

कर्ता के साथ लगनेवाला 'ने' संस्कृत की तृतीया विभक्ति के 'ना' या 'एन' से निकला है। कर्म और संप्रदान का 'को' 'अम्हाकं, तुम्हाकं' के 'कं' से 'को' होकर चला है, 'कक्ष' से इसका कोई संबंध नहीँ। करण और अपादान का 'से' प्राकृत 'सुंतो' का पुत्र है, 'सम' या 'सह' का भाई-भतीजा नहीँ। संबंध के चिह्न का, की, के प्राकृत की 'ह' विभक्ति से निकले हैँ,[१] 'कृत', से नहीँ। अधिकरण का 'मैँ' संस्कृत के 'स्मिन्' (सर्वनाम का) से प्राकृत मैँ 'म्मि' होकर बना है, 'मध्य' से नहीँ। उक्त मत का प्रभाव कलकत्ते पर पूर्णतः और हिंदी के समाचार-पत्रोँ पर अंशतः अब भी वर्तमान है। चिह्नोँ को पृथक् लिखनेवाले अपने मत के आग्रह से सर्वत्र इन्हेँ पृथक् ही लिखने के पक्षपाती होँ सो नहीँ। क्योँ कि अधिकतर सर्वनामोँ मैँ वे चिह्नोँ को मिलाकर ही लिखते हैँ; जैसे 'इसने' 'उसने' मैँ। पर 'ही' अव्यय का घिसा 'ई' रूप जब प्रकृति और प्रत्यय के बीच मैँ आ जाता है तो चिह्न को पृथक् कर देते हैँ; जैसे, 'इसी ने', 'उसी ने', 'किसी ने' आदि मैँ।

अव्ययोँ मैँ जहाँ दो शब्द आते हैँ वहाँ भी प्रश्न होता है कि उन्हेँ सटाकर लिखा जाय या हटाकर। हिंदी मैँ दोनोँ पद्धतियोँ से लिखने-वाले हैँ। कोई 'इसलिए' लिखता है तो कोई 'इस लिए', कोई 'इसीलिए' लिखता है तो कोई 'इसी लिए'। हिंदी मैँ पहले संस्कृत का 'अतः+एव' अलग अलग 'अत एव' लिखा जाता था, पर अब 'अतएव' मिलाकर ही लिखा जाता है। वस्तुतः अव्यय मैँ शब्दोँ को पृथक् लिखने

---

१. देखिए पंडित गोविंदनारायण मिश्र कृत 'विभक्ति-विचार'। वस्तुतः षष्ठी के संबंध मैँ मिश्रजी का मत ग्राह्य नहीँ है। 'का, की, के' का विकास प्राकृत की 'केरओ' विभक्ति से ही हुआ है। यह संस्कृत 'कृत' से ही निकली जान पड़ती है। शब्द के साथ तो इसका प्रयोग होता ही है, स्वतंत्र पद के रूप मैँ भी इसका व्यवहार होता है। तस्स केरओ (चारुदत्त), अज्जस्स केरओ (मृच्छकटिक)। कुछ लोग संस्कृत के संबंधबोधक 'क' प्रत्यय से उक्त चिह्नोँ का संबंध जोड़ते हैँ।

की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अव्यय तो बना-बनाया एक ही शब्द होता है। संस्कृत में 'न हि' को 'नहि' रूप में भी मिलाकर लिखते ही हैं, जिसका बेटा 'नहीं' हिंदी में न जाने कब से भेदभाव छोड़ बैठा है।

वाक्य में कुछ प्रत्यय ऐसे भी होते हैं जो संबंध तो कई शब्दों से रखते हैं, पर आते हैं एक ही बार। ये जब एक ही शब्द के साथ आते हैं तब इन्हें मिलाकर लिखने की परिपाटी है, पर वाक्य में कई के साथ जुड़नेवाले होकर भी प्रायः अंतिम शब्द के साथ जोड़कर लिखे जाते हैं, पृथक् नहीं; जैसे, 'वाला' प्रत्यय को लीजिए। 'गाड़ीवाला', 'बैलवाला' आदि मिले हैं। 'ईंट, पत्थर, लकड़ी और चूनेवालों को बुलाइए' में 'वालों' का संबंध सभी से है। 'चूनेवालों' में इसका जुड़ा होना ठीक नहीं, पर यह बहुधा जुड़ा रहता है। ऐसे अवसरों पर पृथक् लिखना ही अच्छा और ठीक जान पड़ता है। हिंदी की प्रवृत्ति व्यवहिति की ओर है इसका यह भी प्रमाण है।

यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि हिंदी लिखने-पढ़नेवालों को इसे लिखने-पढ़ने की भाषा समझकर ही लिखना-पढ़ना चाहिए। साथ ही लिखते-पढ़ते समय सदा यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हिंदी 'हिंदी' है; न संस्कृत, न अरबी, न फारसी और न अँगरेजी। उर्दूवालों की नकल भी इसके लिए ठीक नहीं, जो धर्मशाला, दुविधा आदि को हिंदी की प्रवृत्ति के विरुद्ध पुंलिंग में ही लिखते हैं। फिर भी अंत में इतना कह देना आवश्यक है कि हिंदी का संस्कृत की ओर झुकना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी है। प्रांतीय भाषाएँ जब संस्कृत की ओर जा रही हैं तो 'हिंदी' को उसकी ओर बढ़ना ही चाहिए, भले ही संबंध का अतिरेक वांछनीय न हो, पर उससे 'संबंध' ही नहीं 'सुसंबंध' बनाए रखना अनिवार्य है।

विराम-चिह्न

हिंदी में विराम-चिह्नों का प्रयोग अँगरेजी से आया है। इनके

व्यवहार से सुबोधता अवश्य आती है, पर इनका अतिरेक नहीं होना चाहिए। इधर कहानियों और नई रंगत की कविताओं में इनका अनावश्यक प्रयोग खटकने योग्य है। अँगरेजी के उद्‌गारबोधक चिह्न (एक्सक्लेमेशन '!') की बड़ी दुर्दशा है। विज्ञापनबाजों की नकल पर एक के स्थान पर दो दो, तीन तीन चिह्न व्यर्थ ही लगाए जाते हैं। 'चिह्न' तो केवल रचना से संबंध रखते हैं, भाषा से नहीं, अतः उनकी भरमार बुरी है। पूर्वोक्त चिह्न का प्रयोग हिंदी में 'संबोधन' में भी होने लगा है। अँगरेजी में ऐसी स्थिति में 'अल्पविराम' (कामा ',') का ही प्रयोग होता है। पुरानी कविताओं में इस चिह्न का व्यवहार करने से अल्पविराम की अपेक्षा कुछ सुभीता अवश्य है। अल्पविराम से किसी स्थल पर काम न चले तो उद्गारबोधक चिह्न को व्यवहार-बहुलता के कारण केवल 'संबोधन' में स्वीकृत कर लेना, यदि वैयाकरणों को कोई विशेष आपत्ति न हो तो, बुरा नहीं है।

प्रश्नवाचक चिह्न ('?') का प्रयोग सर्वत्र आवश्यक नहीं है। यदि जिज्ञासाबोधक शब्दों का प्रयोग वाक्य में हो तो खड़ी पाई (पूर्ण-विराम '।') से ही काम चल सकता है। 'क्या, क्यों, कैसे' आदि शब्द प्रश्नवाचक होते ही हैं, प्रश्न का चिह्न लगाएँ, चाहे न लगाएँ, इनके कारण प्रश्न का बोध होने में कठिनाई नहीं होती। फिर भी यदि प्रचलन के विचार से चिह्न लगे तो लगे। किंतु आज्ञा के रूप में प्रश्न होने पर भी जब यह चिह्न लगता है तो बहुत खटकता है; जैसे, 'सुमित्रानंदन पंत की काव्यगत विशेषताएँ बताइए?' में। जब कोई प्रश्नवाचक उपवाक्य किसी अप्रश्नवाचक प्रधान वाक्य का अंग होकर आता है तब तो इसका प्रयोग और भी भद्दा होता है; जैसे 'भरत ने कहा कि लोग क्या मुझे निर्दोष समझेंगे?' में।

हिंदी में पूर्णविराम का चिह्न खड़ी पाई ही है। इसके बदले 'वाक्यविराम' (फुलस्टाप '.') का प्रयोग नहीं करना चाहिए। 'वाक्य-विराम' के चिह्न का प्रयोग जो प्रतीकों के बाद होता है वह भी ठीक नहीं। इसके लिए हिंदी का 'शून्य' (०) ही ठीक है। 'पंडित' के

स्थान पर 'पं०' ही लिखना चाहिए, 'पं.' नहीं। 'एम० ए०' के बदले 'एम. ए.' बहुत लिखा जाता है। एक तो 'एम० ए०' आदि प्रतीकों का चलना ही गड़बड़झाले का है, क्योंकि हिंदी में इनके पूर्ण रूप का व्यवहार ही नहीं होता और यदि हो भी तो 'मास्टर आव् आर्ट्स' का संक्षिप्त रूप या प्रतीक 'मा० आ०' होगा। इतने पर भी तुर्रा यह कि पहले से प्रचलित चिह्न को छोड़कर दूसरा फालतू चिह्न लगाते हैं। उपाधियों का ऐसा संक्षिप्त रूप व्यवहार की अधिकता से लोगों को चाहे न खटके, पर नामों को भी अँगरेजी कैंड़े से संक्षिप्त बनाकर लिखना बहुत खटकता है। ऐसे नामों के लिखने के कुछ हेतु भी हैं। कुछ लोग शान-शौकत जतलाने के लिए ऐसा करते हैं तो कुछ लोग, जैसे दक्षिणी, लंबे नामों के कारण। उत्तर में बहुत से लोग इस रीति से अपना भद्दा नाम छिपाते हैं। किन्हीं सज्जन का नाम 'घुरहूराम' था। पढ़-लिख लेने पर उन्हें अपना नाम अपरिष्कृत दिखाई पड़ा। वे अपने को 'जी० आर०' की ढाल में छिपाने लगे। जब इस ढाल से भी रक्षा न हो सकी तो उन्होंने नाम की ही परिशुद्धि की, वे 'गुरुराम' बन गए। अतिप्रसंग हो जाने से इसे यहीं छोड़कर 'खड़ी पाई' पर आना चाहिए। शीर्षकों में खड़ी पाई का व्यवहार व्यर्थ है; 'उद्गारबोधक' या 'प्रश्नवाचक' का व्यवहार हो सकता है। नई शैली से अब तो कोई प्रसंगोपयोगी नाम न मिलने पर उद्गार या प्रश्न अथवा अभाव व्यक्त करने के लिए बिना किसी शब्द के भी शीर्षक में कभी-कभी ये चिह्नमात्र रख दिए जाते हैं।

अर्धविराम का चिह्न (समीकोलन ';') तो ठीक है, पर अंगता-सूचक चिह्न (कोलन ':') का व्यवहार हिंदी में भ्रामक है। विसर्ग से मिलता होने से इसका प्रयोग वांछनीय नहीं। अल्पविराम (कामा ',') का व्यवहार हिंदी में बहुत अधिक होने लगा है। संबंधवाचक सर्वनाम के पूर्व इसका प्रयोग व्यर्थ ही होता है; जैसे, 'उस रचना से हमारा क्या लाभ, जो हमारी संस्कृति का ह्रास करनेवाली हो' में 'जो' के पूर्व। उद्धरण-चिह्न (इंवर्टेड कामाज) में कहीं तो इकहरे (' ') और

कहीं दुहरे (" ") चिह्नों का व्यवहार होता है। इकहरे चिह्नों के प्रयोग से स्थान और श्रम की बचत के अतिरिक्त 'कला की दृष्टि' से सुंदरता भी है। अतः अल्पांशों के उद्धरण या किसी शब्द की विशेषता का बोध कराने के लिए इकहरे चिह्नों का प्रयोग बुरा नहीं है। बड़े उद्धरणों में दुहरे चिह्न लगें। लोप की सूचना के लिए अल्पविराम का सा चिह्न (एपोस्ट्रॉफी') ऊपर लगने लगा है; जैसे, औ' (और), य' (यह), '९९ (१९९९) आदि। यह बहुत आवश्यक चिह्न नहीं है।

निर्देशक (डैश '—') का प्रयोग भी बहुत अधिक होने लगा है। मध्यग उपवाक्य के आगे-पीछे अल्पविराम के बदले निर्देशक का व्यवहार करते हैं, जो ठीक नहीं प्रतीत होता। सबसे ध्यान देने योग्य योजिका या समास-चिह्न (हाइफन ' - ') है। समस्त पदों में से इसका व्यवहार द्वंद्व और तत्पुरुष समासों में यथास्थान ठीक ही है, पर प्रत्ययों या प्रत्ययवत् प्रयुक्त शब्दों के पूर्व योजिका का लगना व्यर्थ ही नहीं, अशुद्ध भी समझा जाना चाहिए; जैसे, मही-धर, विचार-शील, प्रेम-भाव, विद्या रहित, कर्म-हीन, इंद्रिय-गण, अर्थ-बोधक, प्रश्न-वाचक, गति-सूचक आदि में। वस्तुतः चिह्न का प्रयोग तभी हो जब कोई विशेष प्रयोजन हो ; जैसे, भ्रांति-निवारण के लिए, विशेष स्थिति का भाव व्यक्त करने के लिए और सुबोधता लाने के लिए। 'ऐसा' के लघुरूप 'सा' के पूर्व भी योजिका लगने लगी है ; जैसे, 'राम सा पुत्र, सीता-सी पुत्री और भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न-से भाई सबके हों' में। विशेषणों और कृदंतों में भी 'सा, सी, से' के पूर्व योजिका लगती है; जैसे, 'कोई छोटी-सी कविता भेजिए, काम चलता-सा कर दिया, गला-सा आम क्यों लाए' आदि में। प्रश्न होता है कि क्या बिना योजिका के ऐसे स्थलों पर काम नहीं चल सकता। द्विरुक्त शब्दों अर्थात् 'दो दो, तीन-तीन, और-और, अच्छा-अच्छा' में जो योजिका लगती है सो तो लगती ही है, इसी की नकल पर क्रियाओं (उठ-उठ, बैठ-बैठ' आदि) में भी लगने लगी और अब अव्ययों तक में जा घुसी; जैसे, 'दिन-दिन', 'रात-रात' आदि में। विस्मयादिबोधक पदों में भी कुछ लोग

इसे जोड़ने लगे हैं ; जैसे, 'राम-राम, धन्य-धन्य !' आदि में। 'शिव शिव' यहाँ इसकी क्या आवश्यकता थी !

विचार करने के लिए यों तो और भी बहुतेरे 'चिह्न' हैं और जिन पर विचार किया गया है उन्हीं पर और भी बहुत सा विचार हो सकता है, पर स्थालीपुलाक-न्याय से पूर्वोक्त थोड़ा-सा ही विचार करके निवेदन यही करना है कि भाषा की प्रवृत्ति, प्रयोजनीयता और आवश्यकता के आग्रह से ही 'विराम-चिह्नों' का प्रयोग करना चाहिए। चिह्नों का पर्याप्त व्यवहार किया जाय, पर उनकी प्रदर्शनी न हो। रचना में विराम-चिह्नों' का 'कुछ' ही नहीं 'बहुत कुछ' तक महत्त्व तो स्वीकृत हो सकता है, पर उन्हें ही 'सब कुछ' नहीं माना जा सकता।

उपसंहार

इस प्रकार हिंदी-वाङ्मय के एक सहस्र वर्षों की दीर्घकालीन परंपरा का थोड़े में सिंहावलोकन, उसके काव्य और शास्त्र दोनों पक्षों का अति संक्षिप्त दिग्दर्शन, उसकी शाखा-प्रशाखाओं का सुबोध विवेचन, उसमें दृष्टिगोचर होनेवाली देशी-विदेशी प्रवृत्तियों का निरूपण और उसमें सुरक्षित भारतीय संस्कृति का निदर्शन करते-कराते इस निष्कर्ष पर सुगमतापूर्वक पहुँचा जा सकता है कि हिंदी का विकास बहुत ही स्वाभाविक रूप में होता आ रहा है, इसका संवर्धन करनेवाले कवि और मनीषी इसे बहुत ही विस्तृत और सर्वजनसुलभ राजमार्ग से लेकर बढ़ते चले आ रहे हैं. इसकी समृद्धि इसे परिपूर्ण, संपन्न और स्वच्छंद प्रमाणित कर रही है। इसमें संग्रह और त्याग का उचित विवेक है और इसमें भारत की संस्कृति अपने सच्चे रूप में सुरक्षित है। ऐसा वाङ्मय और ऐसी भाषा, जो सर्वभारतीय प्रवृत्ति, रुचि और संस्कृति का वहन करनेवाली हो, प्रत्येक भारतीय के लिए गर्व करने योग्य है। इसका जिसे अभिमान न हो, इसके संमान का जो ध्यान न रखे, इसके ज्ञान से जान बूझकर जो पराङ्मुख रहे और इसका विवर्धन करने से जो विमुख हो वह सचमुच 'भारतीय' कहाने योग्य नहीं, उसकी बुद्धि अवश्य विकारग्रस्त है, उसका हृदय निश्चय ही मर गया है और वह वस्तुतः अभागा है। उसे 'भारती' के मंदिर में आने का अधिकार नहीं। संतोष यही है कि भारती के सच्चे पुजारी, नीरक्षीर-विवेकी हंस, हिंदी के हित को ही कल्याण का मार्ग समझते हैं।

अनुक्रमणिका

१—ग्रंथकार

२–ग्रंथ